प्रवचन पाथेय

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रवचन पाथेय-८

जैन सिद्धान्त दीपिका : प्रथम दो प्रकाश के व्याख्यापरक प्रवचन । सन् १९७८

आचार्य तुलसी

संपादक
मुनि धर्मरुचि

द्वितीय संशोधित/परिवर्धित संस्करण : अगस्त, १९९२
वीर निर्वाण वर्ष २५१८

मूल्य : पचीस रुपये/प्रकाशक : जैन विश्व भारती, लाडनूं, नागौर (राज०)
मुद्रक : मित्र परिषद्, कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं ३४१३०६ ।

PRAVACHAN PATHEY
Acharya Tulsi

Rs. 25.00

स्वकथ्य

प्रवचन करना एक कला है तो उनका संकलन-संपादन करना भी एक कला है। दोनों कलाओ की स्वतत्र सत्ता है और स्वतंत्र महत्त्व है। कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता है कि प्रवचन करने मे जितना समय और श्रम लगता है, उन्हे लिखने एवं सपादित करने मे उससे कही अधिक समय और अधिक श्रम लग जाता है। हमारे धर्मसघ के साधु-सध्वियां श्रमशील है। श्रम-निष्ठा के सस्कार उन्हे विरासत मे प्राप्त हुए हैं। वे अपने लिए जितना श्रम करते है, उससे भी अधिक श्रम धर्मसघ की सेवा मे समर्पित करते है। वे स्वय उजागर न होकर धर्मसंघ को उजागर करना चाहते हैं। वे निरन्तर काम करते हुए भी उसे गुरु की कृपा का अवदान मानकर चलते है। वे अपने जीवन मे जहां-कही सफलता का वरण करते है, उसे गुरु की शक्ति का सुफल मानते है। यही कारण है कि हमारा धर्मसघ सदा उदितोदित रहता है। जव तक हमारे साधु-साध्वियो मे श्रद्धा, समर्पण और सेवा के सस्कार घनीभूत रहेगे, धर्मसंघ के वहुआयामी विकास के पग रुकेंगे नही।

धर्मसंघ का अचार्य होने के नाते प्रवचन करना मेरी दिनचर्या का एक अभिन्न अंग वन गया। कई वार दिन मे दो-चार वार प्रवचन करने का अवसर मिल जाता है। एक वार तो प्राय वोलना ही होता है। 'प्रवचन' मेरी हॉवी नही है। इसी प्रकार इस क्षेत्र मे मेरी अरुचि भी नही है। जव जैसी जनता सामने होती है, मैं अपने प्रवचन का विषय और शैली—दोनो वदल लेता हूं। कभी-कभी मुझे ऐसा लगता कि मेरी वात सुनकर श्रोताओ को कोई दिशा मिल रही है। और कभी-कभी मैं स्वय वोलता-वोलता आत्मविभोर हो जाता हूं। कभी-कभार ऐसा भी प्रसंग आता है, जव मैं पूरे मन से नही वोलता हू। पर वहुत वार ऐसा होता है कि प्रवचन करने मे मुझे अतिरिक्त आत्मतोष मिलता है। जिस समय मै ग्रामीण लोगो के वीच में वैठता हू, उनकी समस्याए सुनता हू, उन्हें व्यसन-मुक्त और रूढ़ि-मुक्त होने की प्रेरणा देता हूं और वे मेरी छोटी-से-छोटी सलाह को वड़े प्रेम से स्वीकार करते है, शराव-तम्वाकू आदि नशीली वस्तुओं को छोडते हैं, सामाजिक कुप्रथाओ को छोड़ते है और अपनी सादगीपूर्ण भक्ति-भावना से मेरे दिल मे स्थान वना लेते है, उस समय मैं अभिभूत हो जाता हूं। ऐसे भोले-भाले, सीधे-सादे लोगों के वीच दो-दो घंटे लगातार वोलने पर भी मैं थकान अनुभव नही करता।

गांवों की तरह मैं शहरों में जाता हूं, रहता हूं। वहां की प्रबुद्ध जनता संपर्क में आती है। उसके साथ मानवीय और राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में चर्चा करता हूं। उस समय भी मुझे बड़ा अच्छा लगता है। विद्वान् लोगों की परिषद् मे दार्शनिक और मानवीय दृष्टि का विश्लेषण करते समय मैं स्वयं को भूल-सा जाता हू।

गांवों और शहरो में दिए गए मेरे प्रवचनों को संकलित-संपादित करने का सिलसिला यदा-कदा शुरु होता है, तब मुझे लगता है कि इनका क्या उपयोग होगा ? किन्तु जब वे मुद्रित होकर सामने आते है, तब ऐसी प्रतीति होती है कि जन-साधारण के लिए प्रवचन-साहित्य का जितना उपयोग है, दार्शनिक और सैद्धान्तिक साहित्य का उतना नही है। इसी कारण इस काम मे रुचि रखनेवाले साधु-साध्वियों को मैं प्रोत्साहित करता रहता हूं। मुनि धर्मरुचि भी अभिरुचिसम्पन्न साधु है। शारीरिक दृष्टि से कुछ कठिनाई रहने पर भी वह जिस काम मे लग जाता है, उसे पूरे मन से करता है। 'प्रवचन पाथेय' का यह आठवां भाग सन् १९७८ मे गंगाशहर-प्रवास के समय दिए गए प्रवचनों का एक संकलन है। उस समय लिखे गए प्रवचनो का, उसने इस वर्ष पुन: निरीक्षण कर, पठनीय सामाग्री के रूप मे प्रस्तुतीकरण कर दिया। यह प्रस्तुति पाठकों को सोचने और समझने की गहरी प्रेरणा दे, यही अभीष्ट है।

बीदासर
५ जनवरी १९८९

आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

आचार्यश्री तुलसी एक अमर गाथा हैं— युग-सृजन की। प्रवल प्रेरणा हैं—जीवन-जागरण की। लाखो-लाखो लोग जहा उन्हें एक जैन मुनि के रूप में जानते हैं, तेरापथ-के नवमाधिशास्ता के रूप मे पहचानते हैं, वहा करोडों-करोडों व्यक्तियो की नजरो मे उनका व्यक्तित्व एक मानव-धर्म/जन-धर्म के प्रवर्तक के रूप मे उभरा है। निम्सदेह, वे एक सम्प्रदायविशेप से अनुवधित/संवधित हैं परन्तु उनका दृष्टिकोण सकीर्ण नही है, वहुत व्यापक है। मपूर्ण मानवजाति के उदितोदित भविष्य के प्रति वे अत्यत सवेदनशील हैं। इमलिए व्यक्तिगत से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक की हर समस्या के सदर्भ मे वे सोचते है और उसे समाहित करते है। उनके इस समाधान ने जन-जन को यथार्थ के धरातल पर सोच-समझ का एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है।

जैन-दर्शन मे सम्यग्दृष्टि का सर्वाधिक महत्त्व है। जव तक व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् नही वनता, तव तक उसका ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है। उसका व्रत भी अव्रत ही होता है। दृष्टिकोण के मिथ्यात्व के कारण उसका आचरण भी सम्यक कव बन पाता है? इसलिए जीवन-विकास की प्राथमिक अपेक्षा है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो। प्रकारान्तर से हम ऐसा भी कह सकते है कि सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति मुक्ति का प्रवेश-द्वार है। मानना चाहिए, जिसने सम्यग्दृष्टि को प्राप्त कर लिया, सोच-समझ की यथार्थता पा ली, उसने एक दृष्टि से सव कुछ प्राप्त कर लिया।

प्रवचन करना आचार्यश्री की जीवनचर्या का एक अग है। उनको सुनने के लिए तेरापथी और जैन आते है, तो अजैन भी आते है। पुरुप आते है, तो महिलाए और वच्चे भी आते हैं। महाजन आते हैं, तो हरिजन भी आते है। आस्तिक आते है, तो नास्तिक और कम्यूनिस्ट भी आते हैं। साहित्यकार, वकील, न्यायाधीश, डॉक्टर, इजीनियर आदि प्रवुद्ध-वर्ग के लोग आते है, तो गावो के अनपढ किसान और जगलो मे रहनेवाले आदिवासी भी आते हैं। परन्तु वे भीड के रूप मे केवल इकट्ठे ही नही होते, ग्रहणशील मानस से मत्रमुग्ध वन उनके शव्द-शव्द को सुनते भी है। तव घटित होता है— एक आश्चर्य! एक चमत्कार!! मैंने साक्षात् देखा है, कम्यूनिस्ट एवं नास्तिको को सहमा आस्तिक वनते हुए। मैने देखा है, धर्म को रूढि और दकियानूसी विचार समझनेवालो द्वारा उसे जीवन की शाति और आनद के लिए एक अनिवार्य अपेक्षा एव निर्विकल्प साधन के रूप मे स्वीकार किए जाते हुए।

देखा है मैंने वर्षों से पी जानेवाली चिलमों को फोड़ी जाते हुए, बीड़ी-सिगरेट के बंडलों व पॉकेटों को फेंके जाते हुए। मैंने देखा है, सवर्ण हिन्दुओं द्वारा अस्पृश्यता को मानवजाति का कलंक मान उसे सदा-सदा के लिए विदा कर एक हरिजन भाई को सगे भाई की तरह गले लगाए जाते हुए। मैंने देखा है, बड़े-से-बड़े सामाजिक प्रतिबन्ध एवं कानून जहां असफल रहे, वहां आचार्यश्री के चन्द शब्दों ने बड़े-बड़े अपराधियों के दिल और दिमाग को प्रायश्चित्त की भूमिका पर रूपान्तरित कर दिया। परिणामतः अपने अभिशप्त जीवन से ऊपर उठकर एक आदर्श नागरिक का जीवन जीने के लिए संकल्पबद्ध होते हुए मैंने उन्हें देखा है।....

ऐसा क्यों होता है ? निश्चय ही आचार्यश्री का प्रवचन-कौशल अनूठा है। उनकी अभिव्यक्ति अजब-गजब की है। परन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रवचन में मात्र आचार्यश्री के शब्द ही भाषायित नहीं होते, अपितु उनका स्वयं का जीवन बोलता है। उनकी साधना बोलती है। उनकी आत्मा बोलती है। और जहां व्यक्ति का जीवन बोलता है, साधना बोलती है, आत्मा बोलती है, वहां शब्द मात्र शब्द ही नहीं रहते, शक्ति बन जाते हैं। उनमें एक गुरुत्वाकर्षण पैदा हो जाता है। व्यक्ति के हृदय को छूने की अर्हता उद्भूत हो जाती है। ऐसे एक-एक क्षण को, एक-एक दृश्य को और उन जादुई शब्दों को लिपिबद्ध गुम्फित किया जा सके— यह कितनी सुखद कल्पना है ! पर यह जितनी सुखद है, उतनी सहज कहां ? कोई कुशल साहित्य-शिल्पी ही ऐसा कर सकता है। मैं तो साहित्य की प्रथम कक्षा का एक विद्यार्थी मात्र हूं। अभी बिलकुल प्राथमिक ज्ञान—क, ख, ग.... ही सीख रहा हूं। फिर यह प्रयास/साहस मैंने क्यों किया ? कैसे किया ?

२० जुलाई, १९७७ [वि० सं० २०३४] की वह सन्ध्या। भिक्षु-विहार—जैन विश्व भारती का वह दक्षिणाभिमुख बरामदा। प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं पूज्य गुरुदेव के श्रीचरणों में उपस्थित हुआ। चरण-वंदन कर ज्योंही मैं उठने की तैयारी में था, आचार्यवर ने बिना किसी पूर्व भूमिका के निदेश की भाषा में फरमाया—'कल से तुम्हें प्रातःकालीन प्रवचनों का संकलन करना है।' अपनी अक्षमता को देखता हुआ मेरा आत्म-विश्वास सहसा इस दायित्व को ओढ़ने की स्वीकृति नहीं दे पाया। पर साथ ही गुरुदेव के निदेश को अस्वीकार करने की भी मेरी मानसिकता नहीं थी। तत्काल चिंतन आया—जब गुरुदेव का आशीर्वाद मेरे साथ है, फिर मैं क्षमता-अक्षमता की चिंता क्यों करूं ?

बस, दूसरे दिन से प्रवचन-संकलन का कार्य प्रारम्भ हो गया। अभ्यास और अनुभव की कमी के कारण प्रारंभ में काफी कठिनाई रही। परन्तु मानसिक संकल्प मुझे इस दिशा में सतत प्रवृत्त रहने के लिए प्रेरित करता

रहा। लगभग दो महीनो का प्रवचन-सकलन मैंने आचार्यवर को निवेदित किया। त्रुटियों का दिग्दर्शन करवाते हुए उन्होंने जो कुछ कहा, वह मेरे उत्साह को द्विगुणित करनेवाला था।

एक-डेढ वर्ष तक यह क्रम चलता रहा। मैं चाहता था कि इस क्रम को आगे-से-आगे वढाता रहू। पर अस्वस्थता का इतना वड़ा अवरोध सामने उपस्थित हो गया कि मुझे अपनी भावना के प्रतिकूल इस कार्य को बन्द करना पडा। अलवत्ता अस्वस्थता मे भी मै जैसे-तैसे पिछले प्रवचनो को व्यवस्थित कर सका, यह भी मेरे लिए कम तोप का विपय नही था।

वर्षो का समय व्यतीत हो गया। यह प्रवचन-सकलन जैन विश्व भारती की अलमारियो मे पड़ा रहा। ढ़ाई-तीन वर्ष पूर्व वि० स० २०४३ का चातुर्मास-प्रवास करने आचार्यवर लाडनू पधारे। वही जैन विश्व भारती का प्रागण। वही भिक्षु-विहार का दक्षिणाभिमुख वरामदा। वही सन्ध्याकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् चरण-वंदन का समय। प्रवचन-सकलन की वात चल पड़ी। प्रसगवश मैंने निवेदन किया—'प्रवचन-सकलन के पुराने फाइल पड़े हैं। यदि उनको संपादित कर दिया जाए तो उनका समुचित उपयोग हो सकता है।' चूकि आचार्यश्री के साहित्य-सपादन का कार्य मुख्य रूप से महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी करती है, इसलिए मेरा निवेदन उन्ही के लिए था। पर आचार्यश्री ने कहा— 'नही, वे नही करेगी। तुम्हारा सकलन तुम्हे ही सम्पादित करना है।' मेरे सामने वड़ी कठिनाई थी। संपादन का कोई अनुभव नही और स्वास्थ्य की प्रतिकूलता। मैंने अपनी स्थिति निवेदित की। आचार्यश्री ने कहा—'अनुभव तो काम करते-करते ही होगा। स्वास्थ्य अभी अनुकूल नही है तो कोई वात नही, जव ठीक हो, तव करना। पर यह कार्य करना तुम्हे ही है।'

लगभग छह माह का समय शारीरिक अस्वस्थता से जूझते हुए बीत गया। वार-वार मन मे यह वात आती कि आचार्यप्रवर का निदेश है, फिर भी कार्य नही कर रहा हू, यह मेरे लिए शोभनीय नही। आखिर लाडनू चातुर्मास के पश्चात् आचार्यवर सुजानगढ होते हुए चाडवास पधारे। स्वास्थ्य मे थोडा सुधार था। मैने निर्णय लिया—अव कैसी भी स्थिति क्यो न हो, मुझे यह कार्य करना है। और आचार्यवर के मंगल आशीर्वाद के साथ मैने कार्य प्रारंभ कर दिया। पिछले दिनों प्रकाशित प्रवचन पाथेय के भाग—४,५ व ६ उसके ही फलित है। उसी क्रम मे यह ८ वां भाग प्रस्तुत है। इसमे 'जैन सिद्धान्त दीपिका' के प्रथम दो प्रकाश पर दिए गए प्रवचनो का संकलन है। इस कार्य की सम्पन्नता के साथ मै अपनी सम्पादन-यात्रा की काफी मजिल तय कर चुका हू। अव थोड़ा ही चलना शेष है। पूज्य गुरुदेव का वरदहस्त मेरे सिर पर है। उसकी छत्रछाया में मै अपनी शेप यात्रा को भी निर्विघ्न

संपन्न कर सकूंगा—ऐसा विश्वास है।

परमाराध्य गुरुदेव मेरे जीवन-निर्माता है, संयम-प्रदाता हैं। उनके चरणों में अपना जीवन समर्पित कर मैं निश्चित हूं, कृतार्थ हूं। जब जीवन ही समर्पित कर चुका, तब उनके प्रति शाब्दिक कृतज्ञता-समर्पण बहुत छोटी बात है। गुरुदेव का तो मंगल आशीर्वाद ही काम्य है। इस आशीर्वाद के संरक्षण मे मै उनके हर इंगित, आदेश व निदेश को समर्पित भाव से आकार देता रहूं, यही उनके प्रति कृतज्ञता होगी

संघ परामर्शक मुनिश्री मधुकरजी का सतत सान्निध्य मेरे जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। समयोचित प्रेरणा, निदेश और मार्ग-दर्शन के द्वारा उन्होने मुझे जीवन के हर क्षेत्र मे आगे बढने के लिए प्रेरित किया है।

महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाश्री कनकप्रभाजी का अत्यंत कृतज्ञ हूं, जिन्होने न केवल अपने अनुभवपूरित सुझावो से मुझे लाभान्वित ही किया, अपितु साध्वी निर्वाणश्रीजी को अन्यान्य कार्यो से मुक्त कर इस कार्य मे मुझे सहयोग करने के लिए नियोजित किया। साध्वी निर्वाणश्रीजी मेरी संसारपक्षीया बहिन हैं। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे मेरे जीवन-विकास की विभिन्न प्रवृत्तियो मे प्रेरक और पूरक रही है। इस संपादन-कार्य मे भी उनका जो सहयोग-सहकार मिला है/मिल रहा है, वह अत्यन्त मूल्यवान् है। पर इसके लिए मै उनका आभार मानू—यह उनके लिए अरुचिकर है। और फिर इस निमित्त वे स्वयं लाभान्वित हुई है/हो रही हैं—यह स्वयं अपने आप मे आभार ही है।

आचार्यप्रवर के प्रवचन सर्वजनहिताय है। सहस्रों-सहस्रो लोगों ने उनके संबोधन से संबोधि को प्राप्त किया है—यह एक तथ्य है। पर इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मैं स्वयं इससे बहुत अधिक लाभान्वित हुआ हूं। इस संकलन-संपादन के निमित्त मुझे ज्ञान के अथाह सागर में बार-बार डुबकियां लगाने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह मेरे जीवन के लिए एक वरदान है। इस वरदान को प्राप्त कर मैं अपने आपको अत्यन्त सौभाग्यशाली महसूस करता हू। मेरा यह सौभाग्य जन-जन का सौभाग्य बने, उसे सोच-समझ की सही दिशा प्राप्त हो, जीवन जीने की सच्ची कला उपलब्ध हो—इसी ललक के साथ…

बीदासर
६ जनवरी १९८९

मुनि धर्मरुचि

प्रकाशकीय

'प्रवचन पाथेय' यथा नाम तथा गुण, राष्ट्रसंत आचार्य तुलसी के प्रवचनों का सकलन पाठको के लिए उनके व्यक्तित्व निर्माण का पाथेय है। इन प्रवचनो के माध्यम से आचार्यश्री ने अपनी दीर्घकालीन अध्यात्म साधना के अनुभवो का, जो जीवन के सर्वागीण विकास के मार्गदर्शक तत्त्व हैं, सांगोपाग निरूपण किया है।

जिस प्रकार ॐ शब्द की भाषा के विस्तीर्ण की कोई सीमा नही होती, उसी प्रकार भाषा के व्यापकता की भी कोई सीमा नही होती, कोई वन्धन नही, केवल एक ही वन्धन है अध्यात्म। आचार्य तुलसी के प्रवचन इसी अध्यात्म से प्रतिवन्धित है एवं प्रस्तुत ग्रन्थावली उसी भापा का संग्रह है। अध्यात्म को सहज ग्राह्य वनाने मे आचार्यश्री ने अपनी वाणी द्वारा विविध प्रस्तुतियो के माध्यम से गूढ रहस्यो को सामान्य भाषा मे प्रस्तुत किया है।

जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित साहित्य की शृंखला मे प्रवचन साहित्य का विशेष महत्त्व है। इसी क्रम मे यह प्रवचन पाथेय भाग-८ का दूसरा संस्करण आपके लिए प्रस्तुत है, जो अपने आप मे इसकी उपयोगिता एवं महत्त्व को उजागर करता है।

मेधासम्पन्न मुनिश्री धर्मरुचिजी ने इस प्रकाशन के सम्पादन मे जो श्रमशीलता का परिचय दिया है, उसके लिए श्रद्धा-आभार व्यक्त है।

आशा है, पाठकगण अपने जीवन के निर्माण मे इस साहित्य से दिशा-दर्शन प्राप्त करेंगे।

जैन विश्व भारती, लाडनू
२४ जुलाई १९९२

श्रीचंद बैगानी
मंत्री
जैन विश्व भारती

अनुक्रम

परिशिष्ट

धर्म संप्रदाय की चौखट में नहीं समाता

जैन-दर्शन भारतीय दर्शनों में एक प्रमुख दर्शन है। वस्तुतः यह एक वहुत गहरा दर्शन है। जीव से लेकर मोक्ष तक की अत्यन्त सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक चर्चा इस दर्शन में प्राप्त होती है। मैं चाहता हूं, जैन कहलानेवाला हर व्यक्ति, चाहे वह भाई हो या वहिन, एक सीमा तक जैन-दर्शन का ठोस ज्ञान अवश्य करे। अन्यथा वह अपने धर्म व दर्शन के प्रति न्याय नही कर सकता। चिंतन आया कि चातुर्मास काल के लम्वे प्रवास में यदि जैन सिद्धांतों का विवेचन हो तो स्थानीय लोगों के लिए यह उपक्रम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसी दृष्टि से मैं 'जैन सिद्धान्त दीपिका' का वाचन प्रारम्भ कर रहा हूं।

दर्शन : धर्म : संप्रदाय

दर्शन, धर्म और सम्प्रदाय—ये तीन अलग-अलग शव्द हैं। दर्शन यानी दृष्टि/देखना। जव तक किसी वस्तु को साक्षात् नही देख लिया जाता, तव तक सुने-सुनाए या पढ़े-पढाए के आधार पर उसे जानना अधूरा दर्शन है। परन्तु देखने का तात्पर्य केवल आंखों से देखना नही है। वह तो वहुत स्थूल दर्शन है। वास्तव मे तो आत्मा से साक्षात् देखना ही देखना है, दर्शन है। हमारे तीर्थंकर द्रष्टा थे। द्रष्टा किसी आधार पर कुछ नहीं कहते, वे स्वयं आत्मा से साक्षात् देखते है और फिर उसका विवेचन जन-साधारण के सामने करते है। इस अपेक्षा से उन द्रष्टा ऋषियों, महर्षियो या तीर्थंकरों की वाणी 'दर्शन' कहलाती है।

तीर्थंकरों द्वारा जो कुछ वताया गया, उसके अनुसार जीवन का व्यवहार करना 'धर्म' कहलाता है। दूसरे शव्दों मे जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष तक पहुंचने के लिए किया जानेवाला आचरण 'धर्म' है।

'सम्प्रदाय' का अर्थ है—गुरुक्रम। एक व्यक्ति कोई रास्ता निकालता है और फिर अनेक व्यक्ति उस रास्ते पर चलने लगते है। संख्या वढते-वढते उनका एक समूह वन जाता है और वही 'सम्प्रदाय' कहलाता है। कुछ लोग सम्प्रदाय को धर्म की आराधना का एकमात्र आधार मानते हैं, तो कुछ लोग इसके विपरीत सम्प्रदाय को धर्माराधना में सर्वथा वाधक तत्त्व मानते है। मैं

इन दोनो ही चिन्तनों को एकान्तिक मानता हूं। मेरी दृष्टि में एकान्ततः सम्प्रदाय न तो धर्म की आराधना में साधक है और न ही वाधक। जहां व्यक्ति अकेला साधना करता है, वहा सम्प्रदाय वाधक वनता है। पर अकेले रहकर साधना करनेवाले साधक वहुत थोड़े ही हो सकते है। क्योंकि इसमे कठिनाइयां वहुत है। आम लोगों के लिए तो सामूहिक साधना का क्रम ही सुविधाजनक एव श्रेयस्कर है और इस क्रम मे सम्प्रदाय की वहुत वड़ी उपयोगिता है।

कुछ लोग धर्म और सम्प्रदाय को एक ही मानते हैं। पर तत्त्वतः धर्म और सम्प्रदाय दो भिन्न-भिन्न तत्त्व है। धर्म आत्मा है तो सम्प्रदाय शरीर। जिस प्रकार आत्मा शरीर मे रहती है, उसी प्रकार धर्म संप्रदाय में रहता है। जिस प्रकार आत्मा-विहीन शरीर का संसार मे कोई अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार धर्म के विना सम्प्रदाय की मूल्यवत्ता ही क्या ?

एक व्यक्ति ने मुझसे कहा—"आचार्यजी ! धर्म-क्षेत्र मे इतने भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नही होने चाहिए। क्योकि इससे हम लोगों के सामने वड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। सव अपनी अलग-अलग वात करते हैं। हम किसकी वात मानें और किसकी न मानें ?" और भी वहुत-से लोगों के मन में यह वात हो सकती है। इसका समाधान स्पष्ट है। कलकत्ता, वम्वई आदि शहरों मे कपड़े की हजारो-हजारो दुकानें है। उनकी वात हम छोड़ें, वीकानेर की ही वात लें। यहां पर भी कपड़े की सम्भवतः सैकड़ों दुकानें होंगी। सभी दुकानवाले अपना-अपना कपड़ा दिखाते हैं, अपनी-अपनी वात वताते हैं। क्या यह ग्राहकों के लिए एक वडी उलझन नही है ? इतनी दुकानें न होकर यदि एक ही दुकान होती तो अच्छा नही होता ? पर वास्तविकता किसी से छुपी नही है। यदि पूरे वीकानेर में कपड़े की एक ही दुकान हो जाए तो ग्राहकों को वड़ी परेशानी हो जाएगी। सैकड़ों दुकानो के रहने में कोई कठिनाई नही है। हां, ग्राहक को इस वात का निर्णय अवश्य करना होता है कि कौन-सा कपडा ठीक है और उसे कहां से लेना है।

सत्य संप्रदाय विशेष की बपौती नहीं

यही वात सम्प्रदाय के वारे में है। भिन्न-भिन्न सम्प्रराय अपनी-अपनी वातें कहते है और भिन्न-भिन्न रूपों मे कहते है। यह निर्णय तो व्यक्ति को अपने चिन्तन से करना होगा कि उसे किस सम्प्रदाय को स्वीकार करना है। पर एक सम्प्रदाय को स्वीकार करने का तात्पर्य यह कदापि नही कि व्यक्ति दूसरे-दूसरे सम्प्रदायों के सत्य के प्रति आखें मूद ले। वस्तुतः सत्य/ज्ञान अनन्त है। वह किसी सम्प्रदायविशेष की वपौती नही है। हमारा काम है, जहां भी सत्य मिले, उसे सहर्ष ग्रहण करे।

एक व्यक्ति असत्य न बोलने का संकल्प करता है। क्या यह धर्म नही है ? चाहे किसी भी सम्प्रदाय को माननेवाला व्यक्ति इस संकल्प को ले, वह धर्म ही है। आप बताएं, कौन सम्प्रदाय सत्य को धर्म के सूत्र के रूप मे स्वीकार नहीं करता ? सभी सम्प्रदाय सत्य की साधना को धर्म ही मानते हैं। जो सम्प्रदाय सत्य को धर्म-तत्त्व के रूप मे स्वीकार नही करता, वह वास्तव में सम्प्रदाय है ही नही।

साम्प्रदायिक विद्वेष का आदि बिन्दु

सम्प्रदाय में सत्य है, पर सम्प्रदाय ही सत्य नही है। सम्प्रदाय के बाहर भी अनन्त-अनन्त सत्य विद्यमान है—इस तथ्य को स्वीकार कर चलने से हमारे सामने कोई कठिनाई या उलझन पैदा नही होती। कठिनाई या उलझन वही शुरू होती है, जहां व्यक्ति अपने सम्प्रदाय मे सत्य को कैद कर देता है। वस्तुत: साम्प्रदायिक विद्वेष का प्रारम्भ इसी बिन्दु से होता है।

सत्यग्राही दृष्टिकोण अपनाएं

जो सम्प्रदाय परस्पर लडते-झगडते हैं, उन्हे धर्म-सम्प्रदाय कहलाने का अधिकार नही मिलना चाहिए। यद्यपि हर व्यक्ति अपने धर्म-सम्प्रदाय के सत्य को जन-जन तक पहुंचाने के लिए स्वतंत्र है, पर इसका तात्पर्य यह कदापि नही कि वह दूसरे-दूसरे सम्प्रदायो के सत्य को अस्वीकार करे। उन पर मनगढन्त और मिथ्या आरोप-प्रत्यारोप करे। जहां सत्यग्राही दृष्टिकोण होता है, वहा भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय होकर भी उनमें परस्पर कोई वैमनस्य नही होता। पर जहां दृष्टिकोण साम्प्रदायिक होता है, वहा सत्य की हत्या हो जाती है और अपने-अपने अह का पोपण होने लगता है। इसकी परिणति होती है—टकराव। अपेक्षा है, साम्प्रदायिक व्यामोह से दूर रहकर सत्यग्राही दृष्टिकोण अपनाया जाए। इसी मे व्यक्ति, सम्प्रदाय व धर्म का हित निहित है।

हम मूर्तिपूजा मे विश्वास नही करते। पर इसका यह तात्पर्य नही कि हम मूर्तिपूजक समाज की आलोचना करे, उन पर गलत आक्षेप-प्रक्षेप करें। हां, हम अपने विचार दृढता के साथ जनता के सामने रखने मे स्वतंत्र है। मुझसे बहुधा पूछा जाता है कि आप मूर्ति को मानते है या नही ? आचार्य भिक्षु से भी यही प्रश्न किसी ने पूछा था। उन्होने इसके समाधान मे कहा—"हम मूर्ति को मानते है। सोने की मूर्ति को सोने की मूर्ति, मिट्टी की मूर्ति को मिट्टी की मूर्ति और पत्थर की मूर्ति को पत्थर की मूर्ति मानते है।" तब दूसरा प्रश्न किया गया—"आप मूर्ति को भगवान मानते है या नही ?" इस बार प्रश्न का समाधान प्रतिप्रश्न की शैली मे दिया गया—"क्या आप भगवान मानते है ?" उत्तर मिला—"हम मूर्ति को भगवान नही, भगवान की प्रति-

कृति मानते हैं।" स्वामीजी ने कहा—"मूर्ति को भगवान की प्रतिकृति तो हम भी मानते है।"

बन्धुओ ! मैं मूर्ति को अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण मानता हूं। हमें इस तथ्य को स्वीकार करना होगा कि मूर्ति में इतिहास और स्थापत्य कला भरी पड़ी है। एकाग्रता एवं स्मृति में भी वह निमित्त बन सकती है। अमूर्ति-पूजक होते हुए भी मुझे इन बातो को कहने मे कोई संकोच नही है।

धर्म कहीं भी किया जा सकता है

वस्तुतः मूर्ति कोई पूजने की नहीं, अपितु प्रेरणा लेने की वस्तु है। हालांकि कोई मूर्ति की पूजा करता है, उसमे मैं हस्तक्षेप नही करता। हां, यदि कोई मेरे से इस सम्बन्ध मे परामर्श करे और मेरे विचार जानना चाहे तो मैं उसे अपने विचार देने को तैयार हूं। इस सन्दर्भ मे एक बात और स्पष्ट कर दूं। पूजा नही करने का यह तात्पर्य नही कि मैं मन्दिर में जाने मात्र को ही पाप मानता हूं। मेरी दृष्टि में मन्दिर मे जाने या न जाने से धर्म का कोई सीधा सम्बन्ध नही है। धर्म तो आत्मा का तत्त्व है। वह मन्दिर में भी किया जा सकता है, घर व दुकान मे भी किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि कोई न करे तो घर पर भी नही कर सकता, मन्दिर में भी नही कर सकता। कहने का सारांश यह है कि आदमी करना चाहे तो कभी भी और कही भी धर्माराधना कर सकता है और न करना चाहे तो अच्छे-से-अच्छे समय और पवित्र-से-पवित्र स्थान मे भी धर्म की आराधना नही कर सकता।

अनाग्रही दृष्टि

मैं अपनी बात बताऊं। मैं अनेक बार मन्दिरों में गया हूं। और केवल गया ही नहीं हूं, वहा जाकर मैंने भगवान की स्तुति भी की है। मन्दिरो में ही क्यो, मै तो मस्जिद, गिरजाघर और गुरुद्वारो मे भी गया हूं। मुझे इसमें कोई कठिनाई महसूस नही होती। हां, जो लोग मुझे कट्टर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखते है, वे लोग ऐसा सोचते हैं कि मैं मन्दिर, मस्जिद आदि में नही जा सकता।

आपने मेरी नाक रख ली

लगभग पचीस-तीस वर्ष पूर्व मैं जयपुर मे प्रवास कर रहा था। एक दिगम्बर भाई प्राय. प्रतिदिन प्रवचन सुनने आता। यहां सुनी हुई बातों को वह अपने दूसरे-दूसरे साथियो को भी सुनाता। प्रतिदिन की भांति वह एक दिन आया और बोला—"आचार्यजी ! आज आपको मन्दिर चलना होगा।"

"मन्दिर में जाने मे मुझे कोई कठिनाई नही, पर आज जाना कठिन लगता है।"—मैंने अपनी स्थिति स्पष्ट की।

"नही, आपको आज ही चलना होगा।"—उसने आग्रह किया।

"आज मेरे जाने मे असुविधा बहुत है। अतः आज का आग्रह मत करो। और कभी मैं चल सकता हूं।"—मैंने अपनी कठिनाई बतलाते हुए कहा।

"आपको सुविधा हो या असुविधा पर यह बात तो मेरी स्वीकार करनी ही होगी।"—उसका आग्रह और तीव्र हो गया।

मैं उसके अति आग्रह को टाल नही सका। असुविधा के बावजूद भी मैं मन्दिर में गया और वहां जाकर मैंने भगवान की स्तुति गाई। जब मैं मन्दिर से बाहर आया तो वह भाई भी साथ-साथ बाहर आया। बाहर आते ही उसने भावविह्वल स्वरों मे कहा—"आचार्यजी! आज तो आपने मेरी नाक रख ली।"

मैं उसके कथन का आशय नही समझ सका। प्रश्नायित नयनो से मैंने पूछा—"कैसे?"

"आज मेरे और मेरे साथियों के बीच एक जिद हो गई थी। मैंने कहा कि आचार्यजी मन्दिर में आ सकते है और साथियो का कथन था कि वे किसी भी हालत में मन्दिर मे आना स्वीकार नही कर सकते। इसलिए मैंने आपसे यहा आने का इतना आग्रह किया था।"—रहस्य पर से परदा उठाता हुआ वह बोला।

"यदि यह बात तुम पहले बता देते तो शायद मैं और जल्दी आ जाता। खैर! जो हुआ वह ठीक है।"—उस भाई के साथियों की सोच पर तरस खाते हुए मैंने कहा।

बन्धुओ! मैं नही समझता मन्दिर, मस्जिद......में जाना कोई पाप है या उससे मूर्ति न पूजने का विश्वास खण्डित होता है। मैंने अतीत मे इस बारे में अनेक बार स्पष्ट शब्दों में अपने विचार जनता के सामने रखे हैं और अब भी जब कभी प्रसंग उपस्थित होता है मै इस सन्दर्भ में अपने विचार प्रस्तुत करता हूं, जिससे लोगों मे भ्रांतियां न फैले।

व्यक्ति एक सम्प्रदाय मे खड़ा रहकर दूसरे-दूसरे सम्प्रदायो के सिद्धातो का अध्ययन कर सकता है और सत्य तत्त्व को ग्रहण कर सकता है। आप देखें, हम एक सम्प्रदाय (जैन श्वेताम्बर तेरापथ) के साधु है। पर यदि कोई चाहे तो आज हमारे अनेक साधु साख्य, वेदान्त, बौद्ध......दर्शनों पर अधिकारपूर्ण भाषा में वक्तव्य दे सकते है।

अधूरी जानकारी

प्रसंगवश एक बात और कह दू। दर्शन का विषय-क्षेत्र बहुत गहन और सूक्ष्म है। इसलिए इस क्षेत्र में काम करनेवालो को यह सदा ध्यान

रखना चाहिए कि जब तक उन्हें जिस विषय की पूर्ण और यथार्थ जानकारी न हो, तब तक वे उस विषय पर अपनी कलम न चलाएं। बड़े-बड़े विद्वान् भी कभी-कभी विपय की पूरी एवं यथार्थ जानकारी के अभाव में उस विषय के साथ न्याय नहीं कर पाते। आदि शंकराचार्य का उदाहरण हमारे सामने है। अद्वैतवाद के वे प्रवर्तक थे। उनकी विद्वत्ता में मुझे कोई सन्देह नहीं। पर स्याद्वाद के बारे मे वे भी न्याय नही कर सके। उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्व० डा० सम्पूर्णानन्द एक विशिष्ट विद्वान् एवं कट्टर अद्वैतवादी थे। मै जब लखनऊ गया, तब उनसे मिलना हुआ। मै उनकी कोठी पर रात भर रहा। दार्शनिक-साहित्य पर चर्चा करते हुए मैंने उनसे पूछा—"आदि शकराचार्य के बारे में आप क्या धारणा रखते है ?"

"भयकर विद्वान् थे वे।"—वे एकदम बोले।

"स्याद्वाद के बारे में उन्होने जो कुछ लिखा है, वह कहां तक यथार्थ है ?"—यह मेरा अगला प्रश्न था।

यद्यपि डा० सम्पूर्णानन्द आदि शंकराचार्य के अनन्य भक्त थे, तथापि उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी था। इसलिए उन्होने बड़ी ऋजुता के साथ स्वीकार किया—"इस विषय मे वे यथार्थ नही लिख पाए।"

इसका संभावित कारण उन्होने यह बताया कि उन्हे इस विपय की पूरी एवं यथार्थ जानकारी प्राप्त नही हो सकी होगी। जब आदि शंकराचार्य जैसे धुरन्धर विद्वान् भी पूरी और यथार्थ जानकारी के अभाव मे किसी विपय का गलत प्ररूपण कर सकते है, तब साधारण विद्वानों की तो बात ही क्या ? इसलिए मैंने कहा कि जिन लोगो को दार्शनिक विपयों की यथार्थ व पूर्ण जानकारी न हो, उन्हें इस विपय में कलम चलाने का संवरण करना चाहिए।

मैंने सुना है कि कुछ विद्वान् जैन आगमों का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने का प्रयास कर रहे है। प्रयास सुन्दर है। पर वे जैन-आगमों के तल-स्पर्शी ज्ञान के अभाव मे उनका सही-सही अनुवाद कहां तक कर पाएंगे—यह एक बड़ा प्रश्नचिह्न है। जर्मन जैन विद्वानों ने भी आगमो का अंग्रेजी अनुवाद किया है। जर्मन विद्वानों के प्रति मेरे मन में बहुत ऊंची भावना है। इस दिशा मे उन्होने बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है, पर अनेक स्थलों पर उनका अनुवाद भी आलोच्य है।

जैन-दर्शन की बात मैं कर रहा था। सचमुच ही यह एक वैज्ञानिक दर्शन है। हालांकि जैन लोग इस दर्शन को कितना आत्मसात् करते हैं, यह एक अलग प्रश्न है, पर इसका ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, यह निर्विवाद है। जैसा कि मैं कई बार कहता हूं, आज कर्मणा जैन कम, जन्मना जैन अधिक हैं। इसलिए जैन कहलानेवाले बहुत कम लोग इस दर्शन को आत्मसात् कर

पाए हैं। मेरा प्रयास है कि हर जैन कहलानेवाला व्यक्ति जैन-दर्शन का प्रारम्भिक ज्ञान तो अवश्य करे। इस दृष्टि से 'जैन सिद्धान्त दीपिका' का विवेचन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा—इसी आशा के साथ आज मैं विराम लेता हूं।

गंगाशहर
११ जुलाई, १९७८

संसार क्या है ?

'जैन सिद्धान्त दीपिका' के वाचन की वात मैंने कल कही। आज उसका प्रारम्भ हो रहा है। इस ग्रन्थ की रचना मैंने आज से अट्ठाइस-तीस वर्ष पूर्व की थी। जैसा इसके नाम से स्पष्ट है, यह जैन सिद्धान्तों का ग्रन्थ है। सर्वप्रथम मंगलाचरण/आदि वाक्य के रूप में निम्न श्लोक है—

'आराध्याराध्यदेवं स्वं, सिद्धं सिद्धार्थनन्दनम् ।
विदधे वोधवृद्ध्यर्थं, जैनसिद्धान्तदीपिकाम् ॥'

आराध्यदेव, सिद्धिप्राप्त, सिद्धार्थपुत्र भगवान महावीर की आराधना करता हुआ मैं वोधवृद्धि के लिए जैन सिद्धान्त दीपिका की रचना करता हूं। प्रश्न होगा, वोधवृद्धि से क्या तात्पर्य ? जो अवोध हैं, उन्हें वोध देने के लिए, जो अल्पवोध हैं, उनके वोध को वढाने के लिए और जो वोधप्राप्त है, उनके वोध को स्थिर रखने के लिए मैं यह प्रयास कर रहा हूं।

ज्ञेय नौ ही तत्त्व हैं

सबसे पहले हमे यह समझना चाहिए कि संसार क्या है ? हमारा लक्ष्य क्या है ? उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन कौन-कौन से हैं ? आप कहेंगे, संसार को जानने से क्या प्रयोजन ? वहुत वड़ा प्रयोजन है। जिस घर में हम रहें और उससे अपरिचित हों, इससे वड़ा और क्या अज्ञान हो सकता है ? आप देखें, मनुष्य की तो वात ही क्या, पशु-पक्षी और कीड़े-मकोड़े भी अपने-अपने घर को जानते हैं। अतः जिस घर मे हम रहते है, उसे जानना वहुत जरूरी है। यह ससार एक प्रकार का घर ही है। यदि हम ससार को सम्यक् रूप से जान लेंगे तो वहुत सम्भव है कि हम उसमें उलझेंगे नही। ससार मे उलझने का कारण उसको यथार्थ रूप में न जानना ही है। उसका सम्यक ज्ञान होने के पश्चात् व्यक्ति उससे मुक्त होने के लिए सचेष्ट हो जाता है।

हमें इस तथ्य को भलीभांति ध्यान मे ले लेना चाहिए कि हर पक्ष का प्रतिपक्षी होता है। दुःख है तो सुख भी है। जीव है तो अजीव भी है। आश्रव है तो संवर भी है। मोक्ष है तो संसार भी है। प्रतिपक्ष को जाने विना हम पक्ष को नही जान सकेंगे। पक्ष को जानने के लिए हमें उसके प्रतिपक्ष को

अनिवार्य रूप से जानना होगा। हम सुख को तब तक नहीं जान सकेंगे, जब तक दुःख को सम्यक् रूप से नहीं जानेंगे। मोक्ष को जानने के लिए संसार को जानना ही होगा। हमारे यहां नौ तत्त्वों का विवेचन है। इनमें कुछ हेय हैं और कुछ उपादेय है। पर ज्ञेय नौ ही तत्त्व है। यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से संसार हेय है और मोक्ष उपादेय है पर ज्ञेय दोनों ही है। इस दृष्टि से मैंने कहा कि मोक्ष को समझने के लिए संसार को समझना आवश्यक है।

द्रव्य, गुण और पर्यायों की समन्विति का नाम संसार है। द्रव्य यानी पदार्थ। संसार की हर वस्तु एक पदार्थ है। गुण—द्रव्य का सदा साथ रहने-वाला धर्म या स्वभाव। अग्नि का धर्म है—उष्मा। जल का धर्म है—शीतलता। वायु का धर्म है—गतिशीलता। इसी प्रकार हर द्रव्य का अपना स्वभाव या धर्म है। पदार्थ में प्रतिक्षण होनेवाला परिवर्तन 'पर्याय' कहलाता है। संसार में ऐसा कोई भी पदार्थ नही, जिसमें परिवर्तन न हो। और यदि परिवर्तन नहीं तो वह पदार्थ ही नही है।

धर्माधर्माकाश-पुद्गल-जीवास्तिकाया द्रव्याणि।

अस्तिकायः प्रदेशप्रचयः। धर्मादयः पञ्चास्तिकायाः सन्ति।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय—ये पांच द्रव्य है। मूलतः धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच शब्द है। इन सबके पीछे 'अस्तिकाय' शब्द जुड़ा है। इस प्रकार ये पंचास्तिकाय है। जैन-शास्त्रों में पंचास्तिकाय का विशद विवेचन प्राप्त है। दिगम्बर जैनाचार्यश्री कुन्दकुन्द का एक ग्रन्थ है, जिसका नाम ही 'पञ्चास्तिकाय' है। इस ग्रन्थ में उपरोक्त पांच अस्तिकायों का विवेचन किया गया है। इन पांचों को हम द्रव्य कहते है।

आप कहेंगे, 'पचीस बोल' ग्रन्थ के अन्तर्गत वीसवें बोल मे हमने तो छह द्रव्य सीखे हैं, फिर यहा पाच द्रव्य कैसे ? यह कोई भूल नही है। ऐसा वर्गीकरण चिन्तनपूर्वक ही किया गया है। छह द्रव्यो के अन्तर्गत इन पांच अस्तिकायो के अतिरिक्त काल को भी साथ जोड़ा गया है। पर हमने इसे अलग रखा है, क्योकि यह अस्तिकाय नही है। वस्तुतः काल एक औपचारिक द्रव्य है। शेष पाच द्रव्य जिस प्रकार वास्तविक है, वैसे यह वास्तविक नही है। घड़ी की बड़ी सुई एक बार पूरी घूम आई और आपने एक घंटा मान लिया।

कालश्च।

जीवाजीवपर्यायत्वात् औपचारिकं द्रव्यमसौ, इत्यस्य पृथग् ग्रहणम्। क्षणवर्तित्वान्न च अस्तिकायः।

काल जीव और अजीव की पर्याय है। जीव या अजीव जिन-जिन अवस्थाओ मे परिवर्तित होते है, उनका कारण काल ही है। एक दिन, दो दिन

एक महीना, एक वर्ष......ये सव काल के कारण ही हैं। अमुक व्यक्ति पांच वर्ष का हो गया, दस वर्ष का हो गया, अमुक मकान वीस वर्ष पुराना है आदि-आदि हम काल के कारण ही जानते हैं, फिर भी काल स्वयं में कुछ भी नही है। इसलिए इसे औपचारिक या काल्पनिक द्रव्य कहा गया है और पांच अस्तिकाय द्रव्यों से अलग रखा गया है।

'अस्तिकायः प्रदेशप्रचयः'—प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं। प्रश्न होगा, प्रदेश किसे कहते हैं ? प्रदेश का अर्थ है—अवयव/अंग/भाग। यह कम्वल आपके सामने है। यह एक द्रव्य है। इनमें छोटे-छोटे सैकड़ों-हजारों धागे होंगे। आप कल्पना से प्रत्येक धागे को एक प्रदेश मान लें तो वहुत-से प्रदेश मिलकर एक द्रव्य का निर्माण हो गया। हमारे शरीर में छोटे-छोटे कितने अंग-प्रत्यंग हैं। इन सव के योग का नाम ही शरीर है। जिस पंडाल में आप वैठे हैं, उसकी तरफ आप जरा ध्यान दें। मैं पूछना चाहता हूं, क्या यहां छिपाई हुई मिट्टी पंडाल है ? आप कहेंगे, नहीं। तो क्या ऊपर का छप्पर पंडाल है ? नहीं। तो क्या ये खम्भे पंडाल हैं ? नही-नही, ये भी पंडाल नही हैं। फिर क्या यहां वैठे हुए हजारों नर-नारी पण्डाल है ? नहीं-नहीं, ये भी पण्डाल नही हैं। आखिर पंडाल है क्या ? वास्तव में ये सव चीजें अलग-अलग रूप में पंडाल नही हैं। इनका समन्वित रूप ही पंडाल है। ये सारी चीजें पंडाल के अंग हैं। इसी प्रकार वहुत-से प्रदेशों के समूह का नाम अस्तिकाय है। एक प्रदेश से अस्तिकाय नही वनता।

गंगाशहर
१२ जुलाई, १९७८

धर्मास्तिकाय : एक विवेचन

पांच अस्तिकाय और काल—इन छह द्रव्यों का विवेचन मैने प्रारम्भ किया था। 'अस्तिकाय' मे दो शब्द है—'अस्ति' और 'काय'। 'अस्ति' शब्द प्रदेश एवं सत्—इन दो अर्थों में व्यवहृत होता है।

प्रदेश का विवेचन पहले किया जा चुका है। सत् त्रैकालिक अस्तित्व का अभिव्यजक शब्द है। इसलिए 'अस्ति' से केवल वर्तमान का ही अर्थ न ग्रहण कर, भूत और भविष्य का भी अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उदाहरणार्थ—ससार है। अतीत मे सदा था और आगे सदा रहेगा। हम जीव है। अतीत में जीव थे और सदा जीव वने रहेगे। यह कभी सम्भव नही कि जो आज जीव है, वह कल न रहे या गए कल मे न रहा हो। हां, यह अवश्य है कि उसका रूप प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। आज हम जिस अवस्था में है, अतीत में वैसे नही थे, भविष्य में वैसे नही रहेगे। फिर भी हमारा त्रैकालिक अस्तित्व है। इसलिए मैने कहा, सत् 'है' (वर्तमान) 'था' (भूत) और 'रहेगा' (भविष्य)—इस त्रयात्मक रूप की ही समन्विति है।

काल की मूल्यवत्ता

पांच अस्तिकायों को समझना उतना कठिन नही है, जितना कठिन काल को समझना है। काल क्षणवर्ती है। अर्थात् वर्तमान का क्षण ही काल है। जो काल वीत गया, उस पर हमारा कोई अधिकार नही। उसे हम पकड़ नही सकते। भविष्य का कुछ भरोसा नही। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति की उम्र आज साठ वर्ष की है। मैं पूछना चाहता हूं साठ वर्ष कहां गए? क्या उसके पास सुरक्षित है? बिल्कुल नही। भविष्य मे वह कितने वर्ष और जीएगा—इसका कोई पता नही है। केवल आज का दिन, नही-नही, वर्तमान का केवल एक क्षण उसके हाथ मे है। यह (वर्तमान) क्षण गया कि दूसरा क्षण आया। दूसरा क्षण आया कि पहला क्षण समाप्त। फिर उसका कोई अस्तित्व शेष नही रहता। इसी प्रकार आनेवाले क्षण का भी पहले क्षण तक कोई अस्तित्व शेष नही होता। इसलिए कहा गया कि काल क्षणवर्ती है। अतीत और भविष्य से उसका विसंवंध है, इसलिए वह सत् नही है।

काल यद्यपि केवल क्षणवर्ती है, फिर भी इसके प्रति बहुत सावधानी रखने की अपेक्षा है। औपचारिक द्रव्य होने के बावजूद भी इसका महत्त्व किसी दृष्टि से भी कम नही आंकना चाहिए। बचपन, जवानी, बुढापा, नया, पुराना आदि जीव-अजीव की जितनी भी अवस्थाएं हम देखते हैं, वे इसी के कारण होती है। इसके बिना किसी का काम नही चलता। छोटा (क्षणवर्ती) होते हुए भी यह बहुत सक्षम है। छोटा तो अणु (एटम) भी होता है। पर उसकी शक्ति कितनी बड़ी होती हैं, यह आज के वैज्ञानिक युग में सर्वविदित है।

द्रव्य का स्वरूप

गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

गुणानां पर्यायाणां च आश्रयः—आधारो द्रव्यम्।

गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते है। अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय दोनो ही विद्यमान हो, वह द्रव्य है। जिसमें ये दोनों नहीं, वह द्रव्य नही है।

गुण—धर्म या स्वभाव।

पर्याय—द्रव्य में क्षण-क्षण होनेवाली परिणतियां।

आपको यह ख्याल मे रखना चाहिए कि हर वस्तु का अपना एक स्वतत्र धर्म होता हैं। उसे मिटाने का तात्पर्य है—उस वस्तु की समाप्ति। उदाहरणार्थ, अग्नि का स्वभाव है—उष्णता। यह कभी भी सम्भव नही कि अग्नि तो हो और उसमें उष्णता न हो। अग्नि द्रव्य है और उष्णता उसका गुण। गुण और गुणी कभी अलग-अलग नही हो सकते। राजस्थानी में कहावत है—

'जाका पड्या स्वभाव, जासी जीव स्यूं।
नीम न मीठो होय, सींचो गुड़-घीव स्यूं॥'

यानी जिसका जो स्वभाव है, गुण है, वह उसके जीवन के साथ ही समाप्त होगा, पहले नहीं। नीम के वृक्ष को चाहे कोई गुड़-घी से भी क्यों न सींचे, वह कभी मीठा नही हो सकता। उसका कड़वापन कभी समाप्त नही हो सकता।

अग्नि की तरह पानी का तरह पानी स्वभाव है—शीतलता। हवा का स्वभाव है—गतिशीलता। क्रोधी का स्वभाव है—क्रोध करना। लोभी का स्वभाव है—संग्रह करना। इसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु का अपना स्वतन्त्र स्वभाव है।

जैसा कि मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूं, द्रव्य मे गुण और पर्याय दोनों का होना अनिवार्य है। गुण वस्तु का स्वभाव है तो पर्याय उसमें प्रतिक्षण होनेवाला परिवर्तन है। उदाहरणार्थ–यह सफेद कपड़ा है। इसका गुण है–

सफेदी। इसकी पर्याय है—इसकी सफेदी में प्रतिक्षण होने वाला परिवर्तन। जैसी सफेदी इस कपड़े को लेने के वक्त थी, वैसी अब नहीं है। प्रतिक्षण इसमे परिवर्तन होता रहा है और भविष्य मे होता रहेगा।

एक शब्द : अनेक अर्थ

पांच अस्तिकाय द्रव्यों में सबसे पहला द्रव्य है—धर्मास्तिकाय। 'धर्म' शब्द कई अर्थों मे व्यावहृत होता है। आत्मशुद्धि साधनं धर्मः—आत्मशुद्धि का साधन धर्म है। वस्तु के स्वभाव/गुण को भी धर्म कहते हैं। लौकिक कर्त्तव्य भी इसका एक अर्थ है। पर प्रस्तुत संदर्भ में यह इन सब से सर्वथा भिन्न अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। यहां इसका वाच्यार्थ है—

गतिसहायो धर्मः।

गमनप्रवृत्तानां जीवपुद्गलानां गतौ उदासीनभावेन अनन्यसहायकं द्रव्यं धर्मास्तिकायः, यथा—मत्स्यानां जलम्।

गति में सहायक होनेवाले द्रव्य को धर्म कहते है। गति सहायक द्रव्य का अधूरा नाम धर्म है। पूरा नाम धर्मास्तिकाय है। प्रश्न है, अधूरा नाम क्यों? अधूरा नाम इसलिए कि इसमें हमारी सुविधा है। और यह हमारी प्राचीन पद्धति भी रही है। भगवान् महावीर के सर्वप्रथम गणधर का नाम इन्द्रभूति गौतम था। पर आप ध्यान दें, आगम साहित्य में सैकड़ों स्थलों पर उनके लिए केवल गौतम (गोयमा) शब्द व्यवहृत हुआ है। गौतम अधूरा नाम भी नही, केवल उनका गोत्र था, फिर भी उन्हें उसी नाम से पुकारा गया है। मैं अपना नाम तुलसी बताता हूं। पर मेरा पूरा नाम तुलसी नहीं, तुलसीराम है। हमारे धर्मसंघ के आद्य प्रणेता को आचार्य भीखणजी कहते है। पर वास्तव में उनका पूरा नाम भीखणजी नही, भीखणचन्दजी या भीखमचन्दजी था। इस श्रृंखला मे और भी अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। सारांश यह है कि जब दो-तीन अक्षर बोलने से काम चले तो फिर कौन छह-सात अक्षर बोले।

धर्मास्तिकाय का स्वरूप

हां, तो मैं बता रहा था गतिसहायक द्रव्य का नाम धर्म (धर्मास्तिकाय) है। आप पूछेंगे, धर्म किसकी गति मे सहायक होता है? 'किसकी' का कोई प्रश्न ही नही है। जीव और पुद्गल दोनों की ही सभी प्रकार की गति-क्रिया—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन तक में यह सहयोगी है। हम चलते है, सोते है, बैठते हैं, हाथ हिलाते हैं, आख बंद करते हैं, खोलते है, खाते हैं, पीते हैं···श्वासोच्छ्वास लेते हैं—इन सब क्रियाओ मे यह द्रव्य सहायक है। इसी प्रकार अजीव की भी सभी प्रकार की गतिक्रियाओ मे यह द्रव्य निमित्तभूत है।

उपादान और निमित्त

हम जानते हैं कि कारण के दो प्रकार हैं—उपादान और निमित्त। किसी भी चीज के निर्माण में ये दोनों कारण जरूरी है। निमित्त कारणों के मिलने पर भी उपादान कारण के अभाव में जिस प्रकार वस्तु नहीं बनती, ठीक उसी प्रकार उपादान कारण की उपस्थिति के बावजूद भी निमित्त कारणों के अभाव में कार्य सिद्ध नही होता। मिट्टी का घड़ा बनता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। मिट्टी के बिना घडे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पर मिट्टी से घड़ा तब तक नही बनेगा, जब तक निमित्त कारणों के रूप मे चाक, अग्नि, कुशल कुम्हार''''नही मिलेंगे। दोनों कारणों के योग से ही कोई वस्तु निर्मित होती है।

यद्यपि गति में उपादान कारण तो जीव या पुद्गल स्वयं ही है, पर निमित्त कारण के रूप मे धर्मास्तिकाय का अपना अलग महत्त्व है। (और भी अनेक निमित्त कारण हो सकते हैं, पर मुख्य कारण यही है।) धर्मास्तिकाय के अभाव मे जीव या पुद्गल किसी भी प्रकार की गतिक्रिया करने में असमर्थ है। मछली में गति करने की शक्ति है। पर पानी के अभाव में वह गति नहीं कर सकती। ट्रेन मे चलने की शक्ति है, पर पटरी के अभाव मे वह चल नही सकती। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के सम्बन्ध मे जाननी चाहिए। प्राणी और पुद्गल में गति करने की शक्ति है। पर वे गतिक्रिया तभी कर सकते हैं, जब उन्हे धर्मास्तिकाय का अनिवार्यरूप से सहयोग प्राप्त हो।

इस संदर्भ मे एक बात और समझनी आवश्यक है। यद्यपि धर्मास्तिकाय के सहयोग से ही कोई पदार्थ गतिक्रिया कर सकता है, पर वह किसी को गति करने के लिए प्रेरित नही करता। हां, कोई उसका सहयोग ले तो वह इनकार भी नही करता। मध्यस्थ भाव से वह सहयोगी बनता है। इसलिए धर्मास्तिकाय को जीव और पुद्गल की गति में उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी के रूप मे माना गया है।

मरने के बाद गति!

मैं तो धर्मास्तिकाय के द्वारा गति की बात बता रहा था, पर लोग तो मरने के बाद भी गति करते है। मैं पूछना चाहता हूं, मरने के बाद कैसी गति? वह तो मरने के साथ ही हो जाती है। हां, अन्तिम समय मे यह प्रयास करना तो उचित ही है कि काल प्राप्त करने वाला सद्परिणामों में शरीर त्याग करे, जिससे उसकी अधोगति न हो। पर मरने के बाद गति करने की बात समझ मे नही आती। पर समझ में आए या न आए

लोगों मे अन्धविश्वास बहुत है। इस अन्धविश्वास को मिटाना बहुत जरूरी है।

सद्गति : दुर्गति

संत के पास एक युवक आया और बोला—"मेरे पिताजी काल प्राप्त हो गए, अतः आप ऐसा प्रयास करें, जिससे उनकी सद्गति हो।"

"मरने के बाद क्या गति करूं? उनकी गति तो उनके कर्मों के अनुसार हो गई।"—सहज भाव से सन्त ने कहा।

पर वह युवक अपनी बात को बार-बार दुहराता रहा। सन्त ने सोचा—यह ऐसे नही समझेगा। इसे तो युक्ति से समझाना होगा। उन्होने युवक से कहा—"अच्छा, जाओ दो घड़े ले जाओ, एक कंकर-पत्थर से भर-कर और दूसरा घी से।"

युवक तत्काल घर गया और सन्त के आदेशानुसार दोनों घड़े लेकर पुनः उनके चरणो मे उपस्थित हुआ।

"जाओ इन दोनो को नदी मे उड़ेल दो।"—युवक के लिए सन्त का अग्रिम आदेश था।

युवक को कुछ भी समझ मे नही आया। जरा हैरानी के स्वरों मे उसने सन्त से पूछा—"इन्हे नदी में उड़ेलने का उद्देश्य?"

"गति करने के लिए।"—सन्त ने पहेली की भाषा में उत्तर दिया।

युवक समाहित होने के स्थान पर और अधिक उलझ गया। फिर भी पिता की सद्गति की ललक मे उसने दोनों घड़ों को पार्श्ववर्ती नदी में जाकर उडेल दिया। ककर-पत्थर सारे नीचे चले गए और घी पानी के ऊपर तैरने लगा। सन्त, जो कि युवक के साथ ही नदी के तट पर आए थे, ऊंचे-स्वर मे बोले—"अरे! ये ककर-पत्थर डूब रहे है, इन्हे बचाओ।"

"महाराज! ये तो भारी है, डूबेंगे ही। इन्हे कैसे बचाया जा सकता है? घी हलका है, इसलिए वह तैरने लगा, डूबा नही।"—युवक तपाक से बोला।

"तत्त्व समझे या नही?"—सन्त ने युवक के कंधे पर हाथ रखते हुए पूछा।

"मैं तो कुछ भी नही समझा।"—युवक की आंखों मे जिज्ञासा की चमक थी।

"जिस प्रकार ककर-पत्थर अपने भारीपन के कारण डूब गए और घी अपने हलकेपन के कारण तैरने लग गया, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पिता की गति भी हो गई। यदि उनकी आत्मा कर्मो से भारी है तो उन्हें सद्गति कैसे मिलेगी और यदि वे कर्मों से हलके है तो उनकी सद्-

गति को कौन रोक पाएगा ? वस्तुतः गति किसी के द्वारा करने-करवाने से नहीं होती; वह तो व्यक्ति के स्वयं के कर्मों के अधीन है।"—मर्म का उद्‌घाटन करते हुए प्रतिवोध की भापा मे सन्त ने कहा।

सविवेक चिन्तन को महत्त्व दें

वन्धुओ ! यही वात मैं आपसे कह रहा था। हर व्यक्ति की गति उसके स्वकृत कर्मों के द्वारा होती है। और वह उसके मरने के साथ ही हो जाती है। वाद में उसकी गति करने का प्रयास तो सर्वथा अज्ञान ही है। कुछ लोग अपने पिता, पितामह आदि की मृत्यु के पश्चात् मृत्युभोज करते हैं। मैं नहीं समझता, हलवा-पूड़ी तो दूसरे-दूसरे खाएं और पेट पिता या पितामह का भरे, यह कहां का न्याय है ? यह वात तो समझ में आ सकती है कि व्यक्ति ने अपने पिता, पितामह की स्मृतिस्वरूप अपने सम्वन्धियों को इकट्ठा किया और उनके खाने-पीने आदि की व्यवस्था की। पर इससे काल-प्राप्त उसके पिता या पितामह को तृप्ति मिलेगी—ऐसा चिंतन तो सर्वथा नासमझी की वात प्रतीत होती है। समाज में इस प्रकार के एक-दो नहीं, अपितु अनेकानेक अंधविश्वास पल रहे हैं। यद्यपि पिछले वर्षों मे अणुव्रत एवं नया मोड़ के माध्यम से इस दिशा में समाज ने काफी करवट ली है, फिर भी संतोपजनक स्थिति नहीं है। अभी भी वहुत-सी परम्पराओं परिवर्तित, संशोधित एवं समाप्त करने की अपेक्षा है। मैं आपसे इस संदर्भ में स्थूल रूप मे एक ही वात कहना चाहता हूं। किसी भी कार्य के करने मे आप चालू परम्परा से भी अधिक अपने सविवेक चिंतन को महत्त्व दें। सव लोग इस कार्य को करते है और करते आए है, इसलिए आप भी करें तथा सभी लोग इसे छोड़ रहे है इसलिए आप भी इसे छोड़ें—ये दोनो ही वातें स्वस्थ चिंतन की परिचायक नही है।

महिलाएं पौरुष को जगाएं

विधवा वहिनों के साथ कैसा व्यवहार किया जाता है—यह आप लोगो से छुपा नही हे। पति गुजर गया, इसलिए महीनो एवं वर्षों तक घर से वाहर नही जाना—इस रूढि का कोई औचित्य समझ में नही आता। क्या कोई पुरुप अपनी पत्नी के देहावसान के पश्चात् इस प्रकार घर मे रहने को तैयार है ?

कहते हैं कि विधवा जव कपड़े वदलती है तो उसे कोई देख नही सकता। सुहागिन वहिनों की वात तो वहुत वाद की है, घर के वाल-वच्चे भी नही देख सकते। मुझे वताया गया कि वडी निर्दयता के साथ उसके कपड़े उतारे जाते है। यहां तक कि मानवीय व्यवहार की सीमा का भी अतिक्रमण हो जाता है। मैं नही समझता, विधवा होनेवाली वहिन का ऐसा

क्या दोष है, जिससे उसके साथ ऐसा अमानवीय व्यवहार किया जाता है ? क्या सधवा रहना या विधवा होना किसी के वश की बात है ?

समाज में विधवा बहिनों के साथ आज भी ऐसा अन्याय होता है, यह आश्चर्य की बात है। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य तो मुझे इस बात का होता है कि बहिनें इस अन्याय और अभिशाप को वर्षों से सहन किए जा रही हैं। क्या उनमें थोड़ी-सी भी चेतना नही है ? क्या उनका स्वाभिमान सर्वथा सो गया है ? मैं मानता हूं, इन कुरूढियों को मिटाने के लिए बहिनो को ही क्रांति करनी होगी। यदि बहिने दृढ़-संकल्प के साथ इस अभिशाप को मिटाने के लिए कटिबद्ध हो जाएं तो कोई कारण नही कि ऐसी परम्पराएं स्वयं अपनी मौत समाप्त न हो जाए। पर बहिनें अभी तक अपने पौरुष को जगा नही पाई है। मुझे तो यहां तक कहने मे कठिनाई नही कि इन गलत परम्पराओ को बहिने स्वयं अपने अज्ञान के कारण पोषण दे रही है।

काले कपड़े छोड़ दो

अजमेर में मैं एक सडक से होकर गुजर रहा था। कुछ विधवा बहिनें भी काले कपड़े पहिने साथ थी। सामने से एक वर राजा आ रहा था। ज्योंही उसने काल कपड़ों वाली बहिनो को दूर से देखा तो अपशकुन से बचने के लिए वह एक तरफ टल गया। उन काले कपड़ोवाली विधवा बहिनों के पीछे कुछ विधवा बहिनें सफेद कपड़ों मे भी थी। वर राजा ने उन्हे भी देखा पर उनसे बचने का उसने कोई प्रयास नही किया। मेरे मन मे तत्काल चिंतन आया कि बहिनें काले वस्त्र पहिनकर स्वयं अपना अपमान करवाती है। स्थान पर आकर मैंने विधवा बहिनों को सबोधित करते हुए कहा—"बहिनो ! तुम काले कपड़े पहिनना छोड़ दो। ये काले कपड़े पता नही दूसरे-दूसरे लोगो के लिए अपशकुन है या नही, पर तुम लोगो के लिए तो अवश्य ही अपशकुन है।" इस बात के साथ ही मैंने आज की सारी घटना सुनाई।

मूल्य जीवन की पवित्रता का

मैं जब विहार करता हूं तो हमारी विधवा बहिने सुहागिन बहिनों को आगे कर देती हैं और स्वयं पीछे हट जाती हैं। एक दिन मैंने इसका कारण पूछा तो उन्होने कहा—"ये सुहागिन बहिनें आपको शकुन देंगी।" मैंने पूछा—"क्या तुम अपशकुन देती हो ? तुम सात्त्विक और पवित्र जीवन जीती हो, धर्म की आराधना करती हो, फिर तुम्हारा अपशकुन कैसा !" बन्धुओ ! मेरी दृष्टि में विधवा और सुहागिन का उतना महत्त्व नही, जितना कि जीवन की पवित्रता एवं धर्माराधना का है।"

धर्मास्तिकाय की गति की बात कहते-कहते मैं प्रवाह मे बह गया। पर

मैं मानता हूं, ये बातें भी समय-समय पर प्रवचन में आनी आवश्यक हैं। मेरा दृढ विश्वास है कि जब तक समाज कुरूढ़ियों एवं अंधविश्वासों से मुक्त नही होता, तब तक उसका विकास असंभव है। इसलिए मैंने प्रसंगवश ये सारी बातें कही। आप लोग इन पर गहराई से चिंतन करें और कुरूढ़ियों से समाज को मुक्त करने की दिशा मे अपने चिंतन एवं विवेक को काम में लें। इसमे न केवल आपका और पूरे समाज का ही भला है, अपितु धर्म, धर्मगुरु और धर्मशासन का भी हित एवं गौरव समाविष्ट है।

गंगाशहर
१५ जुलाई, १९७८

अधर्मास्तिकाय की स्वरूप-मीमांसा

पांच अस्तिकाय द्रव्यों के अन्तर्गत 'धर्म' का विवेचन कल मैंने किया। दूसरा अस्तिकाय द्रव्य है—'अधर्म'।

स्थितिसहायोऽधर्मः।

स्थानगतानां जीवपुद्गलानां स्थितौ उदासीनभावेन अनन्यसहायकं द्रव्यं अधर्मास्तिकायः, यथा—पथिकानां छाया।

जीवपुद्गलानां गतिस्थित्यन्यथानुपपत्तेः, वय्वादीनां सहायकत्वेऽनवस्थादिदोषप्रसङ्गाच्च धर्माधर्मयोः सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम्। एतयोरभावादेव अलोके जीवपुद्गलादीनामभावः।

जीव और पुद्गलो की स्थिति मे सहायक होने वाले द्रव्य को 'अधर्म' कहते हैं। जिस प्रकार 'धर्म' जीव व पुद्गलों की गति मे उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी है, उसी प्रकार 'अधर्म' जीव व पुद्गलो की स्थिति मे उदासीन भाव से अनन्य सहयोगी द्रव्य है। प्रश्न पैदा होता है, गति मे तो दूसरे के सहयोग की अपेक्षा की वात समझ में आती है, पर स्थिति—ठहरने में भी दूसरे के सहयोग की वात का क्या तात्पर्य ? हां, जिस प्रकार गति-कार्य में सहयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार स्थिति मे भी अनिवार्य रूप से सहयोग अपेक्षित है। एक व्यक्ति चलते-चलते थक गया। वह विश्राम करना चाहता है। लेकिन चारों तरफ धूप-ही-धूप है। इसलिए वह ठहर नही सकता। चलता ही जाता है। चलते-चलते कही मार्ग मे छाया आ जाती है। छाया आते ही वह ठहर जाता है। यद्यपि ठहरने में उपादान कारण, जैसा कि मैंने कल भी वताया था, मूल होता है। पर निमित्त कारणों का भी कम महत्त्व नही है। रोटी वनाने के लिए आटा उपादान कारण है। उसके अभाव मे रोटी की कल्पना ही नही की जा सकती। पर केवल आटे से तो रोटी नही वनती। उसके लिए चूल्हा, तवा, वेलन, चकला…… वहुत-सी चीजें निमित्त कारण के रूप मे विद्यमान होनी जरूरी हैं। 'अधर्म' को भी हमे इसी रूप में समझना चाहिए। यद्यपि स्थिति में उपादान कारण तो जीव या पुद्गल स्वयं है, पर निमित्त कारण के रूप मे पथिक के लिए छाया की तरह 'अधर्म' सहयोगी है। जीव व पुद्गलो की स्थिति उसके विना कदापि

सम्भव नही है। इसलिए 'अधर्म' को जीव पुद्गलों की स्थिति में मध्यस्थ भाव से अनन्य सहयोगी माना गया है।

तीर्थंकरों की वाणी यथार्थ क्यों ?

हमारे सामने यह विवशता है कि हम 'धर्म' और 'अधर्म' को आंखों से देख नही सकते। क्योकि ये अमूर्त्त द्रव्य है। फिर भी हमें इसके अस्तित्व का विश्वास करना चाहिए। आगम-साहित्य में पृष्ठ-के-पृष्ठ इनके विवेचन से भरे पड़े है। आगमो के प्रवचनकार केवलज्ञानी थे। उन्होने अपने आत्म-ज्ञान के द्वारा जो देखा, वही संसार को वताया। इसलिए आगम वाणी की यथार्थता मे संदेह करने की किंचित् भी गुंजाइश नही है। झूठ कौन वोलता है ?

'क्रोधाद्वा लोभाद्वा हासाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्यतु नैते दोषाः तस्याऽनृतं करणं किं स्यात् ?'

व्यक्ति क्रोध, लोभ और हास्य के वशीभूत होकर झूठ वोलता है। जिस व्यक्ति में ये दोप नही, वह झूठ क्यो वोलेगा ? हमारे आगम-प्रवचनकार वीतराग प्रभु भी इन सव दोपो से सर्वथा मुक्त है। अतः उनकी वाणी असत्य कैसे हो सकती है ? इसके साथ ही एक वात यह भी महत्त्वपूर्ण है कि जव उनकी और-और वाते सत्य सावित हुई हैं तो इस कथन की यथार्थता में सन्देह कैसे किया जा सकता है ?

तीर्थंकरो ने कहा, वोलने के साथ ही हमारे शव्द सारे लोक में फैल जाते हैं। उनके इस कथन को दूसरे-दूसरे लोग मानने को तैयार नही थे। पर आज उनकी वात शत-प्रतिशत सत्य प्रमाणित हो रही है। रेडियो उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह प्रमाण है, उनकी सर्वज्ञता का। दूसरा उदाहरण वताऊं। जैन तीर्थङ्करों ने वनस्पति को सजीव वताया। पर लोग वनस्पति को सजीव नही मानते थे। उनको तीर्थङ्करों का यह कथन अयथार्थ प्रतीत होता था। पर जव डॉ० जगदीशचन्द्र वसु ने एक लम्वे समय के अनुसन्धान के पश्चात् यह प्रमाणित किया कि वनस्पति भी जीव है, उसमें सुख-दुःख की अनुभूति है, वह हंसती है, रोती है.......। तव लोगों को भगवद्-वाणी की यथार्थता को स्वीकार करना पड़ा। इस तरह की एक-दो नहीं, अपितु वीसियो वातें वताई जा सकती है, जिन्हे लोग यथार्थ नही मानते थे, पर वे वैज्ञानिक प्रयोगो के द्वारा शतशः सत्य सावित हुई है। इस माने में हमें विज्ञान का ऋणी रहना चाहिए। साथ ही हमें अपनी कमजोरी भी ऋजुतापूर्वक स्वीकार करनी चाहिए कि हम इन सव वातों को यथार्थ मानते हुए भी प्रयोग के धरातल पर सत्य सावित करने मे असफल रहे।

तीर्थङ्करों की वाणी की यथार्थता मे आज संदेह करने की कोई

गुंजाइश नहीं रही है। अतः 'धर्म' और 'अधर्म' के अस्तित्व को नकारने का कोई कारण नहीं है।

वस्तु के अस्तित्व का आधार

'धर्म' व 'अधर्म' यद्यपि हमें दिखाई नही देते फिर भी उन्हें अस्वीकार न करने का एक कारण यह भी है कि उनके गुण हमारे समाने प्रत्यक्ष हैं। गुणी के विना गुण का कोई अस्तित्व नही होता। इस दृष्टि से जव 'धर्म' और 'अधर्म' के गुण हमारे सामने प्रयत्क्ष है तो उनके अस्तित्व को स्वीकार करना ही होगा। एक व्यक्ति हमे दिखाई नही देता, पर उसकी आवाज सुनाई देती है। ऐसी स्थिति मे क्या हम उस व्यक्ति के अस्तित्व को नकार सकेगे? कभी नही। इसलिए दिखना या न दिखना वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार करने के लिए अनिवार्य शर्त नहीं हो सकती।

आगमकार कहते है, 'धर्म' और अधर्म' के अस्तित्व को स्वीकार करना चाहिए, अन्यथा जीव व पुद्‌गलों की गति और स्थिति नही हो सकती। कहा जा सकता है कि गति मे तो वायु, पानी आदि भी सहयोगी हैं, फिर 'धर्म' को ही सहयोगी क्यों माना जाए? यहां प्रतिप्रश्न पैदा होगा, चूंकि वायु स्वयं गतिशील है, अतः वायु की गति मै कौन सहयोगी है?' यदि कहा जाय 'सूक्ष्म वायु' तो पुनः प्रश्न होगा कि 'सूक्ष्म वायु' की गति मे सह-योगी कौन? इस प्रकार हम चलते ही जाएं, पर कही अन्त नही होगा और ऐसा करने से 'अनवस्था दोप' आ जाएगा। इसलिए हमे कोई न कोई ऐसे द्रव्य को स्वीकार करना ही होगा, जो स्वयं स्थिर होकर दूसरो को गति दे। आपको ख्याल होना चाहिए कि गतिशील पदार्थ कभी भी दूसरों को गति प्रदान नही कर सकता। स्थिर पदार्थ ही दूसरो को गति प्रदान कर सकता है। पटरी रेलगाडी को गति प्रदान करती है, पर वह स्वयं स्थिर होती है। यदि वह स्वयं गतिशील वन जाए तो गाड़ी की कैसी गति होगी, इसे वताने की अपेक्षा नही। ये सीढ़ियां हमारे चढने-उतरने मे सहयोगी वनती हैं। पर सहयोगी तभी हैं, जव स्वयं स्थिर है। यदि स्वय गतिशील हो तो ये हमारे चढने-उतरने मे सहयोगी नही वन सकती। इसलिए लोक के सभी जीव व पुद्‌गलों की गति मे 'धर्म' के अस्तित्व को मानना ही होगा। इसी प्रकार जीव और पुद्‌गलों की स्थिति मे 'अधर्म' के अस्तित्व को स्वीकार करना होगा। ('धर्म' और 'अधर्म' स्वयं अगतिशील द्रव्य हैं।)

लोक मे 'धर्म' और 'अधर्म' दोनो सर्वत्र व्याप्त हैं। अलोक मे केवल आकाश ही है। जीव और पुद्‌गलों का वहा सर्वथा अभाव है। पूछा जा सकता है, ऐसा क्यों? इसका समाधान यही है कि अलोक मे 'धर्म' व 'अधर्म'

नहीं है और 'धर्म' एवं 'अधर्म' के अभाव में वहां गति व स्थिति नही है। यदि अलोक में 'धर्म' व 'अधर्म' होते तो वहां भी जीव व पुद्गल अवश्य होते। पर ऐसी स्थिति मे वह अलोक होता ही नहीं। वह अलोक इसीलिए तो है कि वहां आकाश के सिवाय और कुछ भी नही है।

'धर्म' व 'अधर्म' द्रव्य की अपेक्षा से एक-एक द्रव्य, क्षेत्र की दृष्टि से, जैसा कि अभी-अभी बताया, लोकपरिमाण है। यानी पूरे लोक मे व्याप्त है। काल की दृष्टि से वे अनादि-अनन्त और भाव की दृष्टि से अरूपी है।

गंगाशहर
१५ जुलाई, १९७८

आकाश को जानें

पंचास्तिकाय के प्रतिपादन के क्रम मे 'धर्म' और 'अधर्म' का विवेचन मैंने पिछले प्रवचनों में किया। तीसरा द्रव्य है—'आकाश'।

अवगाहलक्षण आकाशः ।

अवगाहः—अवकाशः, आश्रयः स एव लक्षणं यस्य स आकाशास्तिकायः । दिगपि आकाशविशेषः न तु द्रव्यांतरम् ।

'आकाश' को सभी दर्शन और दार्शनिक मानते हैं । कोई भी ऐसा दर्शन या मत नही है, जो आकाश के अस्तित्व को नकारता हो। यद्यपि आंखों से हम 'आकाश' को देख नही सकते, क्योंकि यह अमूर्त द्रव्य है, फिर भी 'आकाश' का अस्तित्व जाना सकता है। अवगाह एक ऐसा लक्षण है, जो 'आकाश' के अस्तित्व को प्रकट करता है। अवगाह का अर्थ है—अवकाश/आश्रय। यदि 'आकाश' नही हो तो हम कहां ठहरें ? ससार के सभी जड़-चेतन पदार्थों को आश्रय देने वाला तत्त्व 'आकाश' ही है।

आकाश कहां है ?

आप पूछेंगे, 'आकाश' कहा है ? मैं पूछता हू, 'आकाश' कहां नही है ? और यह प्रतिप्रश्न ही पूर्व प्रश्न का उत्तर है । क्योकि 'कहां है ?'—यह प्रश्न तभी पूछा जा सकता है, जब पदार्थ कही हो और कही न हो। पर जो चीज सर्वत्र व्याप्त हो, उसके लिये यह प्रश्न कोई अर्थ नही रखता। 'आकाश' समूचे लोक और अलोक में व्याप्त है। 'आकाश' को नीला कहा जाता है। पर यह साहित्य की भाषा है, आगम की नही। आगम की भाषा मे 'आकाश' अरूपी है। फिर वह नीला कैसे हो सकता है ? हमे जो 'आकाश' नीला दिखाई देता हे, उसका कारण दूरी है। निकट जाने पर वह नीला नही रहता। दूसरी बात यह है कि दिखाई देने वाला वस्तुतः 'आकाश' नही, अपितु परमाणु-पिण्ड है।

दिशाएं क्या हैं ?

'आकाश' को कोई जाने या न जाने, पर दिशाओं को तो सभी जानते है। जैन आगमों में चार, दश, और अठारह दिशाओ का वर्णन प्राप्त है।

को पाप-कर्मों से भारी बना ही लिया। उन कर्मों को भुगतने के लिए उसे नरक में भी जाना पड़ सकता है। इसीलिए यह सिद्धांत अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि दूसरों को दिया जानेवाला दुःख स्वयं का ही दुःख बनता है। दूसरों को पहुंचाई गई पीड़ा स्वयं की ही पीड़ा बनती है। भगवान महावीर ने इस सूत्र का प्रतिपादन कर समूचे प्राणी जगत् के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लिया। काश ! अहिंसा और मैत्री के इस सिद्धांत को मानव जाति समझ पाती। पशु-पक्षी जगत् को हम यह सिद्धांत नहीं समझा सकते। पर मनुष्य को भी यह सिद्धांत नही समझा सके—यह हमारी कितनी बड़ी कमजोरी है ! बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि जिस बात को व्यक्ति स्वयं के लिए नही चाहता, उसी बात को दूसरों के लिए करते हुए उसे जरा भी संकोच और दर्द नही होता। व्यक्ति स्वयं के लिए सुख चाहता है, पर दूसरों का सुख छीन लेता है। व्यक्ति स्वयं दुःख नही चाहता पर दूसरो के लिए दुःख उत्पन्न कर देता है। मनुष्य जाति के लिए सचमुच यह अत्यन्त गौरव की बात होती, यदि वह पराए दुःख को अपना दुःख समझना सीख जाती। सभी धर्म-शास्त्रों ने मैत्री व अहिंसा के इस सिद्धात की चर्चा की है। उसे महिमामंडित किया है। क्योकि अहिंसा व मैत्री ही धर्म की बुनियाद है। इसके बिना धर्म कही टिक नही सकता।

आदर्श की बातें और व्यवहार

संसार के सभी महापुरुषों व धर्मगुरुओं ने धर्म के ऊंचे-ऊंचे आदर्शों की बात कही। उन आदर्शों व सिद्धांतों के आधार पर सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर यह बहुत महत्त्व की बात नहीं कि किस धर्म में कितनी ऊंची-ऊंची बातें कही गई है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म के उन आदर्शों को जीवन मे कहां तक उतारा जाता है। यदि व्यक्ति के जीवन-व्यवहार में अपने धर्म के ऊंचे-ऊंचे आदर्श नही आए तो केवल उन आदर्शों के आधार पर अपने धर्म का गौरव गाना बहुत मूल्यवान् नहीं है।

आचार्यजी ! आपने बाइबिल पढी है ?

एक घटना-प्रसंग मेरी स्मृति में आ रहा है। मैं बिहार प्रान्त की यात्रा पर था। हजारों-हजारों लोग बिना किसी जाति, वर्ग, संप्रदाय आदि के भेद-भाव के अणुव्रत की बात को सुनने के लिए प्रवचनों मे उपस्थित होते थे। एक दिन कुछ ईसाई पादरी भी प्रवचन सभा में उपस्थित हुए। प्रवचन-समाप्ति के पश्चात् एक पादरी मेरे पास आए और प्रशंसा का पुल बांधते हुए बोले—"आचार्यजी ! आज तो आपने प्रवचन क्या किया, कमाल ही कर दिया !"

मैं समझ गया, यह प्रशंसा किसलिए है। वस्तुतः प्रशंसा एक ऐसा साधन है, जिसके द्वारा बड़े-से-बड़े आदमी को आकर्षित कर भटकाया जा सकता है। संसार मे ऐसे व्यक्ति वहुत मिल जाएंगे, जो अपनी निंदा सुनकर भी अप्रसन्न न हों, पर ऐसे व्यक्ति थोडे ही मिलेगे, जो अपनी प्रशंसा सुनकर न फूलें। हां, तो पादरी साहव ने मेरे प्रवचन की खूव प्रशसा की। मैंने मध्य-स्थ भाव से उनकी वात सुन ली। मेरे पर उनकी प्रशंसा का कोई विशेप असर नही हुआ। अव पादरी साहव अपनी मूल वात पर आए। उन्होंने पूछा—"आचार्यजी ! आपने वाइविल पढ़ी है ?"

"हां, पढी है।"—मेरा संक्षिप्त-सा उत्तर था।

"नही, पूरी पढ़ी या नही ?"—पादरी साहव का अगला प्रश्न था।

"हा, काफी देखी है।"

"वाइविल के महाप्रभु क्राइस्ट ने एक वहुत ऊची वात कही है।"

"हा, वाइविल में वहुत अच्छी-अच्छी वाते है।"—मैंने सहजभाव से कहा।

"नही-नही, महाप्रभु क्राइस्ट ने एक ऐसी वात कही है, जो अन्यत्र मिलनी असंभव है।"—पादरी साहव ने अभिमान के स्वरो में कहा।

"आखिर वह वात है क्या ?"—मैंने जिज्ञासा की।

"महाप्रभु क्राइस्ट ने कहा है कि मित्र के साथ तो मित्रता का व्यवहार करो ही, पर शत्रु के साथ भी मित्रता का व्यवहार करो। कितनी ऊंची वात है ! क्या आपने इतनी ऊंची वात अन्यत्र कही पढी है ?"—पादरी साहव की आंखों में चमक आ गई।

मुझे-पादरी साहव का यह साम्प्रदायिक अहं उचित नही लगा। इस अहं को विगलित करने के लिए मैंने कहा—"फादर साहव ! मैंने भगवान महावीर की वाणी मे एक इससे भी ऊंची वात पढी है।"

"इससे ऊंची वात ! यह कभी भी संभव नही।"—पादरी साहव मेरी वात सुनने तक को तैयार नही हुए।

"परंतु जो है, उसे कैसे नकारा जा सकता है ?"—उनके चिंतन को झकझोरते हुए मैंने कहा।

"लेकिन ऐसा कभी हो ही नही सकता।"—पादरी साहव अव भी अपनी वात पर पूर्ववत् खडे थे।

"यदि आप सुनना चाहें तो मैं वह वात सुनाना चाहता हू।"—अपने उद्देश्य तक पहुंचने के लिए मैंने कहा।

"कहिए।"—अन्यमनस्क-भाव से धीमे स्वर मे वे वोले।

अपने-अपने अनुयायियों को धर्म का सही मर्म बताकर उसे उनके जीवन-व्यवहार में प्रवेश करवाएं।

सुख-प्राप्ति का मार्ग

एक सूत्र में यदि कहूं तो दूसरों को दुःख न देना ही धर्म है। कोई किसी को सुखी बना सके, यह किसी के हाथ की बात नहीं। सम्भव यही है कि कोई किसी को दुःखी न बनाए। कोई किसी को जिला सके, यह सर्वथा असम्भव बात है। पर कोई किसी को मारे नहीं, यह अहिंसा और मैत्री का व्यावहारिक एवं संभावित रूप है।

भगवान महावीर से पूछा गया—भन्ते ! सातवेदनीय कर्म बंध का क्या कारण है? समाधान की भाषा में भगवान ने कहा—प्राण-भूत-जीव-सत्त्व को दुःख न देना, पीड़ित नहीं करना, न सताना, अनुतापित नहीं करना सातवेदनीय बंधन का कारण है। भगवान ने यह कभी नहीं कहा कि दूसरे प्राणियों को सुख देने से सातवेदनीय कर्म का बन्धन होता है। इसलिए तत्त्व यही है कि दूसरों को दुःख न देना ही सुख-प्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। सचमुच यह गहरा तत्त्व है। इसकी गहराई में बहुत कम लोग पहुंच पाते हैं। अधिकांश लोग तो किसी को सामान्य-सा सहयोग देकर सुख पहुंचाना मान लेते हैं।

जन्म-मरण, जैसा कि मैंने कहा, बहुत बड़ा दुःख है और दुःख से सब छुटकारा चाहते हैं। इसलिए भगवान ने धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। त्याग, तप, संयम आदि के द्वारा हम जन्म-मरण की शृंखला को सदा-सदा के लिए तोड़कर शाश्वत सुख को प्राप्त करें—इसी भावना के साथ विराम लेता हूं।

गंगाशहर
१६ जुलाई, १९७८

लोक स्थिति : एक विश्लेषण

आकाश का विवेचन कल मैंने प्रारम्भ किया था। आकाश के दो भाग हैं—

लोकोऽलोकश्च ।

१. लोक

२. आलोक।

प्रश्न है, लोक किसे कहते हैं ?

षड्द्रव्यात्मको लोकः ।

अपरिमितस्याकाशस्य षड्द्रव्यात्मको भागः लोक इत्यभिधीयते । स च चतुर्दशरज्जुपरिमाण,: सुप्रतिष्ठकसंस्थानः, तिर्यग् ऊर्ध्वोऽधश्च । तत्र अष्टादशशतयोजनोच्छ्रितोऽसंख्यद्वीपसमुद्रायामस्तिर्यक् । किञ्चिन्न्यूनसप्त-रज्जुप्रमाण ऊर्ध्वः । किञ्चिदधिकसप्तरज्जुप्रमितोऽधः ।

लोक का स्वरूप

'लोक' वह आकाश है, जिसमे आकाश के अतिरिक्त धर्म, अधर्म, जीव पुद्गल और काल—ये पाच द्रव्य और पाए जाएं। दूसरे शब्दों मे जिस आकाश मे छहो द्रव्य प्राप्त है, वह 'लोक' कहलाता है।

'लोक' आकाश का बहुत छोटा-सा भाग है। इसको आप एक स्थूल उदाहरण से समझें। यह सामने शामियाना है। इस शमियाने मे कंही चार अगुल की कोई कारी लगा दी गई। इतने बडे शामियाने मे चार अंगुल की कारी का अस्तित्व नही के बराबर है। बस, आकाश मे 'लोक' इस कारी जितना ही है, शेप सारा 'अलोक' है। निष्कर्ष यह है कि 'अलोक' की तुलना मे 'लोक' बहुत ही छोटा है। पर छोटा होकर भी 'लोक' दूसरी दृष्टि से बहुत बडा है। क्योंकि अनन्त-अनन्त जीव और पुद्गल इसी लोक मे समाए हुए हैं।

प्रश्न होगा, 'लोक' की सीमा क्या है ? 'लोक' चौदह रज्जु का है। रज्जु यानी रस्सी। पर यह रस्सी कोई सामान्य छोटी-मोटी रस्सी नही है। असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र समा जाएं उतना बड़ा एक रज्जु होता है।

आपको यह सुनकर विस्मय नही होना चाहिए। क्योंकि आज विज्ञान ने इससे भी अधिक-अधिक विस्यकारी बाते जगत् के सामने रखी है। लोक की यह सीमा, जो चौदह रज्जु की बताई गई है, ऊपर से नीचे की लम्बाई की है।

लोक को तीन भागों में विभक्त किया गया है—

१. ऊर्ध्व लोक।

२ अधोलोक।

३. तिर्यक् लोक।

ऊर्ध्व लोक सात रज्जु से कुछ कम का है। अधोलोक सात रज्जु से कुछ अधिक का है। तिर्यक् लोक अठारह सौ योजन का है। इन तीनों को मिलाकर चौदह रज्जु होता है। यह चौदह रज्जु का लोक सातवें नरक—महातम :प्रभा के नीचे से प्रारंभ होकर सिद्धशिला के अन्तिम छोर तक है। इसके दो भाग है। हम मध्य-लोक के जिस भाग मे हैं, उससे ऊपर नौ सौ योजन तथा नीचे नौ सौ योजन है। हमारे यहां एक लोकपुरुष की भी कल्पना की गई है। लोकपुरुष का आकार वर्तमान 'जैन-प्रतीक' के समान है। यह सारा विवेचन मैं जैन भूगोल-खगोल के आधार पर कर रहा हूं।

प्रश्न उपस्थित होगा, क्या भूगोल-खगोल भी जैनों का, बौद्धों का वैदिकों का""""अलग-अलग होता है ? भूगोल-खगोल तो अलग-अलग नहीं होता पर उसे बतलानेवाले अलग-अलग है। इसलिए उनके माप में कही-कही अन्तर है। हमें अपने शास्त्रों में प्राप्त भूगोल-खगोल का ज्ञान होना चाहिए। अन्यथा दूसरे-दूसरे लोगो की मान्यताओ से हम अपनी मान्यताओं की तुलना कैसे कर सकेंगे और कैसे उसके अन्तर को समझ पाएंगे ?

लोक की स्थिति

बन्धुओ ! इस लोक की स्थिति बडी विचित्र है। जीव अपने कर्मों के कारण इस लोक में विभिन्न अवस्थाओं से होकर गुजरता है। कही जन्म है। कही मरण है। कही नृत्य है। कही नाटक है। कोई रोता है। कोई हंसता है।......................................ससार के प्रत्येक प्राणी ने लोक का चप्पा-चप्पा छाना है। लोक का ऐसा कोई भी क्षेत्र नही, जहां जीव अनन्त-अनन्त वार न जनमा हो। आपको जिज्ञासा होगी कि इस लोक का कभी अन्त भी पाया जा सकता है या नही ? हा, अन्त तो पाया जा सकता है। पर प्रश्न तो यह है कि सच्चे दिल से इसका अन्त चाहता कौन है ? सब चक्कर खाना चाहते है। यदि वास्तव मे ही सच्चे दिल से भवभ्रमण से मुक्त होने की तमन्ना जग जाए तो यह असम्भव नही है। हमारे तीर्थंकरों ने इस दिशा में हमारा मार्ग-दर्शन किया है। अहिंसा, सत्य, प्रेम, करुणा, मैत्री, प्रमोद""की साधना भवभ्रमण से मुक्ति का रास्ता है। इस मार्ग पर चलने-

वाले को दुःख का काम ही नहीं, केवल चैन-ही-चैन है।

वन्धुओ ! मुझे तो इस वात की वड़ी हंसी आती है कि लोग इस ससार में सुख देखते है, जवकि वास्तविकता यह यह है कि संसार दुःखमय है। किसी भी प्राणी ने आज तक इस इस संसार मे कभी सुख पाया नही और भविष्य मे कभी कोई पा नही सकेगा। जो व्यक्ति इस वास्तविकता से परिचित हो जाता है, उसे संसार से विरक्त होते समय नही लगता। विरक्त होने का अर्थ है—फिर वह इस संसार मे भटकता नही, वहुत जल्दी उसका पार पा लेता है।

प्रसंग रामायण का

प्राचीन काल मे यह आम पद्धति रही थी कि वड़े-वड़े राजे, महाराजे, और धनकुवेर संसार की वास्तविकता से परिचित होकर एक अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् संन्यास स्वीकार कर लेते। संसार के प्रति उनकी आसक्ति समाप्त हो जाती। मुझे रामायण का एक प्रसग याद आ रहा है। राजा अपने महल मे वैठा केशों को संवार रहा था। महारानी भी वहीं पर उपस्थित थी। सहसा महारानी ने चौकने के अंदाज मे कहा—"महाराज ! दूत आ गया।"

राजा भी चौका। उसने नजर घुमाकर चारो तरफ देखा। पर उसे कोई भी व्यक्ति दृष्टिगोचर नही हुआ। जरा झुंझलाते हुए उसने महारानी से कहा—"तुम क्या स्वप्न मे वात कर रही हो ! यहां तो कोई भी दूत नही आया है। और आए भी तो कैसे ? महल के दरवाजे पर सशस्त्र पहरेदार जो खड़े है।"

"महाराज ! आप माने या माने पर दूत तो आ गया है।"—महारानी ने अपनी वात दोहराते हुए कहा।

राजा ने सोचा, जव रानी कह रही है तो अवश्य कोई दूत आया होगा। शायद वह वाहर खडा होगा, जिससे मुझे दिखाई नही दे रहा है। अतः उसने महारानी से कहा—"कौन दूत आया है ? उसे मेरे सामने उपस्थित करो।"

महारानी ने राजा के सिर से एक सफेद केश उखाडा और यह कहते हुए कि यमदूत आ गया है, उसे राजा के हाथ मे थमा दिया।

राजा ने मर्म को समझा और वह चिन्तातुर हो गया। चिन्तातुर यह सोचकर नही कि वुढापा आ गया है या मौत सन्निकट है, वल्कि इसलिए कि कुल की परम्परा का लोप हो रहा है। अयोध्या के राजकुल की यह परम्परा रही थी कि आज तक जितने भी राजा वने, उन्होने सफेद केश आने से पूर्व संसार को त्याग दिया। सफेद केश के इस सकेत मात्र से राजा के मन मे वैराग्य-भावना जागृत हो गई और वह सन्यस्त हो गया।

बन्धुओ ! आज की स्थिति तो बड़ी विचित्र है। सफेद केश आने से तो जागृत होता ही कौन है, सारे दात गिर जाने के बाद भी आदमी पुनः शादी करने की बात सोचता है। फिर भी विरक्त होनेवालों की सर्वथा नास्ति नही है। इस स्थिति मे भी कुछ लोग समय-समय पर लोक की वास्तविकता से परचित होकर उससे विरक्त होते है। भव-भ्रमण से मुक्ति की दिशा मे चरण गतिशील करते है। आप भी लोक को समझें, लोक की वास्तविकता को समझे और समझ कर श्रेय-पथ की ओर अग्रसर हों—इसी भावना के साथ प्रवचन सम्पन्न करता हू।

गंगाशहर
१७ जुलाई, १९७८

सृष्टि क्या है ?

आकाशास्तिकाय के विवेचन के अन्तर्गत 'लोक' का वर्णन कल मैंने किया। 'लोक' के तीन भाग बताए गए है—

१. ऊर्ध्व लोक

२. अधोलोक

३. मध्यलोक।

जिज्ञासा हो सकती है कि किस-किस लोक मे कौन-कौन-से प्राणी बसते हैं ?

विविधताओं का संगम स्थल

ऊर्ध्व लोक मे मुख्य रूप से वैमानिक देवों का प्रवास है। अर्थात् बारह कल्पोपन्न और चौदह कल्पातीत देव—नौ ग्रैवेयक व पांच अनुत्तर विमान ऊर्ध्व लोक में रहते है। ऊर्ध्व लोक के ऊपर सिद्धशीला है।

अधोलोक में सात नरक—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूम प्रभा, तम.प्रभा और महातमः प्रभा के जीव तथा असुरकुमार नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्ण कुमार, अग्निकुमार, वातकुमार स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार—ये दस प्रकार के भवनपति देव रहते हैं।

मध्यलोक मे मनुष्य, पक्ष-पक्षी तथा ज्योतिष्क एवं व्यन्तर देव रहते है। व्यन्तर देव भूत, पिशाच, राक्षस आदि हैं। यद्यपि वे मध्यलोक में ही हैं, पर हमारे से नीचे है। जैसा कि मैंने कल बताया था, हम मध्यलोक के बीच मे है। हमारे से ऊपर नौ सौ योजन यथा नीचे नौ सौ योजन का क्षेत्र है। व्यन्तर देव नीचे के नौ सौ योजन के क्षेत्र मे रहते है। इसी प्रकार ज्योतिष्क देव हमारे से ऊपर के नौ सौ योजन के भाग मे प्रवास करते हैं। इसके अतिरिक्त पांच स्थावर जीव—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति समूचे लोक में भरे पड़े है। लोक का ऐसा कोई भी भाग नही, जहा स्थावर जीवो का प्रवास न हो।

लोक सर्वत्र विविधताओं से भरा है। कही नगर है। कही गांव है।

कही पर्वत है। कही समुद्र है। कही सूखा है। कहीं हरा-भरा मैदान है।....

सब कुछ तर्कगम्य नहीं

आप कहेगे, एकरूपता क्यो नही ? मैं मानता हूं एकरूपता का अपना महत्त्व है तो विविधता का भी अपना महत्त्व है। बगीचे मे एक जैसे सैकड़ो पेड सुन्दर लगते है तो जगल विभिन्न प्रकार के वृक्षो और विभिन्न प्रकार की घासो से ही मनोरम लगता है।

जीवपुद्गलयोर्विविधसंयोगैः स विविधरूप.।
इयं विविधरूपता एव सृष्टिरिति कथ्यते।

लोक मे जीव और पुद्गल भरे पड़े है। जीव और पुद्गलो का विविध रूपो मे सयोग होना, लोक विविधता का कारण है। यह विविधता सदा से चलती आई है और सदा चलती रहेगी। इस विविधता को हम सृष्टि, ससार, जगत् या चराचर कहते है। आप पूछेंगे, लोक की यह स्थिति क्यो ? इस 'क्यो' का मेरे पास कोई उत्तर नही है। 'क्यो' का उत्तर केवल तर्कसिद्ध बातो का दिया जा सकता है, प्रकृति की बातों का नही। और यह विविधता प्रकृति की बात है। कोई पूछे कि मोर की पांखों मे विविध रंग होते हैं, कबूतर की पांखों में वे सब रंग क्यो नही ? पुरुप के दाढ़ी और मूंछ होती है, स्त्री के क्यों नही ? ऐसे प्रश्नो का कोई उत्तर नही होता। क्योंकि ये प्रकृतिगत/स्वभावगत बातें है। इन्हे हम तर्क से नही समझ सकते। तर्क तो कुरेदने के लिए होती है। समझने के लिए श्रद्धा ही महत्त्वपूर्ण है। अलबत्ता मै तर्क का सर्वथा खंडन नही करता, वह भी एक सीमा तक उपयोगी है, पर सभी जगह तर्क नही होनी चाहिए।

शाश्वत : सीमामुक्त

सृष्टि को समझने के लिए यह भी समझना जरूरी है कि जीव और पुद्गल का संयोग कब हुआ ? पहले जीव हुआ या पुद्गल ?

संयोगश्चापश्चानुपूर्विकः।

इस प्रश्न के समाधान में भगवान ने कहा, जीव और पुद्गल दोनो शाश्वत हैं। इनमे पौर्वापर्य नही है। अर्थात् ये दोनों सदा से है और सदा रहेगे। कोई पहले नही, कोई पीछे नही। शास्त्रों में इस प्रकार के अनेक प्रश्न आए है। पहले मुर्गी या अण्डा ? पहले बीज या वृक्ष ? अण्डे के बिना मुर्गी नही और मुर्गी के बिना अण्डा आया कहां से ? बीज के बिना वृक्ष नही और वृक्ष के बिना बीज पैदा कैसे हुआ ? इन सबका उत्तर 'अपश्चानुपूर्व' हैं। अर्थात् इनमें पूर्व और अपर का क्रम नही है। ये दोनों शाश्वत भाव है। इस सृष्टि को भी जैन-दर्शन मे अपश्चानुपूर्व माना गया है।

विज्ञान मानता है कि मनुष्य से पशु पहले हुए। मनुष्य वनमानुप की संतान है। पर मैं समझता हूं, यह वास्तविकता नही है। आप देखे, आज लाखों-लाखों बन्दर और वनमानुप है। यदि मनुष्य वनमानुप की सतान है, तव फिर क्यों नही कोई वन्दर या वनमानुप मनुष्य उत्पन्न करता ?

वैचारिक सहिष्णुता

कुछ दार्शनिक मानते है कि सृष्टि को ईश्वर ने पैदा किया है। यहा वही प्रश्न पुनः पैदा होगा कि ईश्वर को किससे पैदा किया ? यदि कहा जाए कि उसे तो किसी ने पैदा नही किया, वह तो शाश्वत है, तव फिर सृष्टि को ही शाश्वत मानने मे क्या आपत्ति है? फिर भी मैं ये विचार किसी पर थोपना नही चाहता। मेरी दृष्टि में धार्मिक व्यक्ति को कभी कोई ऐसी वात नही करनी चाहिए, जो दूसरों को पीड़ा पहुचाए। अपनी वात दूसरो को दृढता के साथ वताई जाए, इसमे कोई कठिनाई नही। पर अपनी वात मनवाने के लिए दवाव डालना, संघर्ष करना किसी भी दृष्टि से उचित नही। क्योकि धर्मक्षेत्र में वितंडावाद/लड़ाई-झगडे को कोई स्थान नही है। यहा तो एकमात्र हृदय-परिवर्तन का मार्ग ही मान्य है। मैं मानता हू, धर्म के नाम पर कही भी किसी प्रकार का संघर्ष या लड़ाई-झगडा होता है तो वह समूचे धार्मिक जगत् के लिए वहुत वड़ा कलंक सिद्ध होता है। हर धर्म के अधिकारियों एवं अनुयायियों को यह सोचना चाहिए कि अपने विचारो मे वे जितने स्वतन्त्र हैं, उतने ही स्वतन्त्र दूसरे भी है। इस स्थिति मे विरोधी विचारों को सुनकर विवाद करना या संघर्ष करना कभी भी श्रेयस्कर नही हो सकता।

प्रसंग महात्मा गांधी और कस्तूर वा का

महात्मा गांधी ने अस्पृश्यता-निवारण की वात उठाई। हजारो-हजारो लोगों के विचार उन्होंने वदले। पर अपनी धर्मपत्नी कस्तूर वा को वे समझाने मे असफल रहे। गांधीजी ने कहा—"सव अपने विचार रखने मे स्वतन्त्र हैं, फिर मैं इसकी इस स्वतन्त्रता को क्यो छीनूं ?" फिर भी वे वरावर अपनी पत्नी को समझाने का प्रयास करते रहे। आखिर समझाते-समझाते वे थक गए, पर कस्तूर वा के विचारों मे कोई परिवर्तन नही आया। गांधीजी को दो क्षण के लिए उत्तेजना आ गई। उन्होने कहा—"और सवको अपनी वात समझाना सरल है, पर कस्तूर वा को समझाना कठिन ही नही महा कठिन है।" पर दूसरे ही क्षण वे संभल गए और तत्काल वोले—"चाहे कस्तूर वा को मेरी वात समझ मे आए या न आए पर पत्नी के रूप मे तो मैं जन्म-जन्मान्तरों तक कस्तूर वा को ही चुनता रहूगा।"

वन्धुओ! यह वैचारिक सहिष्णुता का सूत्र धार्मिको को अवश्य

अपनाना चाहिए। जब धार्मिक लोग भी छोटे-छोटे विचार-भेदों के लिए संघर्ष करेंगे तो अधार्मिको की तो बात ही क्या ? मैं यह बात किसी संप्रदाय-विशेप को लक्ष्य करके नही, अपितु सामूहिक रूप में कह रहा हूं। मेरा निश्चित अभिमत है कि यदि धार्मिक क्षेत्र से यह बुराई समाप्त हो जाए तो धर्म का रूप बहुत अधिक निखार पा सकेगा।

गंगाशहर
१८ जुलाई, १९७८

सृष्टिवाद : एक विवेचन

सृष्टि का वर्णन मैंने कल किया। सृष्टि का प्रारभ कैसे हुआ ? इस प्रश्न पर विभिन्न दर्शनों का अलग-अलग अभिमत है। जैसा कि कल बताया गया, कुछ लोग मानते है कि सृष्टि ईश्वर द्वारा निर्मित है। कुछ लोग ऐसा भी मानते है कि सृष्टि एक अण्डे से पैदा हुई है। और भी अनेक मत इस सम्बन्ध में हो सकते है। जैन दर्शन के अनुसार जीव और पुद्गल का विविध रूप में विशेष संयोग ही सृष्टि है और यह संयोग पौर्वापर्यरहित है।

संस्कृति को सुरक्षा करें

किन्तु कभी-कभी एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर इतना गहरा असर आ जाता है कि लोग अपनी मूल सस्कृति को भूल जाते है और दूसरी संस्कृति के प्रवाह में बहने लगते हैं। जैन दर्शन की मान्यता है कि प्राणी सुख-दुःख स्वकृत कर्मों के कारण ही प्राप्त करता है। कोई ईश्वर या भगवान किसी को सुख-दुःख नही देता। व्यक्ति अपने कृतकर्मों के कारण ही संसार मे जन्म-मरण करता है। जिस दिन वह कर्मों की शृखला को तोड़ देता है, उस दिन वह संसार से मुक्त हो जाता है। पर बहुत-सारे जैन लोग पत्रों में लिखते है कि मैं ईश्वर से आपके दीर्घ आयुष्य की प्रार्थना करता हू। परम-पिता परमश्वर से अरदास करता हूं कि आपको सुखी बनाएं। मैं पूछना चाहता हू, क्या यह जैन दर्शन की मान्यता के विपरीत नही है ? इसी प्रकार बहुत सारे जैनी, जब उन्हे व्यापार में लाभ होता है, कहते है—रामजी राजी हैं। ईश्वर की कृपा है।..........मैं नही समझता, क्या ईश्वर की भी किसी पर अकृपा होती है ? क्या वे कभी नाराज होते है ? वास्तव मे ईश्वर तो समदर्शी होते है। फिर उनकी कृपा या अकृपा होने की बात का कोई औचित्य नही है।

कुछ लोग थोडा-सा नुकसान होने पर भगवान को कोसने लगते है—हा ! भगवान ने बहुत बुरा किया। मै मानता हू, यह भगवान पर एक प्रकार का भूठा लांछन है। भगवान क्यों कभी किसी का बुरा करेंगे ? भगवान की बात तो बहुत आगे की है, भगवान के सच्चे भक्त भी कभी

वहते ही हैं, पर जो प्रतिकूलता में, दुःख में और प्रतिस्रोत में भी अपनी समता को खण्डित नही होने देता, वह सचमुच ही महान् है। मैं इसे साधना की कसौटी मानता हू। यह बात मै केवल शब्दों से ही नहीं, अपने अनुभव के अधार पर कह रहा हूं। अनुभवरहित शाब्दिक उपदेश का मेरी दृष्टि में वहुत मूल्य नही है। सन्तों की वाणी लोग इसीलिए तो सुनना चाहते है और इसीलिए वह असरकारी होती है कि सन्त जो कुछ उपदेश देते हैं, उसे पहले अपने जीवन मे प्रयोग कर अनुभव करते है। उनकी वाणी अनुभव की वाणी होती है।

मैंने भी अपने जीवन में दुःख मे सम रहने के प्रयोग किए हैं। आप पूछेंगे, क्या आपके जीवन मे भी दु.ख आता है? मै पूछता हूं, दुःख किसके जीवन में नही आता? दुःख सवके जीवन मे आता है पर इतना अवश्य है कि सामान्य आदमी जहां दुःख से घवरा जाता है, अपना संतुलन खो वैठता है, वही साधक पुरुष अपने आप को संतुलित रखने का प्रयास करता है, हंसते-हंसते दुःख को लांघ जाता है। हां, तो मैंने प्रतिकूलता मे सम रहने का प्रयास किया है। इस प्रयास में मैं वहुत वार उत्तीर्ण रहा हूं तो कभी-कभी अनुत्तीर्ण भी रहा हू। साधक को अपनी कमजोरी स्वीकार करने में कोई संकोच नही होना चाहिए। साधक का अर्थ ही है कि वह अपूर्ण है। यदि अपूर्ण नही हो तो साधना की अपेक्षा ही क्या है?

निर्माण के लिए सहन जरूरी है

मैं मानता हूं, एक दृष्टि से कष्ट जीवन के लिए वहुत लाभप्रद है। क्योंकि कष्टों में आदमी का पुरुपत्व निखरता है। हम इस तथ्य को कभी न भूले कि सोना आग में तप कर ही कुंदन वनता है। पर आज तो स्थिति वडी विचित्र है। आदमी अपने मन के विपरीत जरा-सी वात भी समभाव-पूर्वक सहन नही कर पाता। तत्काल उसकी आंखे लाल हो जाती है। चेहरा तमतमाने लगता है। वह अपना आपा खो वैठता है। आप टटोलें अपने आपको। क्या यह वास्तविकता नही है? इस संदर्भ में मेरी तो निश्चित मान्यता है कि जव तक व्यक्ति सहन करना नही सीखता, उसका निर्माण नही होता। निर्माण उसी का होता है, जो चोट सहन करता है। स्खलना करने पर, मैं अपने शैक्ष मुनियों को टोकता हू, सावधान करता हूं। इसके साथ ही मैं उनके चेहरों को भी पढ़ता रहता हूं। किस साधु ने मेरे अनुशासन को मन से सहन किया है, किसने केवल वाणी से सहन किया है और किसने मन व वाणी दोनों से ही सहन नही किया है। इस आधार पर मैं परीक्षा कर लेता हू, कौन होनहार है, कौन कम होनहार है और कौन कच्चा घड़ा रहनेवाला है। तत्त्व यही है कि जीवन-निर्माण के लिए हर व्यक्ति को कडी चोट हंसते-हंसते

सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।

मैं उपग्रह के बारे में बता रहा था और चलते-चलते कहा का कहा पहुंच गया। अब मैं पुनः अपने मूल विषय पर लौटता हूं। जीव को अपने जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों को चलाने के लिए विभिन्न रूपों मे पुद्गलो को स्वीकार करना होता है। खाना, पीना, बोलना, चिन्तन करना आदि सभी क्रियाओं मे पुद्गलो को अनिवार्यरूप से ग्रहण करता होता है।

लोक की स्थिति

लोक को सभी दृष्टियों से समझने के लिए हमें यह समझना भी जरूरी है कि लोक की स्थिति कहां है? वह किस पर टिका हुआ है? कुछ लोग संसार को शेषनाग मे फन पर टिका हुआ मानते है। दूसरी मान्यता के अनुसार संसार बैल के सींग पर अवस्थित है। और भी अनेक मान्यताएं इस म्बन्ध के प्राप्त होती हैं। इस बारे मे जैन-दर्शन क्या कहता है?—यह प्रश्न है। सभी लोगों को इस प्रश्न का समाधान ख्याल में रखना चाहिए।

चतुर्धा तत्स्थितिः।

यथा आकाशप्रतिष्ठितो वायुः, वायुप्रतिष्ठित उदधिः, उदधि-प्रतिष्ठिता पृथिवी, पृथिवीप्रतिष्ठिताः त्रसस्थावराः जीवाः।

सबसे पहले आकाश है। आकाश के ऊपर वायु अवस्थित है। वायु के दो प्रकार है—सघन वायु और तरल वायु। तरल वायु से तो आप सब परिचित है, पर सघन वायु से सभवतः सभी लोग परिचित न हों। आप देखें, मोटरों, ट्रको के टायरों मे जो वायु होती है, वह सघन वायु का एक उदाहरण है। सघन वायु इतनी ताकतवर होती है कि टनो वजन उसके सहारे उठाया जाता है।

सघन वायु का प्रयोग

जैन विश्व भारती मे, पिछले दिनों जब मैं प्रवास कर रहा था, एक व्यक्ति आया और उसने सघन वायु का एक प्रयोग दिखलाया। उसने एक जीप गाड़ी अपनी छाती के ऊपर से निकलाने के लिए सामने खड़ी कर दी और स्वयं जमीन पर लेट गया। उपस्थित लोगों को बड़ा डर लगा कि कही इसके फेफड़े चूर-चूर न हो जाएं। पर लोगों के आश्चर्य का तब ठिकाना नही रहा, जब जीप के निकलने के पश्चात् वह व्यक्ति तत्काल खडा हो गया। वास्तव में बात यह थी कि उसने अपने फेफड़ों में वायु को सघन रूप में भर लिया था। इसी प्रकार सघन वायु के और भी अनेक उदाहरण देखने को मिल सकते हैं।

हा, तो मैं बता रहा था कि आकाश के ऊपर वायु (सघन) और वायु के ऊपर उदधि टिका हुआ है। (उदधि भी सघन और तरल दो प्रकार का होता है।) उदधि पर पृथ्वी और पृथ्वी पर त्रस-स्थावर जीव अवस्थित हैं।

वायु पर उदधि कैसे टिकता है ?

यहां यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि वायु पर उदधि कैसे टिका हुआ है ? यह कोई असंभव बात नही है। वैज्ञानिकों ने भी इस संबध मे अनेक प्रयाग किए है। एक ट्यूब को हवा से बिलकुल सघन रूप मे भर दिया। फिर एक रस्सी के द्वारा उसको माध्य भाग से इस प्रकार कस कर बाध दिया कि नीचे की वायु बिलकुल ऊपर न आ सके। अब उसका ऊपर का मुंह खोल दिया और उसमे जल भर दिया। जल भरने के पश्चात् वह बीच की रस्सी हटा ली गई। प्रयोग में देखा गया कि वह पानी नीचे के भाग में बिलकुल नही गया। क्या आप बता सकते है, ऐसा क्यों हुआ ? इसका कारण यही है कि नीचे सघन वायु है। सघन वायु पर पानी टिक गया। इस प्रयोग से यह बात बिलकुल अच्छे ढंग से समझ में आती है कि वायु पर उदधि टिका हुआ है।

लोक की स्थिति का संक्षिप्त विवेचन मैंने प्रस्तुत किया। अब सक्षेप में अलोक को भी समझ लें।

शेषद्रव्यशून्यमाकाशमलोकः।

जहां आकाशास्तिकाय के अतिरिक्त दूसरा कोई द्रव्य नही होता, उस आकाश को अलोक कहते हैं। लोक की अपेक्षा अलोक बहुत अधिक बड़ा है। पर जीव और पुद्गल के अभाव मे उसकी हमारे लिए कोई उपयोगिता नही है।

बन्धुओ ! तत्त्व का अपना एक महत्त्व है। इसकी महत्ता को समझ कर आप लोगों को ये तात्त्विक बातें हृदयंगम करनी चाहिए। इससे आपका ज्ञान तो विकसित होगा ही, साथ ही आपको साधना-पथ पर आगे बढने मे भी बहुत सहयोग मिलेगा।

गंगाशहर
१९ जुलाई, १९७८

पुद्गल : एक अनुचिंतन

तात्त्विक विवेचन के अन्तर्गत धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय—इन तीन द्रव्यो का प्रतिपादन मैं कर चुका हूं। इसी क्रम में आज पुद्गलास्तिकाय के विपय मे कुछ कहूगा।

स्पर्शरसगंधवर्णवान् पुद्गलः।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण युक्त द्रव्य 'पुद्गल' है। यह जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। अन्य किसी भी दर्शन मे यह शब्द इस अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। स्पर्श, रस आदि का विभाग इस प्रकार है—

स्पर्श—कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष।

रस—तिक्त, कटु, कपाय, अम्ल, मधुर।

गंध—सुगन्ध, दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत, श्वेत।

यह कभी संभव नही कि पुद्गल मे स्पर्श तो हो और रस न हो। रस तो हो और गंध न हो। गंध तो हो और वर्ण न हो। निष्कर्ष यह है कि पुद्गल होगा तो ये चारों अनिवार्य रूप से होंगे ही। यह दूसरी वात है कि स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण कही हमें दिखाई देते है, और कही नही भी। पर इससे उनकी सत्ता मे कही कोई अन्तर नही आता। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण की तो वात दूर की है वहुत से पुद्गल स्वयं इतने सूक्ष्म होते है, जिन्हें हम कोरी आंखो से नही देख सकते।

सूक्ष्म पुद्गल

प्राचीन समय मे चूल्हे का धुआं वाहर निकालने के लिए रसोईघर में कई छोटे-छोटे छिद्र वनाए जाते थे। आजकल भी कही-कही ऐसे रसोईघर देखने को मिलते है। उनमे से होकर सूर्य-रश्मियां भी रसोईघर के अन्दर आती है। उन सूर्य-रश्मियो मे सैकडो हजारों कण तैरते हुए दिखाई देते है। पर जव उन्हे पकडने का प्रयास किया जाता तो वे हाथ मे नही आते। यह पुद्गलो की सूक्ष्मता का एक स्थूल उदाहरण है। वस्तुतः तात्त्विक दृष्टि से तो ये रज कण वहुत वडे है। इनसे भी वहुत सूक्ष्म पुद्गल होते है।

पुद्गल या पुद्गलास्तिकाय के लिए हम अणु शब्द का भी प्रयोग कर सकते हैं। पर इसके स्थान पर परमाणु शब्द का प्रयोग गलत हो जाएगा। इसलिए बोलचाल तथा लिखने मे हमें यह सावधानी रखनी चाहिए। अज्ञान-वश लोग बहुधा यह भूल कर बैठते है।

इस संसार मे सर्वत्र पुद्गलों का एकछत्र साम्राज्य छाया हुआ है। हम खाते हैं, पीते है, सोचते है, श्वासोच्छ्वास करते है""""इन सब क्रियाओं में हम पुद्गलों को ग्रहण करते है। पुद्गल नही हो तो न हमारा खाना है, न पीना है, न बोलना है, न चिन्तन-मनन है, न श्वासोच्छ्वास है और न कोई अन्य क्रिया ही। दूसरे शब्दो मे पुद्गलों के बिना हमारा इस संसार मे कोई अस्तित्व ही नहीं है।

शरीर जीव है या अजीव ?

हमारा शरीर भी पुद्गल है। शरीर को पुद्गल सुनकर शायद आपके दिमाग में यह बात आ सकती है कि आचार्यश्री के कथन में यह विसंगति क्यों ? कुछ दिन पूर्व तो एक प्रसंग मे शरीर को जीव बताया गया था और आज इसे पुद्गल बताया जा रहा है। पर आप चौंके नही। यह कोई विसगति नही है। केवल अपेक्षाभेद है। मैंने शरीर को जीव कहा था पर यह नही कहा था कि वह पुद्गल नही है। वास्तव मे जब मैं कहता हूं कि शरीर जीव है तो उसके पीछे अपेक्षा है सजीव पुद्गल की। यानी शरीर सजीव पुद्गल है।

एक भ्रांति का निवारण

पुद्गल सजीव और निर्जीव दोनों प्रकार के होते है। जैन मुनि केवल अचित्त पुद्गलों को ही ग्रहण करते है, सचित्त को नही। गृहस्थो मे भी कुछ कुछ लोगो को सचित्त पुद्गलो को खाने का त्याग होता हैं। इसलिए वे सचित्त पुद्गलो को अचित्त करके उनका उपयोग करते है। कुछ लोगों का तर्क है कि जब सजीव को निर्जीव करके उनका उपयोग किया जाता है तो फिर सजीव खाने मे क्या आपत्ति है ? क्या यह सजीव का त्याग मात्र विडम्बना नही है ? मै मानता हू, यह एक गहरी भ्रान्ति है। जो लोग इस प्रकार सोचते हैं, वे सचित्त का त्याग करना एवं सचित्त को अचित्त बनाकर खाना—इन दोनों बातों को एक कर देते हैं। वास्तव मे त्याग करना एक बात है और सचित्त को अचित्त बना कर खाना सर्वथा दूसरी। त्याग करने-वाले के लिए यह कोई प्रतिबन्ध नही कि वह सचित्त को अचित्त बना कर खाए ही। जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया, हम मुनियों को सचित्त का त्याग है, पर हम कभी भी सचित्त को अचित्त नही बनाते। हां, सहजरूप से गृहस्थों

के घरो से प्राप्त अचित्त पुद्‌गलो से अपना काम चलाते है। कुछ गृहस्थ भी ऐसे होते हैं, जो सचित्त का त्याग रखते हैं, फिर भी सचित्त को अचित्त वनाकर नही खाते। आप कहेगे, तो क्या वे भी आपकी तरह भिक्षा करते है ? नही, भिक्षा करने की उन्हे क्या अपेक्षा है ? आप लोगो को ख्याल रखना चाहिए कि वहुत-सी वस्तुओ को तो गृहस्थों को विना त्याग भी अचित्त करना ही पड़ता है। रोटी, चावल, दाल, शाक, भाजी अनेकानेक वस्तुएं सहज रूप मे अचित्त वनाई जाती हैं। त्याग से इनका कोई सम्वन्ध नही है। और वहुत सही तो यह है कि खाने के काम आनेवाली चीजो में सचित्त रूप मे तो वहुत कम वस्तुएं काम आती है। अधिकांश तो अचित्त रूप मे ही उपयोग मे आती है। सचित्त के त्याग करनेवाला व्यक्ति केवल सहजनिष्पन्न अचित्त वस्तुओ मे ही सतोष करे, यह सवसे अच्छी वात है। पर यदि कोई सचित्त के त्याग करनेवाला व्यक्ति अपनी दुर्वलता के कारण सचित्त वस्तुओं को अचित्त करके खाता है तो उसके सचित्त के त्याग का कोई भंग नही है। हा, इसे धर्म नहीं माना जा सकता। धर्म तो त्याग है, भोग नही।

प्रसगवश मैंने यह वात स्पष्ट कर दी है। यद्यपि मैं विपयान्तर हो गया हू, परन्तु प्रसंग आने पर ऐसी वातो का स्पष्टीकरण कर देना उपयोगी ही नही, आवश्यक भी है।

छह द्रव्यो में पुद्‌गल का विवेचन सर्वाधिक विस्तीर्ण है। इसका क्षेत्र वहुत व्यापक है। हमारे ये आठ कर्म भी पुद्‌गल ही है। एक-एक कर्म से अनन्त-अनन्त पुद्‌गल जुड़े हुए हैं। पता नही कव छुटकारा होगा इन कर्मों से! कर्मों से छुटकारा पाने के लिए पुरुपार्थ की अपेक्षा है। पर सामान्य पुरुपार्थ से काम नही चलेगा। तीव्र पुरुषार्थ अपेक्षित है लक्ष्य-सिद्धि के लिए। क्योकि ये कर्म पुद्‌गल कोई एक-दो जन्मों से नही, अपितु अनन्त-अनन्त काल से हमारे पीछे लगे हुए है। परन्तु एक वात अवश्य है। गहराई मे उतरकर ।दि आप देखेंगे तो पाएगे कि ये जवरदस्ती हमारे पीछे नही लगे हुए है। हमने ही इन्हे आमंत्रण देकर वुलाया है, इनका स्वागत किया है और इनको अपने पीछे लगाया है। इसलिए हमे कर्मों पर दोषारोपण नही करना चाहिए। दोपारोपण करने से कुछ वनेगा भी नही। अपेक्षा यही है कि हम अपने आपको सभालें। स्वयं को सभालने का अर्थ है—अपने जीवन को सवर और निर्जरा से भावित करना।

गंगाशहर
२२ जुलाई, १९७८

पुद्गल के लक्षण

कल के प्रवचन में मैंने 'पुद्गल' की चर्चा की। जैसा कि कल स्पष्ट किया था, यह जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण युक्त द्रव्य को 'पुद्गल' माना गया है। आज हम इसके व्युत्पत्तिपरक शाब्दिक अर्थ को भी समझें।

पूरणगलनधर्मत्वात् पुद्गल इति।

जिसमे पूरण—एकीभाव और गलन—पृथग्भाव दोनों होते हैं, वह 'पुद्गल' है। यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य शाब्दिक अर्थ है।

आप देखें, इस पण्डाल मे रेत बिछी है। कोई व्यक्ति यहां से थोड़ी रेत उठाता है और उसे दूसरी जगह डाल देता है। जहां से रेत उठाई जाती है, वहां खड्डा हो जाता है और जहां रेत डाली जाती है, वहां ढेर बन जाता है। यह कार्य पुद्गल ही कर सकता है। पुद्गल के सिवाय कोई भी अन्य द्रव्य ऐसा करने में सक्षम नही है। आज किसी ने ऑपरेशन करवाया। आठ इंच लम्बा, दो इंच चौड़ा और तीन इंच गहरा घाव हो गया। यह घाव कैसे हुआ? वहा से मास के रूप मे एकत्रित पुद्गलो के निकल जाने के कारण। एक महीने बाद वह घाव भर जाता है। यानी वहां बहुत-से दूसरे पुद्गल आकर जमा हो जाते है। यह भरना और खाली करना पुद्गल का ही स्वभाव है।

इसके अतिरिक्त पुद्गल के और भी अनेके लक्षण/धर्म बताए गए हैं—

शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थान-भेद-तमश्छायातपोद्योतप्रभावांश्च।

संहन्यमानानां भिद्यमानानां च पुद्गलानां ध्वनिरूपः परिणामः शब्द.। प्रायोगिको वैस्रसिकश्च। प्रयत्नजन्यः प्रायोगिकः, भाषात्मकोऽभाषात्मको वा। स्वभावजन्यो वैस्रसिकः—मेघादिप्रभवः।

शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, प्रभा आदि पुद्गल के लक्षण/धर्म है। ये सब पुद्गल की विभिन्न पर्यायें है।

शब्द

शब्द से आप सब परिचित है। पर यह क्यों होता है ? कैसे होता है ? ये प्रश्न सम्भवतः बहुत-से लोगो के लिए अनुत्तरित हैं। दो वस्तुओं के संघात या भेद से उत्पन्न ध्वनि का नाम शब्द है। आप अपने कमरे और खिड़की के दरवाजे बन्द करते हैं तो आवाज होती है। यह आवाज क्यो ? इसीलिए कि दो कपाटो का परस्पर सघात होता है। इसी प्रकार जब आप दरवाजे खोलते है, तब भी आवाज होती है। यह ध्वनि और इसीलिए है कि दो कपाट अलग-अलग हो रहे है। दरवाजे ही क्यों, कोई भी दो वस्तुओ का संघात या भेद होता है तो ध्वनि अवश्यंभावी है।

शब्द के दो प्रकार है—

१. प्रायोगिक

२. वैस्रसिक

प्रायोगिक—प्रयत्नजन्य शब्द। यानी जिस शब्द के होने मे किसी का प्रयत्न लगता है, वह प्रायोगिक है।

प्रायोगिक शब्द के दो प्रकार है—

१. भाषात्मक—भाषा-युक्त शब्द। अभी मैं प्रवचन कर रहा हू, यह भाषात्मक शब्द है।

२. अभाषात्मक—बिना भाषा का शब्द। किसी ने ताली बजाई। शब्द हुआ। पर यह शब्द भाषारहित है।

वैस्रसिक—अप्रयत्नजन्य शब्द। सहजरूप से अर्थात् अपने आप होने-वाला शब्द। आप यह कभी न समझे कि सभी शब्द प्रयत्नपूर्वक होते हैं। बहुत-से शब्द सहज रूप से भी होते है। आकाश मे गर्जना होती है। यह स्वाभाविक ध्वनि है। किसी ने बादलो को इकट्ठा नही किया। सहज रूप से बादल आपस मे टकराए और ध्वनि पैदा हो गई।

अथवा जीवाजीवमिश्रभेदादयं त्रेधा।

शब्द के तीन भेद भी किए जा सकते है—

१. जीवशब्द।

२. अजीवशब्द।

३. मिश्रशब्द।

जीवशब्द—जीव द्वारा किया गया शब्द। पक्षी चहकते है, कुत्ता भौंकता हैं, आदमी बोलता है—ये सब जीव शब्द के उदाहरण है।

अजीवशब्द—अजीव के द्वारा होने वाला शब्द। मेघ-गर्जन इत्यादि।

मिश्रशब्द—जीव और अजीव दोनो के योग से होनेवाला शब्द। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति वीणा बजा रहा है। व्यक्ति जीव है और वीणा अजीव है। शब्द दोनो के योग से होता है।

अकेला व्यक्ति या अकेली वीणा से शब्द उद्भूत नही होता।

जैसा कि मैने पहले बताया, जैन-दर्शन के अनुसार शब्द पुद्गल का लक्षण है। कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। इसके पीछे उनका तर्क है कि शब्द आकाश में होता है। ठीक है, शब्द आकाश मे होता है। पर आकाश मे होने मात्र से वह आकाश का गुण नही हो सकता। आकाश मे तो गति भी होती है। यदि आकाश मे होने मात्र से शब्द आकाश का गुण हो तो गति को भी आकाश का गुण मानना चाहिए। परन्तु ऐसा नही माना जाता। अतः उनके उपरोक्त तर्क का कोई औचित्य समझ में नही आता। इसके अतिरिक्त एक दूसरी बात और है—

मूर्त्तोऽयं नहि अमूर्त्तस्य आकाशस्य गुणो भवति, श्रोतेन्द्रियग्राह्यत्वात् न च श्रोत्रेन्द्रियममूर्त्तं गृह्णाति इति।

शब्द मूर्त्त है। इसलिए वह अमूर्त्त आकाश का गुण नही हो सकता। जो जिसका गुण होता है, वह सदा उनके समान ही होता है। उसका विरोधी नहीं हो सकता। पूछा जा सकता है, शब्द मूर्त्त है इसका क्या प्रमाण? यदि मूर्त्त न हो तो श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा उसका कभी ग्रहण नही हो सकता। यह उसकी मूर्त्तता का सबसे पुष्ट प्रमाण है। अमूर्त्त को आंख कभी नही देख सकती। कई लोग कभी-कभी कह दिया करते हैं कि हमने साक्षात् भगवान के दर्शन किए। मैं समझता हूं, उनको दर्शन नहीं, भ्रान्ति होती है। क्योकि भगवान तो निरंजन-निराकार है। फिर वे आंखों के विषय कैसे बनेंगे? यही बात शब्द के विषय में है। शब्द यदि अमूर्त्त है तो फिर वह कान के द्वारा कैसे सुना जाएगा?

शब्द-प्रयोग का विवेक

शब्द कोमल और कठोर दोनो प्रकार के होते हैं। हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि कुछ शब्द व्यक्ति को कर्णप्रिय लगते है, तो कुछ शब्द ऐसे भी होते है, जो सर्वथा कर्णकटु होते है। बोलता कौवा भी है और बोलती कोयल भी है। पर दोनों के शब्दो मे रात-दिन का अन्तर है। कोयल की बोली सुनते-सुनते मन कभी अघाता नही, बल्कि कहना चाहिए कि उसे बार-बार सुनने की इच्छा होती है। पर वही कौवे की बोली जरा भी कान में पड़ जाती है तो मन मे आता है कि यह न बोले तो अच्छा। यह अन्तर और कुछ नही, मधुर और कर्कश शब्द-पुद्गलों का है। कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

'कागा कासे लेत है, कोयल काको देत।
मीठे शब्द प्रयोग से, जग अपनो कर लेत ॥'

मैं मानता हूं, शब्दों का प्रयोग करना एक बहुत बड़ी कला है। इसके परिणाम बहुत गहरे होते है। जहां मधुर भाषण मे व्यक्ति जन-जन के मन को जीत लेता है, वही कटु शब्दो के प्रयोग के कारण वह अपने दुश्मन या विरोधी खड़े कर लेता है।

मनुष्य की यह सहज मनोवृत्ति होती है कि वह मधुर शब्द सुनना चाहता है। कटु शब्द उसे अप्रिय लगता है। मैं तो मानता हू कि व्यावहारिक जीवन की सफलता का एक बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मधुर भाषण। कहा तो यहां तक गया है—'**सत्यं ब्रूयात्, प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।**' अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो, ऐसा सत्य भी मत बोलो, जो अप्रिय हो।

आप देखे, सत्य भी अप्रिय है तो उसे बोलने का निषेध किया गया है। वास्तव मे यह एक बहुत गहरी बात है। अंधे को अंधा कहना असत्य नही, पर अप्रिय वचन अवश्य है। इसलिए यदि उसे अंधा कहा जाता है तो वह कष्ट का अनुभव करता है। पर उसी व्यक्ति को अंधा न कह कर, सूरदास कहा जाए तो उसे अप्रिय नही लगता। आप कहेगे, बात तो एक ही है, केवल शब्दों का अन्तर है। यही तो मैं बताना चाहता हू कि एक बात होते हुए भी मधुर शब्द और कर्कश शब्द के प्रयोग का अन्तर पड़ जाता है। मैं नही समझता, जब अमृत देने से काम चलता है तो किसी को जहर क्यो दिया जाए? जब मधुर शब्दो से हमारा काम आसानी से चलता है, फिर कठोर शब्दो का प्रयोग क्यो किया जाए?

शास्त्रार्थ का उद्देश्य

तत्त्व यह है कि जहा तक बन सके व्यक्ति को कठोर शब्दों के प्रयोग से परहेज करना चाहिए। यद्यपि सामान्य व्यक्ति के लिए यह थोड़ा कठिन तो हो सकता है पर जीवन की शान्ति के लिए यह अत्यत महत्त्वपूर्ण है। इसलिए मैं कहना चाहता हू कि चाहे कोई अपना विरोधी भी क्यो न हो, उसके साथ भी कभी कठोर शब्दों का प्रयोग नही होना चाहिए। विचार-भेद किसी से भी हो सकता है। पर विचार-भेद को लेकर किसी पर कटु शब्दो से प्रहार करना मेरी दृष्टि मे कदापि उचित नही है। मैं इसमे एक प्रकार की हिंसा का दर्शन करता हू। प्राचीनकाल मे परस्पर शास्त्रार्थ होते थे। उन शास्त्रार्थों मे दोनो ही पक्षों द्वारा अपने-अपने विरोधी पक्ष पर कटु और आक्षेपात्मक भाषा का प्रयोग होता था। और कभी-कभी तो यह कटु और आक्षेपात्मक भाषा इस सीमा तक पहुंच जाती थी कि परस्पर भयकर सघर्ष होने लगता। आजकल भी ऐसे शास्त्रार्थ कही-कही चलते है। वस्तुत. शास्त्रार्थ कोई बुरा तत्त्व नही है, अपितु कहना चाहिए बहुत लाभप्रद है, बशर्ते कि ज्ञानार्जन की भावना के साथ जुड़ा हो। पर जहा जय-पराजय की भावना

उसके साथ जुड़ जाती है, वहां ज्ञानार्जन एवं सदभाव के स्थान पर दुर्भाव और कलह ही बढ़ता है।

मेरी दृष्टि में जय और पराजय बहुत महत्त्व की बात नहीं है। महत्त्व है—ज्ञान देने और ज्ञान लेने का। जहां यह उद्देश्य फलित होता है, वहा शास्त्रार्थ करने मे कोई आपत्ति नही। पर जहां यह उद्देश्य गौण होकर जय-पराजय की भावना प्रमुख हो जाती है, वहां शास्त्रार्थ न करना ही श्रेयस्कर है। मुझे लगता है, शास्त्रार्थ के साथ आमतौर पर यह भावना बन ही जाती है, इसलिए मैंने शास्त्रार्थ करना लगभग बंद ही कर दिया है। हां, ज्ञानार्जन की दृष्टि से कोई तत्त्व-चर्चा करे तो उसमे मुझे किंचित् भी कठिनाई नही है।

गगाशहर
२३ जुलाई, १९७८

पुद्गल की विभिन्न परिणतियां

कल के प्रवचन मे मैंने शब्द की विस्तृत चर्चा की। आज पुद्गल के दूसरे लक्षण—संश्लेष से प्रवचन प्रारम्भ कर रहा हू।

संश्लेषः—बन्धः। अयमपि प्रायोगिकः सादिः, वैस्रसिकस्तु सादिरनादिश्च।

वंध का अर्थ है—संश्लेप/संयोग। अर्थात् दो, चार, पांच, दस, सौ··· पुद्गलों का परस्पर मिल जाना वध कहलाता है। इसके दो प्रकार है—

१. प्रायोगिक—प्रयत्नजन्य।

२. वैस्रसिक—स्वाभाविक।

कपड़े के दो टुकड़ो को सिलाई कर जोड़ दिया गया। दो कपाटो को मिला दिया गया। यह प्रायोगिक वंध है। आकाश मे वादलो की घटा का वनना, मिट्टी के लाखो-करोड़ो कणो का मिलकर पत्थर वन जाना······यह वैस्रसिक वंध है। क्योंकि ये सहज वनते हैं। इन्हे वनाने का किसी के द्वारा कोई प्रयास नही किया जाता।

संश्लेष सादि या अनादि ?

प्रायोगिक वन्ध और वैस्रसिक वन्ध के सैकड़ो-हजारो उदाहरण वताए जा सकते है। प्रश्न है, ये वन्ध सादि है या अनादि ? प्रायोगिक वध कभी अनादि नही होते। वे सदा सादि—प्रारम्भसहित होते है। इनके वनने की तिथि, वार आदि सब कुछ होते है। आपके गंगाशहर मे हजारो मकान हैं। ये मकान प्रायोगिक वन्ध ही हैं। इनके निर्माण की तिथि, वार, सवत् सव प्राप्त हो सकते है। यानी ये सादि हैं। ये कारें, वसें आदि सव सादि है। इस संदर्भ मे एक वात और ध्यान मे लेने की है कि जो सादि होता है, वह सान्त भी होता है। अर्थात् जिसका प्रारम्भ है, उसका अन्त भी निश्चित है। प्रायोगिक वध सादि है, इसलिए सान्त भी है।

वैस्रसिक वन्ध सादि भी हैं और अनादि भी। जैसा कि मैंने वादलो की घटा का उदाहरण दिया, यह सादि है। इसी प्रकार आकाश मे इन्द्रधनुप वनता है। यह भी सादि है। ये वनते है और नष्ट होते है। पृथ्वी, पहाड़

अनादि वैस्रसिक बन्ध है। क्योंकि इनकी आदि नहीं होती। जीव और कर्म (पुद्गल) का बंधन अनादि है।

पुद्गल की विभिन्न परिणतियां

हमे यहा यह बात समझनी है कि बन्ध चाहे प्रायोगिक हो या वैस्रसिक, सादि हो या अनादि, सब पुद्गलों के होते है। पुद्गल के सिवाय और किसी का भी यह गुण नही है। इसलिए बन्ध पुद्गल की एक पहचान है।

सौक्ष्म्य और स्थौल्य

सौक्ष्म्य और स्थौल्य भी पुद्गल के लक्षण हैं। ये दोनो ही पुद्गल की परिणतियां है। सूक्ष्मता और स्थूलता से आप सभी परिचित है। दो सगे भाइयो में से एक का शरीर स्थूल हो सकता है और दूसरे का कृश। हम प्रत्यक्ष देखते है कि स्थूलता के कारण कई व्यक्तियों का वजन सौ किलो से भी अधिक हो जाता है। वही कृशता के कारण अनेक व्यक्ति चालीस किलो के अन्दर भी रह जाते है। पत्थर भारी होता है, लकड़ी उससे हलकी होती है। यह भारीपन और हलकापन स्थूलता और सूक्ष्मता के कारण है।

सौक्ष्म्यं द्विविधम्—अन्त्यमापेक्षिकञ्च। अन्त्यं परमाणोः, आपेक्षिकं यथा—नालिकेरापेक्षया आम्रस्य।

सौक्ष्म्य के दो प्रकार है—

१. अन्त्य—अन्तिम सूक्ष्म। अर्थात् जिस सूक्ष्म पुद्गल को फिर खण्डित नही किया जा सके। जैन-दर्शन में ऐसे पुद्गल को 'परमाणु' की संज्ञा दी गई है।

२. आपेक्षिक—अपेक्षा से सूक्ष्म। एक व्यक्ति का वजन दो मन है, दूसरे का डेढ़ मन है। डेढ़ मन वाला व्यक्ति दो मन वाले व्यक्ति की अपेक्षा से सूक्ष्म है। पर यदि डेढ मन वजन वाले व्यक्ति के सामने कोई एक मन वजन वाला व्यक्ति हो तो डेढ़ मन वाला स्थूल और एक मन वाला सूक्ष्म कहलाएगा।

परमाणु किसी अपेक्षा से सूक्ष्म नही होता। क्योकि किसी अपेक्षा वह स्थूल नही होता। परमाणु के बारे मे अनेक दार्शनिकों ने विचार किए है। वैशेषिक दर्शन के आचार्य कणाद ने परमाणु की परिभाषा देते हुए कहा है—

> 'जालान्तर गते भानौ, सूक्ष्मं यद् दृश्यते रजः।
> तस्य षष्ठतमो भागः, परमाणुः प्रकीर्तितः॥'

जाली से होकर सूर्य रश्मियां अन्दर आती है। उन रश्मियों मे सूक्ष्म रजकण तैरते हुए दिखाई पड़ते है। उन रजकणो मे से एक रजकण के छठे

भाग का नाम परमाणु है। यह परिभाषा किसी समय चलती थी पर आज नहीं चल सकती। क्योकि उस रजकण का सौवां, हजारवां और लाखवां हिस्सा भी किया जा सकता है। जैन-दर्शन में इस रजकण के दो से लेकर असंख्य, अनन्त और अनन्तान्त टुकड़ों की कल्पना की गई है। जैन-दर्शन का 'परमाणु' अविभाज्य होता है। उसका फिर हिस्सा/भाग नहीं किया जा सकता। जैन-दर्शन के इतने सूक्ष्म तात्त्विक विवेचन को देखकर यह सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि जैन तीर्थङ्कर अतीन्द्रिय ज्ञानी थे। विज्ञान जहां पर आज पहुंचने की चेष्टा मे है, वहां पर और वहां से भी बहुत आगे जैन तीर्थंकर हजारों-हजारों वर्ष पहले पहुंच चुके हैं।

स्थौल्यमपि द्विविधम्—अन्त्यं अशेषलोकव्यापिमहास्कन्धस्य। आपेक्षिक यथा—आम्रापेक्षया नालिकेरस्य।

१. अन्त्य—अन्तिम स्थूल, जैसे—लोकव्यापी महास्कंध।

२. आपेक्षिक—अपेक्षा से स्थूल, जैसे—आम की अपेक्षा तरबूज स्थूल है।

प्रश्न है, अन्तिम स्थूल पदार्थ क्या है? वहा कल्पना की गई है कि एक ऐसा स्कन्ध जो अकेला ही समूचे लोक में फैल जाए। एक ही बादल कई बार पूरे आकाश में छाया हुआ नजर आता है। परन्तु आकाश तो अनन्त है, इसलिए एक बादल पूरे आकाश मे छा जाए, यह असम्भव है। पर चूंकि हमारी दृष्टि सीमित है, इसलिए जहा तक हमारी दृष्टि जाती है, वहां तक वह एक ही बादल छाया हुआ प्रतीत होता है। यह स्थूल उदाहरण मैंने समझाने के लिए दिया। इसी प्रकार चतुर्दश रज्जु परिमाण वाले इस लोक के लिए एक स्कंध की कल्पना की गई है। इसे महास्कंध कहा जाता है।

केवली समुद्घात के समय एक आत्मा समूचे लोक मे व्याप्त हो जाती है। समुद्घात के चौथे समय मे आत्म-प्रदेश पूरे लोकाकाश में फैल जाते हैं। उस समय कर्म-पुद्गलों की निर्जरा होती है। उन निर्जरित पुद्गलो का पांचवें समय में एक लोकव्यापी स्कंध बन जाता है। यही स्कन्ध महास्कंध कहलाता है।

इस प्रकार सूक्ष्मता और स्थूलता दोनों ही पुद्गल के लक्षण है। पुद्गल के अतिरिक्त कोई भी द्रव्य सूक्ष्म या स्थूल होता ही नही। इस सदर्भ में इतना और समझ लेना चाहिए कि पुद्गल सूक्ष्म का स्थूल हो सकता है और स्थूल का सूक्ष्म हो सकता है, जैसे—आज बच्चा सूक्ष्म है पर बढ़ते-बढ़ते वह युवक बन जाता है। इसी प्रकार आज व्यक्ति स्थूल है। पर बीमारी, बुढापा या चिंता के कारण वह सूक्ष्म होने लगता है और होते-होते बिलकुल अस्थिपंजर-सा रह जाता है।

प्रसंग रामायण का

रामायण मे प्रसंग आता है कि हनुमान राम की मुद्रिका लेकर लंका में जाते हैं। वे मुद्रिका को सीता की गोद में डाल देते है। सीता मुद्रिका को हाथ में उठाती है और सोचती है—यह मुद्रिका कहां से आई ? कैसे आई ? मुद्रिका मे राम का नाम लिखा था। ज्योही उसकी दृष्टि नाम पर जाती है, वह भावविह्वल हो जाती है। 'कहां' और 'कैसे' के प्रश्नों को वह भूल जाती हे और उसके मन मे राम की स्मृति घनीभूत वन जाती है—

'मुद्रे ! ब्रूहि सलक्ष्मणाः कुशलिनः श्रीरामपादाः स्वयं।
सन्ति स्वामिनि ! मा विधेहि विधुरं चेतोऽनया चिंतया,
एनां व्याहर मैथिलेन्द्रतनये ! नामान्तरेणाधुना।
रामस्त्वद्विरहेण कङ्कणपदं यस्यै चिरं दत्तवान्॥'

सीता अत्यन्त स्नेह से मुद्रिका को सवोधित करती हुई वड़ी आतुरता से पूछती है—"क्यो श्रीराम और लक्ष्मण सकुशल तो है ?"

"हा, स्वामिनि ! श्रीराम और लक्ष्मण सकुशल हैं। पर एक निवेदन है कि आप मुझे मुद्रिका के नाम सम्वोधित न करें, कंकण के नाम से पुकारें।"—मुद्रिका ने कहा।

"क्यो ?"—साश्चर्य सीता ने पूछा।

"जव तक आप थी, तव तक मै मुद्रिका थी। पर आपका वियोग हो जाने पर श्रीराम ने मुझे कंकण वना दिया है। अव मैं उनकी अगुली मे मुद्रिका के रूप मे नही, अपितु हाथ में कंकण के रूप में स्थान पाती हूं। क्योकि आपके वियोग मे राम का शरीर चिन्ता-ही-चिन्ता से अति कृश हो गया है।"—मुद्रिका ने अपने कथन के आशय को स्पष्ट किया।

यह वात मैंने प्रसंगवश कह दी। समझना यही है कि किन्ही कारणों से कभी स्थूल सूक्ष्म वन जाता है और कभी सूक्ष्म स्थूल वन जाता है। मेरी दृष्टि मे यह वहुत महत्त्व की वात नही है। महत्त्व की वात है—समता। दोनो ही परिस्थितियो मे व्यक्ति माध्यस्थ भाव रखे—यही श्रेय-पथ है।

संस्थान—

स्थौल्य के वाद हम संस्थान को समझें—

आकृति —संस्थानम्। तच्चचतुरस्रादिकं इत्यंस्थम्, अनियताकारं अनित्थंस्थम्।

संस्थान भी पुद्‌गल का एक लक्षण है। सस्थान अर्थात् आकृति। हम जितनी भी आकृतियां/आकार देखते हैं, वे सारे पौद्‌गलिक हैं। वे सभी पुद्‌गल होने की सूचना है। किसी को श्याम पुद्‌गलो का योग मिला, उसकी आकृति श्याम वन गई। किसी को श्वेत पुद्‌गलो का योग मिला और उसकी आकृति श्वेत वन गई। संस्थान के दो प्रकार है—

१. इत्थंस्थ ।

२. अनित्थंस्थ ।

नियत आकारवाली संरचना इत्थंस्थ कहलाती है। त्रिकोण, चतुष्कोण, आयत, परिमण्डल, वृत्त····ये सब इत्थंस्थ के भेद है। परिमण्डल और वृत्त यों दोनो ही गोलाकार होते है, फिर भी इन दोनो मे सूक्ष्म अन्तर है। वृत्त मोदक की तरह गोल होता है, जबकि परिमण्डल चूडी की तरह गोल। यानी जहा परिमण्डल मे बीच का भाग खोखला होता है, वही वृत्त का यही भाग बिलकुल सघन होता है।

अनियत आकारवाली सरचना अनित्थंस्थ कहलाती है। नियत आकार के अतिरिक्त जितने भी आकार बनते है, वे सभी अनित्थस्थ है। हम सब जीव है, चेतन हैं। पुद्गल जड है, अचेतन है। इस स्थिति मे मस्तिष्क मे यह प्रश्न उभरना स्वाभाविक है कि हमे तो आत्मा का ज्ञान करना चाहिए, पुद्गलो के ज्ञान से हमारा क्या लेना-देना ? यह ठीक है कि हमे आत्मा का ज्ञान करना चाहिए। पर हमें यह भी ख्याल में रखना चाहिए कि बिना जड को जाने हम चेतन को नही जान सकते। बिना पुद्गल को जाने हम आत्मा को नही पहचान सकते। यद्यपि पुद्गल हेय हैं, पर जब तक हम उन्हे जानेंगे ही नही, तब तक उन्हें छोड़ेंगे कैसे ? हिंसा को जानना उतना ही जरूरी है, जितना अहिंसा को। अन्यथा न तो अहिंसा को समझा जा सकता है और न ही हिंसा को छोड़ा जा सकता है। सत्य को जानने के लिए और उसे स्वीकार करने के लिए असत्य को जानना और समझना भी आवश्यक है। अन्यथा सत्य और असत्य का विवेक नही किया जा सकता। और जहा इसका विवेक ही नही होता, वहां व्यक्ति कैसे तो हेय को छोड़ेगा और कैसे उपादेय को स्वीकार करेगा ?

साराश यही है कि हमे हेय और उपादेय दोनो ही प्रकार के तत्त्वों को समान रूप से जानना और समझना चाहिए। सम्यक्‌रूप से जानने के बाद हम हेय को छोड़ते चलें और उपादेय को ग्रहण करते चलें, यही प्रशस्त पथ है।

गगाशहर
२४ जुलाई, १९७८

क्या अन्धकार पुद्गल है ?

पुद्गलों के लक्षणों के विवेचन के अन्तर्गत कल मैंने संस्थान तक की बात बताई। आज मैं कुछ अन्य लक्षणों की चर्चा करूंगा—

भेद

विश्लेषः—भेदः। स च पञ्चधा—

१. उत्करः—मुद्गशमीभेदवत्।

२. चूर्णः—गोधूमचूर्णवत्।

३. खण्डः—लोहखण्डवत्।

४. प्रतरः—अभ्रपटलभेदवत्।

५. अनुतटिका—तटाकरेखावत्।

पुद्गल का एक लक्षण है—भेद। भेद का अर्थ होता है—विश्लेषण। भेद के पांच प्रकार बताए गए हैं—

१. उत्कर
२. चूर्ण
३. खण्ड
४. प्रतर
५. अनुतटिका

टूट-टूट कर ऊंचा उठे वह उत्कर कहलाता है। उदाहरणार्थ—मोठ, की फली, मूंग की फली। आप ध्यान दे, खेत मे मोठ, मूंग आदि की फलियां सूखने के बाद जब अपने आप टूटती है, तब ऊपर उछलती है। इसी प्रकार एरण्ड भी टूटने के बाद ऊपर जाता है। जमीन पर मिट्टी डाली जाती है तो रजें ऊपर उठती है। धुआ ईंधन से अलग होकर सहजरूप से ऊपर उठता है।

टूटने पर चूर्ण-चूर्ण हो जाने को चूर्ण कहा जाता है। गेहूं, बाजरी आदि को जब चक्की में पीसा जाता है तो उनके पुद्गल टूटकर एकदम चूर्ण-चूर्ण हो जाते है।

तोड़ने से छोटे-छोटे टुकड़े होना खंड कहलाता है। पत्थर, लकड़ी इत्यादि को तोड़ने से उनके छोटे-छोटे टुकडे हो जाते है।

परत-दर-परत उतरने को प्रतर की अभिधा से पहचाना जाता है। जैसे—अभ्रक के दल, प्याज के छिलके।

टूटने के वाद वस्तु मे दरार का पड़ जाना अनुतटिका है। जैसे—तालाव की मिट्टी। तालाब की मिट्टी जव सूखती है तो उसमें दरारें पड जाती हैं।

ये सारे भेद विभिन्न रूपों में पुद्‌गल के अस्तित्व को प्रकट करते है। कभी-कभी वोल-चाल की भाषा मे कह दिया जाता है कि उसका मन फट गया। प्रश्न है, क्या मन भी फटता है? वास्तव मे मन कभी नही फटता। इस कथन का तात्पर्य है—जिसके साथ व्यक्ति की आत्मीयता थी, वह अब समाप्त हो गई। पर इस फटने से हमारे पुद्‌गल के लक्षण-वोध का कोई सम्वन्ध नही है। भाषा में ये आलकारिक प्रयोग चलते है और इनके प्रयोग से भाषा की सुन्दरता शतगुणित हो जाती है।

आत्मा कितनी लम्बी-चौड़ी है?

आप जिस किसी चीज मे भेद देखे, उसे पुद्‌गल जाने। आत्मा मे कभी भेद नही होता। इस संदर्भ मे कुछेक प्रश्न सामने आते है। वहुत बार आप देखते हैं कि छिपकली की पूंछ कट जाती है। पूंछ भी छटपटाती है और वह स्वयं भी। युद्ध मे सुभट का सिर धड़ से अलग होकर गिर जाता है। अव उसका धड़ भी छटपटाता है और सिर भी। इस स्थिति मे क्या ऐसा माना जाए कि आत्मा खण्ड-खण्ड मे विभक्त होती है? इस प्रश्न को अच्छे ढंग से समझ लेना चाहिए। वास्तव मे इन सव प्रसंगों मे शरीर के ही टुकड़े होते है, आत्मा अखण्ड रहती है। केवल शरीर के टुकडों से आत्मा का एक संवंध वना रहता है। आप पूछ सकते है, यह आत्मा कितनी लम्बी-चौड़ी होती है? मैं कितनी लम्बाई-चौड़ाई वताऊं? फैलाव की स्थिति मे एक आत्मा समूचे लोक में व्याप्त हो सकती है। आप स्थूल उदाहरण से समझें। शरीर का एक टुकड़ा यहां पड़ा है और दूसरा टुकड़ा हजार मील दूर पड़ा है। फिर भी दोनों की आत्मा एक होती है। दोनों का एक सम्वन्ध होता है। पर यह विस्तार शुद्ध आत्मा में नही, अपितु पुद्‌गलयुक्त आत्मा मे ही होता है।

मारणान्तिक समुद्‌घात

शास्त्रों में मारणान्तिक समुद्‌घात का वर्णन आता है। आज कोई जीव मनुष्य क्षेत्र मे है। मर कर उसे स्वर्ग लोक में पैदा होना है। मरने से एक मुहूर्त्त पूर्व उसके शरीर से आत्म-प्रदेश वाहर निकलने शुरू हो जाते हैं। जहां उसे जनमना है, वहां तक उनका अविच्छिन्न तांता लग जाता है। इस क्रम मे असंख्य आत्मप्रदेश शरीर से वाहर निकल जाते है। हमे यहां समझना यह है कि आत्मा चाहे कितनी भी विस्तीर्ण क्यों न हो जाए या फिर कितनी भी

संकुचित क्यो न हो जाए, उसका संबंध सदा एक ही रहता है। उसका विश्लेप/भेद नहीं होता। विश्लेप सदा पुद्गलों में ही हो सकता है।

अन्धकार

वन्ध के पश्चात् हम अंधकार की चर्चा करेंगे। अंधकार भी पुद्गल का एक लक्षण है।

कृष्णवर्णबहुलः पुद्गलपरिणामविशेषः तमः।

श्यामवर्ण पुद्गलो के सघन रूप मे एकत्र होने का नाम अन्धकार है। कुछ दार्शनिक अन्धकार को पुद्गल नही मानते। उनकी मान्यता के अनुसार अन्धकार मात्र प्रकाश का अभाव है। उन्होंने अपने इस कथन को यथार्थ साबित करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क दिए है। बहुत-से लोग उनके इस कथन को सही मानते है। पर जैन दार्शनिकों को यह मान्यता स्वीकार नही है। जैन दर्शन के अनुसार अन्धकार अभावात्मक नही, अपितु भावात्मक स्थिति है। हम व्यवहार मे भी 'अन्धकार है'—ऐसा कहते है। यह उसके भावात्मक रूप को प्रमाणित करता है। यदि अन्धकार अभावात्मक होता तो 'अंधकार है' के स्थान पर हमारे कथन की भाषा होती—'प्रकाश नही है।' लेकिन हम सब जानते है कि अंधकार को कोई भी 'प्रकाश नही है' ऐसा नही कहता।

दूसरी बात—यदि प्रकाश का अभाव ही अंधकार है तो कोई यह भी कह सकता है कि अंधकार के अभाव का नाम ही प्रकाश है। प्रकाश नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नही है। यदि अंधकार के स्वतंत्र अस्तित्व को इनकार किया जाएगा तो प्रकाश के स्वतंत्र अस्तित्व को सिद्ध करने का आधार भी समाप्त हो जाएगा। इसलिए यदि प्रकाश का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया जाता है तो अंधकार के स्वतंत्र अस्तित्व को नकारने का कोई आधार नही है। यह नही हो सकता कि हम एक के अस्तित्व को स्वीकार करे और दूसरे को अस्वीकार।

प्रकाश के अभाव का नाम अंधकार है—इस कथन के विरोध मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अंधकार प्रत्यक्ष दिखाई देता है। जो वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई पडती है, अर्थात् जिसका वर्ण प्रत्यक्ष है, उसका स्वतंत्र अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। क्योकि वर्ण किसी वस्तु/पुद्गल का ही होता है, अवस्तु का नही। और जब वर्ण प्रत्यक्ष है तो उसके स्पर्श, रस, गंध आदि स्वत. प्रमाणित है। वर्ण गंध, रस और स्पर्श—इनमें से किसी एक के होने का अर्थ होता है, ये सभी है। इनमे से एक का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नही है। वर्ण की तरह अंधकार का स्पर्श भी प्रत्यक्ष अनुभव होता है। धूप से एक व्यक्ति अंधकार मे जाता है तो सहजरूप से उसे ठंडक की अनुभूति होती है। शीत-उष्ण, रूक्ष-स्निग्ध, गुरु-लघु, कोमल-कठोर—ये सभी स्पर्श के बिना हो नही सकते। इसी प्रकार गंध और रस भी अंधकार में है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब प्रकाश के वर्ण, गंध,

रस व स्पर्श है तो अंधकार के भी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। इसलिए प्रकाश के अस्तित्व की तरह अंधकार का भी स्वतंत्र अस्तित्व है। इस संबंध मे और भी अनेक तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं, पर विस्तार के भय से मैं इस प्रकरण को यही समाप्त करता हूं।

प्रश्न पूछा जा सकता है, सूर्योदय होते ही अंधकार कहां चला जाता है? यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। साधारणतया कहा जाता हैं कि अंधकार नष्ट हो गया, समाप्त हो गया। पर यह केवल बोल-चाल की भाषा है, वास्तविकता नही। वास्तविकता यह है कि अंधकार वही का वही पड़ा रहता है। कही दूसरे स्थान पर नही जाता। केवल पुद्गलो परिवर्तन मात्र होता है। श्यामवर्ण पुद्गल सूर्य की किरणों के आते ही श्वेतवर्ण मे रूपान्तरित हो जाते है। आप इसे आश्चर्य न माने। हम प्रत्यक्ष देखते है कि केश श्याम से श्वेत हो जाते हैं। हालांकि केशों के वर्ण-परिवर्तन मे समय लगता है और यह परिवर्तन तत्काल हो जाता है।

जैन दर्शन विज्ञानसम्मत है

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अंधकार के सबंध मे जैन दर्शन की मान्यता विज्ञान-सम्मत है। हमे इस बात का सात्त्विक गौरव होना चाहिए कि अन्यान्य धर्मो एवं दर्शनों की तुलना मे जैन धर्म और दर्शन की बातें विज्ञान से बहुत अधिक सम्मत है। यह बात केवल मैं या जैन समाज के लोग ही कहे तो बहुत महत्त्वपूर्ण नही, पर जब दूसरे-दूसरे लोग इसे एक सचाई और तथ्य के रूप मे स्वीकार करते हैं तो वस्तुत ही यह एक महत्त्वपूर्ण बात है।

प्रसंग कॉमरेड यशपाल का

कॉमरेड यशपाल का नाम आपने सुना होगा। यद्यपि विचारों से वे कट्टर नास्तिक है, पर अच्छे विद्वान् और चिन्तनशील व्यक्ति हैं। हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकारो मे से वे एक है। जब मैं लखनऊ गया तो वे वही थे। हमारे कार्यकर्त्ताओ ने उनसे सम्पर्क किया और मिलने की प्रेरणा दी। उन्होंने आने की स्वीकृति दी और वे चलने को तैयार भी हो गए। लेकिन चलते-चलते ही अचानक रुक गए और उन्होंने कार्यकर्त्ताओं से पूछा—"मुझे आप लोगों ने यशपाल जैन (जीवन साहित्य के सम्पादक) समझकर तो आमन्त्रण नहीं दिया है?"

"नही, हमने यशपाल जैन समझकर नही, अपितु कॉमरेड यशपाल समझकर ही आपको आमन्त्रित किया है।"—कार्यकर्त्ताओं ने उनकी आशका को दूर करते हुए कहा।

वे मेरे पास आए। हम दोनों का परस्पर यह प्रथम ही साक्षात्कार

था। विभिन्न विषयों पर हमारी खुलकर बातचीत हुई। वार्ता के अन्तिम क्षणों में कॉमरेड यशपाल ने एक बात कही—"आचार्यजी! यदि आप समय दे सकें तो मैं जैन धर्म का अध्ययन करना चाहता हूं।"

मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि जो व्यक्ति धर्म का नाम तक भी नही चाहता, वह धर्म के अध्ययन की बात कर रहा है। मैंने साश्चर्य उनसे पूछा—"आप व्यंग्य तो नहीं कर रहे हैं?"

"नही, व्यंग्य नही, मेरी हार्दिक इच्छा है।"—यशपालजी के शब्दों मे नही, अपितु चेहरे पर भी जिज्ञासा का भाव मूर्त रूप ले रहा था।

"क्यो?"—मेरा अगला प्रश्न था।

"यद्यपि मैं धर्म मे विश्वास नही करता, पर इतना अवश्य मानता हूं कि ससार में जितने भी धर्म हैं, उनमे जैन धर्म और उसका दर्शन सर्वाधिक न्याय-संगत, तर्क-संगत और विज्ञान-सम्मत है।"—यशपालजी ने अपनी अवधारणा प्रकट की।

युवकों को आवाहन

बन्धुओ! यह विचार एक-दो विद्वानों या प्रबुद्ध लोगो का नही है, अपितु सैकड़ो चिन्तनशील तटस्थ व्यक्ति उस विचार से सहमत हैं। मैं आपसे पूछता हू, इस सम्बन्ध मे आप क्या कहते हैं? पर आप क्या कहेंगे? आप को इस विषय का ज्ञान भी तो नही है। जब ज्ञान ही नही तो सम्मति या विमति देने का भी कोई मूल्य नही। मुझे इस प्रसंग में एक श्लोक की स्मृति हो रही है—

'विमति सम्मति वापि, नास्तिकस्य न मृग्यते।
परलोकात्ममोक्षेषु, यस्य मुह्यति शेमुषी॥'

विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न विषयो पर अपने-अपने विचार रखे। एक सुझाव आया कि चार्वाक दर्शन (नास्तिक दर्शन) के विचार भी लिए जाने चाहिए। तब समाधान दिया गया—नही, उसके विचार लेने की कोई अपेक्षा नही है। जो लोग आत्मा परमात्मा, मोक्ष, परलोक.......जैसी बातो मे ही उलझ जाते है, ऐसे अज्ञानियों की सम्मति या विमति दोनों ही नही चाहिए।

बन्धुओ! मै आपको नास्तिक तो नही बता सकता। पर इतना अवश्य है कि जिस विषय का आपको ज्ञान ही नही, उस विषय पर आपकी सम्मति या विमति कोई विशेष अर्थ नहीं रखती, महत्त्व नहीं रखती। इसलिए अपेक्षित यह है कि जैन धर्म और दर्शन का ठोस अध्ययन किया जाए। मुझे बड़ा आश्चर्य है कि हर्मन जेकोबी (जरमन जैन विद्वान्), डॉ० राधा-

कृष्णन् जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वानों की जिस धर्म और दर्शन पर कलम चली है, उस धर्म और दर्शन के अध्ययन के प्रति समाज की युवापीढी उदासीन है। मैं यह तो नही मान सकता कि हमारे युवकों में प्रतिभा या बुद्धि नही है। जब वे इंजीनियरिंग, डॉक्टरी आदि अन्यान्य अध्ययन के क्षेत्रो में सफलतापूर्वक आगे बढ सकते हैं तो निश्चय ही वे प्रतिभासम्पन्न एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाले हैं। इस स्थिति में यही लगता है कि इस विषय में उनकी रुचि अभी तक जागृत नही हुई है। फिर भी मैं निराश नहीं हूं। मैं युवकों से कहना चाहता हूं कि वे इस विषय मे अपनी अभिरुचि जागृत करें और जैन धर्म और दर्शन का ठोस ज्ञान प्राप्त करें। पर यह अध्ययन दूसरो को समझाने के लिए नही, अपितु स्वान्तः सुखाय होना चाहिए। स्वय की ज्ञान-सपदा को विकसित करने के लिए होना चाहिए। और जहां स्वय को प्राप्ति होगी, वहां दूसरे तो सहजरूप से लाभान्वित होगे ही।

गगाशहर
२५ जुलाई, १९७८

१३

क्या छाया स्वतंत्र पदार्थ है ?

तात्विक प्रवचन के अन्तर्गत कल मैने अन्धकार और प्रकाश की विस्तृत चर्चा की थी और यह बताया था कि अन्धकार और प्रकाश दोनो ही पुद्गल के लक्षण है। अंधकार और प्रकाश को यद्यपि हम आंखों से देखते हैं पर उन्हें पकड़ नही सकते। इस सन्दर्भ मे हमे एक बात समझ लेनी आवश्यक है। पुद्गल चतु:स्पर्शी और अष्टस्पर्शी दो प्रकार के होते हैं। यद्यपि उनकी विस्तृत चर्चा तो मैं अभी नही करूंगा, तथापि इतना बता देता हूं कि चतु:स्पर्शी पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म होते है। हम उन्हें देख ही नहीं सकते। अष्टस्पर्शी पुद्गल स्थूल होते हैं, अतः वे आंखो के विषय बन सकते हैं।

मनोवर्गणा, वचन वर्गणा और कार्मण वर्गणा के पुद्गल चतु:स्पर्शी है। सूक्ष्म हैं। इनकी सूक्ष्मता मे भी तरतमता है। वचन वर्गणा से मनोवर्गणा के पुद्गल सूक्ष्म है और मनोवर्गणा से कार्मण वर्गणा के पुद्गल सूक्ष्म है। शेष सभी पुद्गल अष्टस्पर्शी है। (श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गल चतु:स्पर्शी भी होते है।) आपके मन मे जिज्ञासा होगी, वर्गणा किसे कहते है ? सजातीय पुद्गलों के समवाय/समूह को वर्गणा कहते है। जैन दर्शन मे स्थूल रूप में आठ वर्गणाएं मानी गई है।

अधकार और प्रकाश भी अष्टस्पर्शी है, स्थूल है। अतः हम उन्हें आंखो से देख पाते है।

छाया

प्रतिबिम्बरूपः पुद्गलपरिणामः छाया।

हम देखते है कि जब कोई व्यक्ति धूप मे चलता है तो ठीक उसके शरीर के आकार की ही छाया पड़ती रहती है। इसी प्रकार दर्पण के सामने जब कोई व्यक्ति खड़ा होता है तो ठीक उसके शरीर के आकार का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। यह पुद्गल-परिणति है। जो पुद्गल प्रतिबिम्ब के रूप में परिणत हो जाते है, उन्हे छाया कहा जाता है।

तदाकार छाया के रूप में पुद्गल हर प्राणी के शरीर से सदा निकलते ही रहते है। यह दूसरी बात है कि वे कभी पकड़े जाते हैं और कभी

पकड मे नही भी आते। फोटोग्राफर आता है और आपका फोटो खीच लेता है। क्या है यह फोटोग्राफी ? यह फोटोग्राफी और कुछ नही, केवल आपके शरीर से निकलनेवाले तदाकार पुद्गलो को पकड़ने की प्रणाली है। धूप मे या तेज प्रकाश वे पुद्गल अभिव्यक्त होते है। अन्यथा अभिव्यक्ति नही होते। कैमरे में वे पकड़े जाते है। विना कैमरे वे पकड़े नही जाते।

प्रतिविम्व के अभिव्यक्त होने में उस पदार्थ का वहुत महत्त्व है, जिसमें वह प्रतिविम्वित होता है। वह पदार्थ जितना स्वच्छ व स्थिर होगा, प्रतिविम्व भी उतना ही साफ अभिव्यक्त हो सकेगा। हम प्रत्यक्ष देखते है कि श्रोता यदि एकाग्रचित्त और ग्राहक बुद्धिवाले होते है तो उन्हे प्रवचन का पूरा-पूरा लाभ मिलता है। इसके विपरीत यदि वे व्यग्रचित्त और अग्राहक बुद्धिवाले होते है तो अच्छे-से-अच्छे प्रवचन मे भी उनके पल्ले कुछ नहो पडता। केवल शव्द कान मे पडते जाते है और वापस निकल जाते है। ठीक यही वात प्रतिविम्व के प्रतिविम्वित होने के सम्वन्ध मे लागू होती है । पानी स्वच्छ और स्थिर है तो उसमे पडनेवाला प्रतिविम्व वहुत साफ उभरता है। पर वही पानी जव गंदा और अस्थिर होता है तो प्रतिविम्व साफ नही उभरता।

प्राथमिक जीवन-विशुद्ध

धर्म के सम्वन्ध मे भी यही वात है। व्यक्ति का चित्त जितना साफ और सरल होता है, धर्म उतना ही अधिक उसके जीवन मे फलीभूत होता है। भगवान महावीर ने यह वात इन शव्दो मे कही—

'धम्मो सुद्धस्स चट्ठई।'

—धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है।

यहा एक शंका हो सकती है कि धर्म तो स्वय आत्मा की शुद्धि का साधन है, इस स्थिति मे उसके जीवन मे प्रवेश पाए विना आत्मा शुद्ध कैसे होगी ? यह विलकुल ठीक है कि धर्म आत्म-शुद्धि का एकमात्र साधन है। धर्म को अपनाने से ही जीवन शुद्ध वनता है। पर साथ ही हमे इस तथ्य को भी नही भूलना चाहिए कि धर्म को जीवन मे टिकने के लिए पृष्ठभूमि के रूप मे एक सीमा तक पवित्रता की अनिवार्य अपेक्षा है। यदि जीवन मे प्राथमिक पवित्रता नहीं होगी तो धर्म टिकेगा ही कहा ? और जव उसे टिकने को ही स्थान नही, तव उसके द्वारा व्यक्ति के जीवन-शोधन की तो कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? इसलिए हम इस तथ्य को भलीभाति समझे कि धर्म के प्रतिविम्वित होने के लिए एक सीमा तक जीवनशुद्धि अनिवार्य है। यह प्राथमिक जीवनशुद्धि यदि नही होती है तो जीवन मे धर्म को अकुरित होने के लिए उपयुक्त उर्वरा ही नही मिल पाती। हम प्रत्यक्ष देखते है कि वहुत-से लोग धर्म की लम्वी-चौड़ी वाते तो वहुत करते है, धार्मिक क्रियाकाण्ड

आदि भी करते है, पर धार्मिकता उनके जीवन को छू तक नही पाती। उनका व्यवहार धर्म के विपरीत चलता है। इसका कारण यही तो है कि क्रियाकांड आदि करने हुए भी धर्म टिक सके उतनी प्राथमिक विशुद्धि उनके जीवन की नही हो पाई है।

धार्मिकता की पहचान

व्यक्ति के जीवन में धर्म फलित हुआ है या नही, इसकी कसौटी वहुत सीधी-सी हे। अगर प्रतिकूलता मे व्यक्ति अपना संतुलन नही खोता है तो मानना चाहिए कि उसके जीवन मे धर्म फलित हुआ है। इसके विपरीत मन की जरा-सी प्रतिकूलता मे यदि वह अपना संतुलन खोकर आपे से वाहर हो जाता है तो यह मान लेना चाहिए कि अभी तक धर्म केवल चोगे के रूप में है, आत्मगत नही।

धार्मिक व्यक्ति की एक वहुत वडी पहचान है कि वह गुस्सा नही करता। गुस्सा करना अधार्मिकता का द्योतक है। एक व्यक्ति एक सन्त के पास गया और प्रश्न की भाषा मे वोला—"महाराज! लोग जिस स्वर्ग और नरक की वात करते है, वह वास्तविक है अथवा कपोलकल्पित?"

"तू कौन है?"—सत ने प्रश्न को उत्तरित करने की अपेक्षा प्रति-प्रश्न किया।

"वावा! मै यहा के महान् सम्राट् का अंगरक्षक हू।"—गर्व के साथ उसने कहा।

"अरे! किस मूर्ख ने वना दिया तुझे अंगरक्षक? तेरा चेहरा ही सम्राट् का अगरक्षक वनने जैसा नही है। मुझे तो तू भूखा भिखारी प्रतीत होता है।"—व्यग्य भरी हसी हसते हुए सत ने कहा।

सत के इन वोलो को सुनते ही वह अंगरक्षक गुस्से मे आ गया। उसके चेहरे का रंग वदल गया। होठ फड़फड़ाने लगे। आंखें लाल हो गईं। कमर पर लटकती तलवार की मूठ की ओर हाथ वढ गया। पर तलवार वाहर निकलता उससे पूर्व ही सत ने मुस्कराते हुए कहा—"अच्छा, तू तलवार भी रखता है! परन्तु ख्याल रखना इस तलवार से मेरा सिर नही कटेगा। मेरा सिर काटने के लिए तो दूसरी तलवार चाहिए।"

अब तो अंगरक्षक का क्रोध सातवे आसमान पर चढ गया। तलवार वाहर निकल गई। दात किटकिटाते हुए वोला—"किस सिरफिरे से पाला पड़ा है! मेरे प्रश्न का जवाव देना तो दूर, उलटे मेरी ही आलोचना! मैं इसे कभी भी वर्दास्त नही कर सकता।...."

इस वार संत ने जोरदार ठहाका लगाया और वोले—"तेरे आवे

प्रश्न का उत्तर तो तुझे मिल गया है। नरक का दरवाजा तो तूने खोल लिया है। इसलिए अव यह पूछना वेमानी है, नरक है या नही ?"

आधा प्रश्न समाहित होने की वात सुनकर अंगरक्षक जरा संभला। मन-ही-मन सोचने लगा—अरे ! यह तो मेरी कसौटी हो रही है। मैं कहां चला गया ? उसका गुस्सा शांत हुआ। तलवार वापस म्यान मे चली गई। संत के प्रति दुर्व्यवहार के लिए मन पश्चात्ताप से भर गया। सन्त के चरणों मे गिरकर पुनः-पुन. क्षमायाचना करने लगा।

"अव तेरे प्रश्न का पूरा समाधान हो गया है। तूने अव स्वर्ग का दरवाजा खोल लिया है।"—संत ने उसकी पीठ थपथपाते हुए कहा।

प्रश्न के जवाव देने की इस अनोखी शैली को देखकर वह अंगरक्षक अत्यंत प्रभावित हुआ। श्रद्धावनत संत को नमन कर वह ज्योंही लौटने लगा, संत ने उसे रोकते हुए प्रतिवोध की भाषा में कहा—"मेरी वात ध्यान से सुन। यह केवल क्रोध और अक्रोध/शांति की वात नही है, अपितु समग्र जीवन-पद्धति का प्रश्न है। जव-जव तू क्रोध की ही तरह अहकार, माया, लोभ, वासना, ईर्ष्या····मे चला जाता है, तव-तव नरक का दरवाजा स्वत खुल जाता है। इसी के समानान्तर जव-जव तू अक्रोध/शाति की तरह ही मुक्ति, आर्जव, मार्दव, संयम, तप, त्याग, सत्य, व्रह्मचर्य मे आ जाता है तव-तव स्वर्ग का दरवाजा खुल जाता है। वस्तुतः स्वर्ग और नरक को कही वाहर खोजना निरी भ्रांति है। स्वर्ग और नरक दोनों अपने भीतर ही है।"

वन्धुओ ! मैं इस वात को इस रूप मे कहना चाहता हूं कि क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, वासना आदि अधार्मिकता की पहचान है और क्षमा मुक्ति, आर्जव, मार्दव आदि धार्मिकता की कसौटी। यदि व्यक्ति क्रोध से अक्रोध, असत्य से सत्य, माया से ऋजुता की ओर मुड जाता है, यानी उसका जीवन दिशान्तरित हो जाता है तो समझ लेना चाहिए कि जीवन मे धर्म फलित हुआ है।

छाया : दो मान्यताएं

मैं अपने मूल विषय पर पुन लौटता हूं। मैं आपको छाया/प्रतिविम्व के वारे में वता रहा था। मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि किसी भी वस्तु के प्रतिविम्वित होने में उस पदार्थ का वहुत वडा महत्त्व है, जिसमे वह प्रतिविम्वित हो रही है।

छाया/प्रतिविम्व के वारे में जैसा कि मैंने प्रारम्भ मे वताया था, हर प्राणी के शरीर से तदाकार पुद्‌गल निकलते रहते है और उनकी छाया पडती है। यह एक मान्यता है। इस सदर्भ मे एक दूसरी मान्यता और भी है—हम जहां खडे रहते है, वहां के पुद्‌गल उस रूप मे रूपान्तरित हो जाते हैं। इन दोनो

मान्यताओं में से कौन-सी मान्यता सही है, इस विवाद में मैं नही जाना चाहता। पर इतना तो दोनों ही मान्यताओं से निर्विवाद रूप से प्रमाणित है कि छाया पुद्‌गल है।

आभामंडल विज्ञानसम्मत है

छाया पुद्‌गल है, यह बात हम शास्त्रों में सदा से पढ़ते रहे हैं। पर आज विज्ञान ने भी अनेकानेक प्रयोगो के द्वारा इसे साबित कर दिया है। हम सदा से पढते और सुनते आए है कि तीर्थंकरों के आभामंडल होता है। आज विज्ञान ने भी इसे स्वीकार कर लिया है। स्वीकार ही नही किया है, विभिन्न प्रयोगों के द्वारा इसे प्रमाणित भी कर दिया है। विज्ञान तो यहां तक कहता है कि तीर्थंकरो/महापुरुषो के ही नही, अपितु प्रत्येक प्राणी के आभा-मडल होता है। चूकि तीर्थंकरो/महापुरुषों का आभामंडल स्वच्छ होता है, इसलिए बिलकुल स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। लेकिन दूसरे-दूसरे प्राणियो का आभामडल इतना स्वच्छ नही होता, इसलिए दिखलाई नही देता। आजकल ऐसा कैमरा विकसित किया गया है, जिसके माध्यम से सामान्य प्राणियो के आभामडल के भी फोटो लिए जा सकते है और लिए भी गए हैं। उन चित्रो के आधार पर एक बहुत महत्त्वपूर्ण तथ्य यह सामने आया है कि जिस व्यक्ति के अच्छे या बुरे जैसे विचार होगे, उसके आभामंडल का चित्र भी उनके अनुरूप आएगा। इस क्रम से विभिन्न व्यक्तियो के आभामंडल के चित्र भी अलग-अलग प्रकार के आएंगे। चित्र ही क्यो, रंग भी अलग-अलग आएगे। आभामडल के रंग आदि को सविस्तार समझने के लिए जैन दर्शन के लेश्या प्रकरण का अवधानपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। लेश्या का जैसा सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन जैन दर्शन में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नही, लगभग अप्राप्त है।

आतप

सूर्यादीनामुष्णः प्रकाश आतपः।
चन्द्रादीनामनुष्णः प्रकाश उद्योतः।
मण्यादीनां रश्मिः प्रभा।
सर्व एव एते पुद्‌गलधर्मा., अत एतद्वानपि पुद्‌गलः।

सूर्य आदि के उष्ण प्रकाश को आतप कहा जाता है। यह भी पुद्‌गलों की परिणति है। इसलिए इसे भी पुद्‌गल का लक्षण माना गया है। हम देखते है कि कुछ लोग इतने तेजयुक्त होते है कि उनके तेज को हर कोई बर्दाश्त नही कर पाता। उदाहरणार्थ—हमारे धर्मसंघ के सप्तमाचार्य पूज्य डालगणी। ऐसा कहा जाता है कि उनका चेहरा इतना तेजयुक्त था कि हर किसी की यह हिम्मत ही नही होती थी कि वह उनके नजदीक चला जाए,

उनसे बातचीत कर ले। महाराज गंगासिंहजी का उदाहरण भी आपके सामने है। उनका तेज भी उल्लेखनीय था।

उद्योत

चन्द्र आदि के शीतल प्रकाश को उद्योत कहा जाता है। यह भी पुद्गल की परिणति है।

आतप की तरह कुछ लोगों की शीतलता भी उल्लेखनीय होती है। पूज्य कालूगणी का उदाहरण हमारे सामने है। वे इतने शीतल थे कि कोई भी उनके पास जा सकता था। उनसे अपने दिल की बात कह सकता था। और तो क्या, छोटे-छोटे बच्चे भी मुक्त भाव से उनके चरणों मे उपस्थित होते थे। मैं पहले भी कई बार बता चुका हूं और आज पुन. बताता हू कि मेरे वैराग्य का मूलभूत कारण पूज्य कालूगणी की वह शीतल-सौम्य आकृति ही थी। जब कभी कालूगणी लाडनू पधारते, मैं घंटो-घंटो खड़े-खड़े उनकी उस दिव्य आकृति को निहारता। धीरे-धीरे मेरे मन मे यह तीव्र भावना बन गई कि मैं भी गुरुदेव का एक छोटा-सा शिष्य बनकर उनके चरणों मे समर्पित हो जाऊं।

प्रभा

रत्न आदि की रश्मियो को प्रभा कहते हैं। यह भी पुद्गल की एक परिणति है।

पुद्गल के विभिन्न लक्षणो की चर्चा मैंने अपने प्रवचनो मे की। ये सभी पुद्गल के धर्म है। अतः पुद्गल के विभिन्न लक्षणो के रूप मे इन्हें निरूपित किया गया है।

पुद्गल के दो प्रकार

पुद्गलों की विभिन्न परिणतियों की चर्चा के पश्चात् अब हमे यह समझना है, पुद्गल कितने प्रकार के हैं?

परमाणुः स्कन्धश्च।

पुद्गल के दो प्रकार हैं—

१ परमाणु

२. स्कन्ध।

परमाणु और स्कंध की विस्तृत चर्चा आज मैं नही करूंगा। संक्षेप मे आप इतना-सा समझ लें कि सूक्ष्मतम पुद्गल परमाणु है और अनेक परमाणुओं के एकीभूत रूप को स्कन्ध कहा गया है। परमाणु के अतिरिक्त सभी पुद्गल स्कंध है।

आप मेरे हाथ मे यह कपड़ा देख रहे हैं। यह एक स्कध है। ये मिट्टी के सूक्ष्म कण भी स्कंध हैं। आप कहेगे—इतने सूक्ष्म कण भी स्कंध हैं, तब

फिर परमाणु किसे कहें ? वास्तव में दृश्य जितने भी पुद्गल है, वे सभी स्कंध ही है। परमाणु कभी आंखों से दिखाई नही पड़ता।

प्रश्न है, वास्तविक परमाणु है या स्कन्ध ? एक दृष्टि से परमाणु ही वास्तविक है। दो, चार, सौ, हजार, करोड़, असख्य, अनन्त परमाणुओ से मिलकर एक स्कन्ध बनता है। पर जैसा कि मैंने पहले बताया, परमाणु इतना सूक्ष्म होता है कि आप उसकी कल्पना भी नही कर सकते। दो-चार-पाच परमाणुओं के स्कंध के दीखने की बात तो बहुत दूर की है, संख्येयप्रदेशी और असख्येयप्रदेशी पुद्गलो को भी हम अपने चर्म चक्षुओं से नही देख सकते। केवल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध ही हमारी आंखो द्वारा ग्राह्य होते हैं। इसमे भी इतना और समझ लें कि सब अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हमारी आंखों के विषय नही बनते। केवल वे ही अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हम देख पाते हैं, जो स्थूल हैं। इससे हम परमाणु की सूक्ष्मता से परिचित हो सकते हैं। आपको शायद यह बात विचित्र लगे। पर वास्तव मे आज यह कुछ भी विचित्र नही है। विज्ञान ने बहुत ही सूक्ष्म-सूक्ष्म खोजें की है। प्रकाश एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकड की रफ्तार से गति करता है। जब इस सूक्ष्मता को आप स्वीकार करते है, तब शास्त्रो मे वर्णित सूक्ष्मता पर तो अविश्वास करने का कोई औचित्य ही नही है। हालाकि हमारे तीर्थंकरो के पास सूक्ष्मता को मापने के लिए यत्र नही थे, पर उन्हें उनकी अपेक्षा भी कहा थी। वे आत्म-द्रष्टा थे। उन्होने आत्म-ज्ञान की गहराई मे सब कुछ प्रत्यक्ष देखा। यंत्रों से मापने का काम विज्ञान का है। वह यत्रों को विकसित कर विभिन्न सूक्ष्मताओ को मापने का प्रयास कर सकता है।

गंगाशहर
२६ जुलाई, १९७८

परमाणु का स्वरूप

'परमाणु' की प्रासगिक संक्षिप्त चर्चा मैं पिछले प्रवचनो मे कई वार कर चुका हूं। पर उसका सागोपांग विवेचन अभी तक अवशेप है। आज मैं परमाणु का कुछ विस्तृत विवेचन कर रहा हूं।

अविभाज्यः परमाणु ।

जिसका कोई विभाग न हो सके, जो कभी टूट न सके उस सूक्ष्मतम पुद्गल को परमाणु कहा जाता है। यह उसकी सक्षिप्त परिभापा है। उसकी विस्तृत परिभापा देते हुए एक प्राचीन आचार्य ने लिखा है—

'कारणमेव तदन्त्य, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥'

जो किसी भी पौद्गलिक पदार्थ का अन्तिम कारण है, सूक्ष्म है, नित्य है; एक रस, एक गंध, एक वर्ण व दो स्पर्शयुक्त है और जिसका अस्तित्व दृश्यमान कार्यो से जाना जाता है, वह परमाणु है।

इस परिभापा मे परमाणु को पौद्गलिक पदार्थों का अन्तिम कारण वताया गया है। अन्तिम कारण को समझने से पूर्व आप कारण को समझें। और कारण को समझने के लिए आप कार्य को भी समझें। जिससे वस्तु निर्मित होती है, वह कारण कहलाता हे तथा जो वस्तु निर्मित होती है, उसे कार्य कहा जाता है। इसे आप उदाहरण से और स्पप्ट रूप से समझ पाएगे। मिट्टी का घड़ा वनता है। यहां मिट्टी कारण है और घडा कार्य है। परमाणु कारण है, कार्य नही। क्योकि परमाणुओ के मिलने से छोटे-वड़े सभी स्कंध वनते है परन्तु परमाणु किसी से नही वनता।

अन्तिम कारण वह होता है, जिसके विना कार्य (वस्तु) होता ही नही। मैं स्थूल उदाहरण से समझाऊं। कल्पना कीजिए एक व्यक्ति ने हजार वूदी को मिलाकर एक लड्डू वनाया। दूसरे व्यक्ति ने पांच-पांच सौ वूदी के दो लड्डू मिलाकर एक लड्डू वनाया। तीसरे व्यक्ति ने ढाई-ढाई सौ वूदी के चार छोटे लड्डुओ को मिलकर एक लड्डू वनाया। इस प्रकार और भी छोटे-छोटे लड्डुओ को मिलाकर एक लड्डू वनाया जा सकता हे। पर सवका अन्तिम कारण वूदी है। यदि वूदी न हो तो लड्डू वन ही नही सकता।

परमाणु भी अन्तिम कारण है। उसके विना कोई वस्तु/स्कन्ध वन ही नहीं सकता।

जैसा कि मैं पहले कई वार वता चुका हूं कि परमाणु सर्वाधिक सूक्ष्म है। इसकी सूक्ष्मता की कल्पना आप एक वात से करें। मान लीजिए, किसी व्यक्ति की आंख मे वालू का एक कण गिर गया। कण विलकुल छोटा-सा है फिर भी आंख उसे सहन नही करेगी। वह आंख में रह रहकर रड़कन और पीडा उत्पन्न करेगा। आखिर जव उसको निकाला जाएगा, तभी उस व्यक्ति को चैन पड़ेगी। पर एक परमाणु गिर जाए तो कुछ पता ही नही चलेगा। एक परमाणु ही क्यो, हजार, लाख, करोड''' असंख्येय परमाणुओं का स्कन्ध भी गिर जाए तो भी उसको कोई रड़कन या पीड़ा अनुभव नही होगी। इससे भी और आगे कहू तो सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का भी उसे कोई अनुभव नही होगा। मात्र स्थूल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का ही अनुभव हो सकेगा। यानी एक सूक्ष्म वालू कण से परमाणु अनन्तगुणा सूक्ष्म है।

ऐसे सूक्ष्म परमाणु को न तो हवा उडा सकती है और न पानी ही वहा सकता है। अग्नि उसे जला नही सकती। तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण शस्त्र की धार भी उसे काट नही सकती। और तो क्या, लाखों सैनिकों वाली चक्रवर्ती की सेना भी यदि उसके ऊपर से होकर गुजर जाए तो भी वह उससे सर्वथा अप्रभावित रहेगा, जरा भी इधर से उधर नही होगा।

परमाणु नित्य है। वह सदा परमाणु था, परमाणु है और परमाणु रहेगा।

अब आपको यह जानना है कि परमाणु मे वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते है या नही? चूकि परमाणु भी एक दृष्टि से पुद्गल ही है, इसलिए उसमे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अवश्यमेव होते है। पर परमाणु एक प्रदेशी ही होता है, अत. उसमे एक वर्ण, एक रस, एक गन्ध और दो स्पर्श ही पाए जाते है।

यहां प्रश्न सामने आएगा, परमाणु मे कृष्ण, नील, श्वेत, रक्त और पीत—इन पांचों वर्णो मे से कौन-सा एक वर्ण पाया जाता है? परमाण मे कौन-सा एक वर्ण पाया जाता है?—इसका कोई निश्चित विधान नही है। पाचो वर्णो मे से कोई भी एक वर्ण पाया जा सकता है। हां, इतना अवश्य है कि वह एक वर्ण परिवर्तित होता रहता है। यानी श्वेत वर्ण का पीत वर्ण, पीत वर्ण का रक्त वर्ण, रक्त वर्ण का कृष्ण वर्ण''''बन सकता है। इस परिवर्तन का कोई निश्चित क्रम नही है।

यही स्थिति परमाणु मे गन्ध और रस की भी है। कोई भी एक गंध और एक रस उसमे पाया जा सकता है और उनमें परिवर्तन का क्रम भी चलता रहता है।

स्पर्श के बारे मे कुछ भिन्न विधान है। जहा वर्ण, गध, और रस एक-एक ही पाए जाते है, वहां स्पर्श दो पाए जाते है। यहां पुनः प्रश्न आएगा, कौन-कौन से दो स्पर्श पाए जाते है ? इसका समाधान यह कि उष्ण और शीत स्पर्श में से एक तथा रूक्ष और स्निग्ध स्पर्श मे से एक स्पर्श परमाणु में होता है। ये भी स्थायी नही हैं। इनमें भी परिवर्तन होता रहता है।

परमाणु का इतना विवेचन करने के बावजूद अभी तक मैं पूरे श्लोक का अर्थ स्पष्ट नही कर पाया हू। संस्कृत भाषा की यह विशेषता है कि उसमें बहुत थोड़े-से शब्दों में बहुत बात कह दी जाती हैं। दूसरी-दूसरी भाषाओं में जिस बात को कहने के लिए बीस-तीस शब्दो मे जरूरत होती है, उसी बात को संस्कृत भाषा मे पाच-सात शब्दों में कहा जा सकता हैं। सचमुच यह इस भाषा का अत्यत महत्त्वपूर्ण गुण है। हम भाषा को ही क्यो, वक्तृत्व को भी देखें। कुछ लोग जहा बहुत थोड़े मे बहुत अधिक कहने की कला मे माहिर होते है, वही बहुत-सारे लोग बोलते तो बहुत है पर उसमे तथ्य बहुत कम या नही के बराबर होता है। उन पर यह कहावत चरितार्थ होती है—'खोदा पहाड़ निकली चुहिया।'

मौन की शक्ति

बोलने का अपना महत्त्व है तो न बोलने का भी अपना महत्त्व है, बल्कि बोलने की अपेक्षा न बोलना/मौन ज्यादा महत्त्पूर्ण और उपयोगी होता है। संसार के सभी महापुरुषों ने इसीलिए मौन पर बहुत बल दिया है। भगवान महावीर ने बारह वर्षों तक मौन किया। महात्मा गांधी सप्ताह मे एक दिन मौन किया करते थे। बोलने से शक्ति क्षय होती है। उस क्षरित शक्ति को पुनः संगृहीत करने में मौन सर्वाधिक उपयोगी है। अपने स्वयं के अनुभव की बात मैं बताऊं। सुदूर प्रदेशों की यात्राओ के दौरान मुझे बहुत अधिक बोलना पड़ता। कभी-कभी तो दिन मे पाच-पांच बार प्रवचन करना पड़ता। यह निश्चित है कि कोई चाहे कितना भी सक्षम क्यो न हो, अधिक बोलने मे आखिर उसकी शक्ति तो टूटेगी ही। मैं कई बार बोलते-बोलते बहुत थक जाता। मन मे प्रश्न उभरा, क्या समाधान खोजा जाए इस समस्या का ? मैंने प्रति दिन दो घटे का मौन प्रारम्भ कर दिया। इस मौन से मैं बहुत लाभान्वित हुआ। ऐसा अनुभव हुआ कि दिन भर बोलने मे जो शक्ति क्षीण होती है, वह दो घंटे के मौन से पुनः अर्जित हो जाती है।

दीर्घश्वास का लाभ

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बलते-बोलते मेरा गला बैठने लगता और दूसरे दिन हजारों की विशाल सभा को सम्बोधित करना निश्चित होता। (उन दिनो हमारे यहां माईक का उपयोग नही होता था।) मन मे विचार

आता—यह कैसे संभव होगा ? रात को मौन करके सो जाता । सुबह उठकर अनुभव करता कि शक्ति अर्जित तो हुई, गला भी साफ हुआ है, पर फिर भी अभी हजारों को सुनाने की स्थिति मे नहीं हूं । इस स्थिति में मौन के साथ-साथ दीर्घ-श्वास का प्रयोग करता । मौन और दीर्घ श्वास दोनो का योग मिलने से मुझे पूरी शक्ति प्राप्त हो जाती और मैं अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार प्रवचन कर पाता ।

अगर हम गौर से देखें तो पाएंगे कि पूरे दिन में ऐसे बहुत कम प्रसंग आते हैं, जब बोलना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है । अधिकांश तो व्यक्ति निष्प्रयोजन या बहुत सामान्य प्रयोजन के लिए ही बोलता है । इस तथ्य से अपरिचित होने के कारण लोग अपनी शक्ति का बहुत अपव्यय करते हैं । इसीलिए हमारे तीर्थङ्करों ने कहा, निष्प्रयोजन कोई काम मत करो ।

मुझे लगता है कि महापुरुषो की वाणी सुनने में तो सब को कर्णप्रिय होती है पर उसका आचरण बहुत कम लोग कर पाते हैं । जब आदमी किसी मुसीबत मे फंसता है, तब उसे महापुरुषो की वाणी की स्मृति उभरती है । इसीलिए कबीरजी ने कितना मार्मिक कहा है—

'दुःख में सुमिरन सब करे, सुख में करे न कोय ।
जो सुख में सुमिरन करे, दुःख काहे को होय ॥'

दु:ख मे, कठिन परिस्थितियों में सभी भगवान की वाणी को याद करते है। पर सुख में उसे कोई याद नहीं करता। यदि सुख मे, अनुकूल परिस्थितियो मे व्यक्ति भगवान की वाणी को याद कर ले तो सभवतः दुःख उत्पन्न ही न हो । पर मानव मन की यह कमजोरी ही माननी चाहिए कि वह जानते हुए भी सुख मे भगवान और भगवान के उपदेश को भूल जता है ।

मैंने प्रसंगवश कुछ बातें विषय से हटकर भी कहीं । पर ये बातें भी कम उपयोगी नहीं हैं । समय-समय पर प्रसंगवश ऐसी बातें प्रवचन में आनी ही चाहिए, जिससे तात्त्विक ज्ञान के साथ-साथ लोगो को व्यावहारिक प्रशिक्षण भी प्राप्त होता रहे ।

गंगाशहर
२७ जुलाई, १९७८

परमाणु : एक अनुचिन्तन

कल के प्रवचन मे मैने परमाणु का विवेचन किया। आज पुनः उसी अधूरे विपय के विवेचन से प्रवचन का प्रारम्भ कर रहा हूं। मैंने कल वताया था कि परमाणु कार्य (स्कन्ध) का अन्तिम कारण है। अन्तिम सूक्ष्म है। नित्य है और एक वर्ण एक, गन्ध, एक रस तथा दो स्पर्श से युत है।

अव प्रश्न है, जव परमाणु को आंखो से देखा नही जा सकता, कान से सुना नही जा सकता हाथ मे पकड़ा नही जा मकता, तव उसके अस्तित्व को किस आधार पर स्वीकार किया जाए ? यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह तो स्पष्ट है कि परमाणु किसी भी स्कन्ध (कार्य) का अन्तिम कारण है। उसके विना स्कन्ध की कल्पना ही नही की जा सकती। यह ठीक है कि हमे परमाणु (कारण) दिखाई नही देता, सुनाई नही देता, पकड मे नही आता। पर कार्य तो दिखाई देता ही है। जव कार्य सामने है तो कारण चाहे प्रत्यक्ष दिखाई दे या न दे, उसके अस्तित्व को कभी नकारा नही जा सकता। उसमे संदेह के लिए कही कोई अवकाश नही रहता। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति के हाथ में मक्खन है। मक्खन दूध से निकलता है। यानी दूध मक्खन का अन्तिम कारण है। दूध के विना मक्खन कभी हो ही नही सकता। पर उस व्यक्ति ने दूध कभी देखा नही। दूध चाहे नही देखा, परन्तु जव उसने मक्खन देख लिया तो वह दूध के अस्तित्व को अस्वीकार नही कर सकता।

आपने धुआं निकलते देखा। पर धुआ कहां से निकल रहा है ? अग्नि कहां है ? यह सव दिखलाई नही देता। ऐसी स्थिति मे क्या आप अग्नि को इन्कार कर सकते है ? कभी नही कर सकते। क्योकि धुआं है तो अग्नि होगी ही। ऐसा कभी हो नही सकता कि धुआ तो मौजूद हो और अग्नि न हो। एक आदमी खूव हृष्ट-पुष्ट है पर कहता कि मैं दिन मे कभी रोटी नही खाता। इसका अर्थ है कि रात को अवश्य खाता है, अन्यथा उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट नही हो सकता।

न्याय-शास्त्र का एक नियम है कि जव कार्य है तो कारण अवश्यमेव होगा। यह दूसरी वात है कि कारण कभी दिखाई देता है और कभी नही भी दिखाई देता। परमाणु को भी हम इसी परिप्रेक्ष्य मे देखें। चाहे

परमाणु हमें दिखलाई नहीं देता पर जब स्कन्ध दिखलाई देता है तो परमाणु का अस्तित्व स्वत. प्रमाणित है।

सदृश परमाणुओं में तरतमता

परमाणु के वर्ण के बारे में मैंने कल बताया था। परमाणु मे एक ही वर्ण पाया जाता है। इस सन्दर्भ मे एक बात और ज्ञातव्य है। एक ही वर्ण के परमाणुओं मे परस्पर बहुत बड़ी तरतमता हो सकती है। उदाहरणार्थ—दो श्यामवर्ण के परमाणु हैं। उन दोनों परमाणुओं की श्यामता मे दो गुण मे लेकर असंख्य, अनन्त, अनन्तानन्त गुण तक अन्तर हो सकता है। यानी एक परमाणु एक गुण श्याम है तो दूसरा परमाणु लाख गुण, करोड़ गुण, असख्य गुण, अनन्तानन्त गुण श्याम हो सकता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक कपड़ा भी काला होता है, एक आदमी भी काला होता है और एक भैंसा भी काला होता है। पर इनके कालेपन मे बहुत तरतमता रह जाती है। श्यामवर्ण कि तरह सभी वर्णों में इसी प्रकार तरतमता होती है।

वर्ण की तरह परमाणु की गंध और रस मे भी दो गुण से लेकर अनन्तानन्त गुण तक तरतमता होती है। हम देखते है, एक इत्र ऐसा होता है, जिसकी महक दूर-दूर तक फैल जाती है। वही दूसरे इत्र की सुगंध कुछ दूर बैठे व्यक्ति की नाक का भी पूरा विषय नही बन पाती। इसी प्रकार रस की तरतमता भी अनुभव की जा सकती है। दूध मीठा है। मिश्री मीठी है। गुड मीठा है। पर इनके मीठेपन मे बहुत तरतमता है। यह तरतमता जैसा कि पहले बताया गया, उत्कृष्ट रूप मे अनन्तानन्त गुण तक हो सकती है।

परमाणु में दो स्पर्श होते है। पर स्पर्श की तरतमता का क्रम पूर्व क्रम की तरह ही है। कुएं का पानी गर्म है। दूध गर्म है। चूल्हा गर्म है। भट्ठी गर्म है। रेल का इंजन गर्म है। पर इनकी गर्मी-गर्मी मे बहुत बड़ी तरतमता है। वर्ण, गन्ध और रस की तरह ही यह तरतमता दो गुण मे लेकर अनन्तानन्त गुण तक हो सकती है। अब आप समझ गए होंगे कि परमाणु परमाणु के बीच कितना अन्तर हो सकता है। इस संदर्भ मे एक बात और बता दूं। आज एक परमाणु मे वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की जो स्थिति है, वह कालान्तर मे परिवर्तित भी हो सकती है। आज जो परमाणु कम श्याम है, वह कल अधिक श्याम भी बन सकता है। आज जो परमाणु कम तिक्त है, वह कल अति तिक्त भी हो सकता है।

परमाणु गति करता है ?

अब हमे इस प्रश्न पर विचार करना है कि परमाणु गति करते हैं या नही ? परमाणु गति करते है। पर इसके साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि उनकी गति स्वप्रेरित ही होती है। दूसरों के हिलाए वे नही हिलते। आपको

जिज्ञासा हो सकती है, परमाणुओ की गति कैसी होती है ? परमाणुओ की गति इतनी तेज होती है कि आप शायद कल्पना भी नही कर सकते । संसार का तीव्र-से-तीव्र गतिवाला यन्त्र भी उनकी की तुलना मे बहुत पीछे ठहरता है । शास्त्रो मे उनकी गति की चर्चा करते हुए बताया गया है कि कोई भी परमाणु एक समय (काल का सूक्ष्मतम हिस्सा) मे लोकान्त से लोकान्त तक जा सकता है । पर इस विषय मे कोई प्रतिबद्धता नही है । वह गति कर भी सकता है और बहुत लम्बे काल तक गतिविहीन भी रह सकता है ।

परमाणु जितना सूक्ष्म है, उतना ही अधिक शक्तिशाली है । सब स्कन्धो की शक्ति उसमे अन्तर्निहित है । इसलिए वैज्ञानिक कहते है कि जो जितना सूक्ष्म होता है, वह उतना ही अधिक शक्तिसम्पन्न होता है । होमियोपैथिक चिकित्सा पद्धति का यह सिद्धान्त है कि दवा जितनी सूक्ष्म होकर शरीर मे प्रवेश करती है, वह उतनी ही अधिक असरकारी होती है । आयुर्वेद विज्ञान मे भी सूक्ष्म दवा की एक परम्परा रही है । वह दवा बड़ी तीव्र गति से रोग का निरोध करने वाली और शक्ति देनेवाली होती है ।

परमाणु हमे दिखाई नही देता, न ही उसका हमारे लिए कोई उपयोग है । पर वह हर छोटे-बड़े स्कन्ध का आधार है । इस दृष्टि से उसका महत्त्व कभी भी कम नही आकना चाहिए ।

स्कन्ध

परमाणु की विस्तृत विवेचना के पश्चात् अब आप स्कन्ध को समझे ।

तदेकीभावः स्कन्धः ।

तेषां द्व्याद्यनन्तपरिमितानां परमाणूनामेकत्वेनावस्थानं स्कन्धः, यथा— द्वौ परमाणू मिलितौ द्विप्रदेशी स्कन्धः, एवं त्रिप्रदेशी, दशप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी च ।

दो से लेकर अनन्त तक के एकीभूत परमाणु स्कन्ध कहलाते हैं । यानी दो, चार, दस, सौ, हजार, करोड़,·· ···· ·· सख्येय, असंख्येय और अनन्त परमाणुओ तक का एक स्कन्ध हो सकता है । दो परमाणुओ से मिलकर बनने वाला स्कन्ध द्विप्रदेशी स्कन्ध, तीन परमाणुओ से मिलकर बनने वाला स्कन्ध त्रिप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है । इसी प्रकार दसप्रदेशी, हजारप्रदेशी, लाखप्रदेशी, करोडप्रदेशी, संख्येयप्रदेशी, असंख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होते है ।

जैसा कि मैं पहले स्पष्ट कर चुका हू, हमे केवल अनन्तप्रदेशी स्कन्ध ही दिखलाई देता है । उससे छोटे स्कन्ध हमारी दृष्टि के विषय नही बन पाते । अब प्रश्न है, स्कन्ध केवल परमाणुओ के एकीभाव से ही बनते है या किसी अन्य प्रकार से भी ?

तद्भेदसंघाताभ्यामपि ।

स्कन्धस्य भेदतः संघाततोऽपि स्कन्धो भवति, यथा—भिद्यमाना शिला, संहन्यमानाः तन्तवश्च ।

परमाणुओं के एकीभाव/मिलन के अतिरिक्त स्कन्धों के भेद से भी स्कन्ध बनते है । एक मोटा लक्कड है । दर्शन की भाषा में वह एक स्कन्ध है । उसे तोड़ कर दो, चार, पाच…… टुकड़े कर दिए गए । अब उनमें से प्रत्येक टुकड़ा एक स्कन्ध बन गया । एक बीस मीटर कपड़े का थान है । वह एक स्कन्ध है । अब एक-एक मीटर के बीस टुकड़े कर दिए गए तो प्रत्येक टुकड़ा एक स्कन्ध बन गया । स्कन्ध को तोड़ने से तब तक स्कन्ध बनते रहेंगे, जब तक वह परमाणु नही बन जाए । यानी जब तक दो प्रदेश अवशिष्ट हैं, तब तक वह स्कन्ध ही कहलाएगा ।

प्रसंग रामायण का

रामायण मे प्रसग आता है कि राम के आदेशानुसार लक्ष्मण ने रावण पर चक्र चलाया । चक्र रावण के पास आया । रावण ने कहा—"चक्र ! तू मेरे पास आया तो है पर मेरी मुट्ठी की ताकत शायद नही जानता ।" पर चक्र नही रुका । वह आगे-से-आगे उसकी ओर बढ़ता ही रहा । तब रावण ने अपनी मुट्ठी का तीव्र प्रहार किया । चक्र के दो टुकड़े हो गए । दो टुकड़े क्या हुए, दो चक्र हो गए । अब तो और भी अधिक समस्या हो गई । दो-दो चक्रो मे मुकाबला करना पडा । रावण ने दोनों चक्रो पर दोनो हाथो की मुट्ठियो से प्रहार किया । परिणामतः वे चार हो गए । अब उसने ज्यों-ज्यों उन चक्रो पर प्रहार किया, त्यों-त्यो चक्र बढते गए ।

घटना लम्बी है । पर चूकि यह यहां अप्रासंगिक हो जाएगी, इसलिए मै इसे यही समाप्त करता हू । इसके माध्यम से मैं तो आपको यह बताना चाहता हू कि स्कन्ध के भेद से भी स्कन्ध बनते हैं ।

स्कन्ध बनने का एक अन्य प्रकार है—स्कन्धो का परस्पर मिलन । दो, चार, सौ, हजार…………स्कन्ध परस्पर एकीभूत होने पर भी स्कन्ध बनता है । उदाहरणार्थ—यह पट्ट आपके सामने है । यह एक स्कन्ध हैं । यह लकडी के अनेक छोटे-छोटे टुकडो से मिलकर बना है । ये जितने लकड़ी के टुकड़े है, वे सब अलग अलग स्कन्ध है ।

कैसे बनता है परमाणु ?

यहां यह प्रश्न भी पैदा हो सकता है कि स्कन्ध की तरह क्या परमाणु भी बनता है ? एक दृष्टि से परमाणु नही बनता । पर चूंकि स्कन्ध के टूटते-टूटते जो अन्तिम अविभाज्य खंड बच जाता है, वह परमाणु कहलाता है, इसलिए जनभाषा मे हम कह सकते है कि परमाणु बनता है । उदाहरणार्थ—लड्डू टूटा और उसकी बूदी अलग-अलग बिखर गईं । जिस प्रकार

एक-एक बूंदी मिलकर एक लड्डू बना था, उसी प्रकार लड्डू के टूटने से बूंदी बन गई। परमाणु बनने का यह एक मात्र प्रकार है। इसके सिवाय और किसी भी प्रकार से परमाणु नही बनता।

अब हमे इस बात पर विचार करना है कि स्कन्ध केवल परमाणुओं के एकीभाव को ही कहते है या अन्य किसी प्रकार को ?

अविभागिनि अस्तिकायेऽपि स्कन्धशब्दो व्यवह्रियते, यथा—धर्माधर्माकाशजीवास्तिकाया. स्कन्धा.।

जैन दर्शन मे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय को भी स्कन्ध कहा गया है। यहां हमे यह समझना है कि परमाणुओं के एकीभाव के अतिरिक्त अविभाग अस्तिकायो के लिए भी स्कन्ध शब्द का व्यवहार हुआ है।

स्कन्ध दो प्रकार के है—

१. स्वाभाविक।

२. कृत्रिम

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय स्वाभाविक स्कन्ध है। क्योंकि वे सदा-सदा से बने हुए है। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध कृत्रिम है। वे बनते रहते है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय—इन तीनो का एक-एक स्कन्ध है। जीवास्तिकाय मे प्रत्येक जीव का एक स्कन्ध है। पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध अनन्त है।

पुद्गल के प्रकार

आपने यह समझ लिया कि पुद्गल अनन्त है। अब आपको यह जानना है कि पुद्गल के कितने विभाग है ? जैन दर्शन मे पुद्गल के पांच विभाग किए गए हैं—

१. मनो वर्गणा।

२. वचन वर्गणा।

३. काय वर्गणा।

४, श्वासोच्छ्वास वर्गणा।

५. कार्मण वर्गणा।

मन रूप मे प्रयुक्त होनेवाले सजातीय पुद्गल-समवाय को मनो वर्गणा कहा जाता है। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि हम मन से जो कुछ भी चिन्तन-मनन करते है, उसमे पुद्गलो का अनिवार्य सहयोग अपेक्षित है। हम मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण करके ही चिन्तन-मनन कर सकते है, अन्यथा नही। मानसिक चिन्तन की तरह हमारे बोलने मे जो पुद्गल-समूह काम आता है, उसे वचन वर्गणा कहा जाता है। वचन वर्गणा के पुद्गलो को

ग्रहण किए विना हम एक शब्द भी नहीं बोल सकते। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस शरीर के रूप में काम आनेवाले सजातीय पुद्गल-समूह का नाम काय वर्गणा है। श्वासोच्छ्वास और कर्म वन्धन के रूप में काम आने वाले पुद्गल-समूह क्रमशः श्वासोच्छ्वास वर्गणा और कार्मण वर्गणा कहलाते है।

दीर्घ श्वास का मूल्य

श्वासोच्छ्वास वर्गणा के पुद्गलो की वात मैंने अभी वताई। इस सन्दर्भ में एक वात और जानने योग्य है। यद्यपि वह विषय से सीधी सम्वन्धित तो नही है पर आप लोगों के लिए वहुत उपयोगी है, इसलिए प्रसंगवश उसे वता ही देना चाहता हू।

हम सव श्वास लेते है और छोडते है। हम ही क्यों, ससार का कोई भी प्राणी इसका अपवाद नही हो सकता। पर मुझे लगता है कि श्वास लेना वहुत कम लोग जानते है। वह हमारे जीवन के लिए जितना उपयोगी है, उतनी ही उसके प्रति उपेक्षा होती है। यदि व्यक्ति श्वासोच्छ्वास के प्रति जागरूक हो जाए तो उसका जीवन ही रूपान्तरित हो जाए।

हमें सदा दीर्घ श्वास लेना चाहिए। जिसने दीर्घ श्वास लेना सीख लिया, मानना चाहिए कि उसने दीर्घ जीवन का नुस्खा प्राप्त कर लिया। आप ध्यान दें, प्राणायाम के साधक प्रायः दीर्घजीवी हुए है। प्राणायाम शब्द प्राण और आयाम इन दो शब्दो के योग से वना है। प्राणायाम का अर्थ है—श्वास का दीर्घीकरण, श्वास-प्रश्वास की गति का नियमन। यह कोई वहुत कठिन वात नही है। अभ्यास के द्वारा यह स्थिति निर्मित की जा सकती है। आप स्वय इसका प्रयोग एवं अभ्यास कर देखें। आपको इसके लाभ का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगेगा।

आप पूछेंगे, श्वास को किस सीमा तक लम्वाना चाहिए? इसका कोई निश्चित उत्तर नही है। पर एक वात अवश्य ध्यान मे रखने की है। श्वास लम्वाने मे जवरदस्ती कभी नही करनी चाहिए। यानी सहजरूप से जितना दीर्घ हो सके उसे उतना दीर्घ करना चाहिए। वलात् श्वास को दीर्घ करना खतरे से खाली नही है। आप घड़ी सामने रखकर अपने श्वास की गति की ओर ध्यान दे। सभवतः आपको एक मिनिट मे १८-२० श्वास आएं। अव आप सकल्पपूर्वक दीर्घ श्वास का अभ्यास शुरू करे। कुछ समय के अभ्यास से आप अनुभव करेगे कि आप का श्वास दीर्घ होने लगा है। श्वास की गति की सख्या एक मिनिट मे १८-२० से घटकर १४-१६ रह गई है। अभ्यास की परिपक्वता के साथ यह संख्या क्रमशः घटते-घटते १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५ तक पहुच सकती है। लम्वे अभ्यास के वाद एक मिनिट मे एक श्वास की स्थिति भी निर्मित हो सकती है।

हमारे जीवन में दीर्घ श्वास का वहुत वडा महत्त्व है। मैं तो यहा तक कहता हूं कि जिसने अपने श्वास पर नियंत्रण करना सीख लिया, उसने अपने शरीर और मन पर नियंत्रण करना सीख लिया। आप ध्यान दें, चाहे कोई शारीरिक वीमारी हो या काम, क्रोध, अंहकार, ईर्ष्या, भय जैसा कोई मानसिक आवेग हो, उस स्थिति मे व्यक्ति का श्वास अस्वाभाविक/चचल बन जाता है। श्वासों की संख्या आवेग के अनुपातानुसार वहुत वढ जाती है।

क्रोध-विजय का उपाय

क्रोध की वीमारी से कौन पीडित नही है? क्रोध पर विजय प्राप्त करने के लिए श्वास-संयम का प्रयोग बहुत उपयोगी है। जिस समय आपको क्रोध आए उस समय आप अपने श्वास पर ध्यान दें। आप पाएगे कि आपका श्वास स्वाभाविक नही रहा है। उसकी गति वढ गई है। यदि उस समय आप अपने श्वास को दीर्घ कर स्वाभाविक स्थिति मे ला सके तो निश्चय ही आप क्रोध-विजय के प्रयास मे सफल हो सकेंगे।

एक व्यक्ति डॉक्टर के पास गया और वोला—"डॉक्टर साहव! मुझे क्रोध वहुत आता है। आप कोई ऐसी दवा दें, जिससे क्रोध न आए।" डॉक्टर लोग शारीरिक वीमारी को मिटाने की दवा तो दे सकते है पर क्रोध जैसी मानसिक वीमारी की दवा प्राय: उनके पास नही होती। पर वह डॉक्टर वड़ा अनुभवी था। उसने उस मरीज को एक भरी हुई वोतल दी और कहा—"जिस समय तुम्हे क्रोध आए, तत्काल वोतल खोलकर दवा मुह मे ले लेना। पर ध्यान रखना—दवा को दस मिनिट तक के लिए केवल मुह मे ही रखना है, निगलना नही है।"

वह मरीज वोतल लेकर घर आ गया। जव भी उसे क्रोध आता, वह वोतल खोलकर दवा मुंह मे ले लेता। दवा से पूरा मुंह भर जाता और देखते-देखते उसका क्रोध विदा हो जाता। अव उस व्यक्ति को वड़ी राहत मिली। उसने सोचा—डॉक्टर ने तो गजव की दवा दी है, जो कि महीनों, दिनों, घंटो व मिनटों मे नही, अपितु सेकडों मे ही अपना असर दिखाती है!

वन्धुओ! उस दवा के प्रति आप भी जिज्ञासु होगे। आपको सुनकर शायद आश्चर्य होगा कि उस वोतल मे दवा के नाम पर केवल पानी था। पर होता यह था कि ज्योही उस व्यक्ति का मुंह पानी से भरता कि श्वास वन्द हो जाता। श्वास वन्द हुआ कि क्रोध विदा हो जाता।

मुझे वहुत-सारे लोग पूछते है कि क्रोध को शान्त कैसे किया जाए? मैं कोई डॉक्टर नही हूं, फिर भी मैं उन्हे उपाय सुझाता हू। मैं कहता हूं, जिस समय गुस्सा आए उस समय कुछ क्षणो के लिए श्वास-निरोध की आदत डालो। पर कठिनाई यह है कि जव क्रोध का उन्माद आदमी पर छाता है,

उसे श्वास-निरोध की बात याद ही नही रहती। फिर भी यह निश्चित है कि जो व्यक्ति संकल्पपूर्वक श्वास-निरोध का अभ्यास व प्रयोग करता है, वह अवश्यमेव लाभान्वित होता है। श्वास को सर्वथा रोकना यदि एकाएक कठिन हो तो श्वास-दर्शन करते हुए एक-एक श्वास को गिनना भी बड़ा लाभकारी सिद्ध होता है।

क्रोध ही क्यो, अन्यान्य सभी प्रकार के आन्तरिक आवेगों को शान्त करने के लिए श्वास-दर्शन व श्वास-संयम का प्रयोग रामबाण औषध है। जब कभी भी व्यक्ति को वासना सताए, तब तत्काल वह यदि उपर्युक्त प्रयोग करे तो निश्चय ही वह वासना-विजय मे सफल होगा। यह प्रयोग-सिद्ध बात है कि धधकते अंगारो से भरे बर्तन को जब ढक्कन से बंद कर दिया जाता है तो अंगारे बुझ जाते है। कारण उनको हवा मिलनी बंद हो जाती है। जब बाहर की अग्नि बाहर की हवा के अभाव में शान्त हो जाती है, तो अन्दर की यह आग (काम-वासना) अन्दर की हवा (श्वास) के अभाव मे शान्त कैसे नही होगी?

गंगाशहर
२८ जुलाई, १९७८

परमाणु-संश्लेष की प्रक्रिया

परमाणु और स्कन्ध की चर्चा कल मैंने की। यह तो आपने जाना कि परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनता है। पर ये परमाणु परस्पर कैसे मिलते हैं, यह बात अभी तक बहुत-से लोग शायद नहीं जानते। क्या कोई भी परमाणु अन्य किसी परमाणु से सहजरूप मे मिल जाता है या उसके मिलने की कुछ विशेष स्थितिया होती हैं, इस विषय पर जैन दर्शन मे बड़ा सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है।

स्निग्ध और रूक्ष

स्निग्धरूक्षत्वाद् अजघन्यगुणानाम्।

अजघन्यगुणानाम्—द्विगुणादिस्निग्धरूक्षाणां परमाणूनां तद्विषमैः समैर्वा द्विगुणादिस्निग्धरूक्षैः परमाणुभिः समं स्निग्धरूक्षत्वाद्धेतोरेकीभावो भवति न तु एकगुणानामेकगुणैः सममित्यर्थः।

अयं हि विसदृशापेक्षया एकीभावः।

सबसे पहले आप इस बात को समझें कि परमाणुओ के परस्पर मिलने मे मूल हेतु स्पर्श है। आप कहेंगे, स्पर्श तो रूक्ष और स्निग्ध दो प्रकार के होते हैं। क्या दोनों से एकीभाव होता है या केवल एक से ? और यदि एक से ही होता है तो वह रूक्ष से होता है या स्निग्ध से ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि मूलतः परमाणुओ का एकीभाव स्निग्धता के कारण होता है। आप देखते हैं कि दीवाल पर यदि चिकनाहट है तो रजकण आ-आकर उस पर चिपक जाते है। अन्यथा रजकण आ तो सकते हैं, पर चिपकते नही यही बात परमाणुओं के एकीभाव के लिए लागू होती है। पर इसके साथ ही यह भी ध्यान रहना चाहिए कि केवल स्निग्धता से एकीभाव नही हो सकता। स्निग्धता के साथ-साथ रूक्षता भी चाहिए। आप कोई मिठाई बना रहे हैं। यदि उसमे बहुत ज्यादा घी डाल दिया तो क्या वह बंध सकती है ? नही बंध सकती। बधने के लिए स्निग्धता जरूरी है, पर एक सीमा तक ही जरूरी है। यदि स्निग्धता-ही-स्निग्धता हो और रूक्षता बिलकुल न हो तो वह मिठाई बंध नही सकती। तत्त्व यह है स्निग्धता के साथ-साथ एक सीमा तक रूक्षता भी जरूरी है।

परमाणुओ के परस्पर एकीभाव के सम्बन्ध में शास्त्रों मे बताया गया है कि अजघन्य गुणवाले अर्थात् दो या दो से अधिक गुणवाले स्निग्ध एवं रूक्ष परमाणु क्रमश. अजघन्य गुणवाले रूक्ष एवं स्निग्ध परमाणुओं से मिलते है। यदि परणाणु जघन्य गुणवाले (एक गुणवाले) हैं तो उनका कभी भी परस्पर एकीभाव नही होता। अर्थात् परमाणुओ के मिलने मे एक परमाणु कम-से-कम द्विगुण रूक्ष एवं दूसरा द्विगुण स्निग्ध अवश्य चाहिए।

सम और विषम परमाणु

यहा यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि क्या सम गुणवाले परमाणु ही परस्पर मिलते हैं या विपम गुणवाले परमाणु भी ? परमाणुओ के मिलने में गुणों की संख्या का सम होना कोई अनिवार्य शर्त नही है। सम गुणवाले परमाणु परस्पर मिल सकते हैं तो विषम गुणवाले परमाणु भी परस्पर एकीभूत हो सकते हैं। उदाहरणार्थ—एक परमाणु द्विगुण स्निग्ध है और दूसरा त्रिगुण रूक्ष है तो उनका परस्पर एकीभाव हो जाएगा। इसी प्रकार एक परमाणु द्विगुण रूक्ष है और दूसरा परमाणु त्रिगुण स्निग्ध है तो उनका परस्पर एकीभाव हो जाएगा। साराश यही है कि परमाणु चाहे विपम गुणवाले हों या सम गुणवाले, उनका परस्पर संबंध हो जाता है। केवल एक ही शर्त है कि वे सब अजघन्य गुणवाले होने चाहिए। आप पूछेंगे, क्या जघन्य गुणवाले भी परमाणु होते है ? हां, बहुत होते हैं और उनका कभी भी परस्पर एकीभाव नही हो पाता।

परमाणुओं के परस्पर मिलने के संबंध में एक प्रश्न और पूछा जा सकता है—क्या स्निग्ध परमाणुओं के साथ स्निग्ध परमाणुओ का तथा रूक्ष परमाणुओं के साथ रूक्ष परमाणुओ का एकीभाव हो सकता है ?

द्व्यधिकादिगुणत्वे सदृशानाम्।

अजघन्यगुणानां सदृशानां—स्निग्धैः सह स्निग्धानां रूक्षैः सह रूक्षाणां च परमाणूनाम्, एकत्र द्विगुणस्निग्धत्वम्, अन्यत्र चतुर्गुणस्निग्धत्वमितिरूपे द्व्यधिकादिगुणत्वे सति एकीभावो भवति, न तु समानगुणानामेकाधिकगुणानाञ्च। उक्तञ्च—

> **निद्धस्स निद्धेण दुआहियेण, लुक्खस्स लुक्खेण दुआहियेण।**
> **निद्धस्स लुक्खेण उवेइ बंधो, जहन्नवज्जो विसमो समो वा॥**
> (पन्नवणा पद १३)

हां, स्निग्ध परमाणुओं के साथ स्निग्ध परमाणुओं का तथा रूक्ष परमाणुओं के साथ रूक्ष परमाणुओं का एकीभाव हो सकता है। पर होता उसी स्थिति में है, जब परस्पर मिलनेवाले परमाणुओं में द्विगुण या उससे अधिक

गुणों का अन्तर हो। उदाहरणार्थ—दो गुण स्निग्ध परमाणु का चार गुण स्निग्ध परमाणु के साथ सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार रूक्ष परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ सम्बन्ध होने के लिए कम-से-कम दो गुणों का अतर अवश्यंभावी है।

गंगाशहर
२९जुलाई, १९७८

काल

छह द्रव्यो की व्याख्या के अन्तर्गत धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय का विवेचन आप सुन चुके है। आज मैं 'काल' के बारे मे कुछ बताऊंगा। यद्यपि पुद्गल की तरह काल को हम देख तो नही सकते पर न देखने मात्र से उसके अस्तित्व को नकारा नही जा सकता। यह ठीक है कि वह औपचारिक द्रव्य है, वास्तविक नही, पर वह द्रव्य तो है ही, यह हमे मानना होगा। छह द्रव्यों में उसको बराबर का स्थान प्राप्त है।

कालः समयादि।

निमेषस्यासंख्येयतमो भागः समयः, कमलपत्रभेदाद्युदाहरणलक्ष्यः। आदिशब्दात् आवलिकादयश्च। उक्तञ्च—

समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्तपक्खमासा य।
संवच्छरजुगपलिया, सागरओसप्पिपरियट्टा॥

(अनुयोगद्वार ४१५)

काल की सबसे छोटी इकाई

'समय' आदि को काल कहते है। 'समय' काल का सबसे छोटा भाग है। एक बार आख झपकने यानी एक निमेष मे असंख्य समय होते है। दूसरे शब्दो मे निमेष का असख्यातवां भाग 'समय' है। 'समय' की सूक्ष्मता को समझने के लिए 'कमलपत्रभेद' और 'जीर्ण वस्त्र विदारण'—ये दो उदाहरण दिए गए है।

कमल-पत्र-भेद—सौ कमल के पत्ते एक-दूसरे से सटे हुए हैं। कोई व्यक्ति सूई से उन्हे छेद देता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सारे पत्ते एक साथ छेदे गए है। किन्तु वास्तविकता इससे सर्वथा भिन्न है। पहला पत्ता जिस समय छेदा गया, उस समय दूसरा पत्ता नही। जिस समय दूसरा पता छेदा गया, उस समय तीसरा नही। इस प्रकार सब पत्ते क्रमश. अलग-अलग छेदे गए है।

दूसरा उदाहरण जीर्ण वस्त्र विदारण का है। एक व्यक्ति जीर्ण-

शीर्ण कपड़े को शीघ्रता से फाड़ डालता है। इतनी शीघ्रता से कि प्रत्यक्षदर्शी को ऐसा लगवा है मानो पूरा वस्त्र एक साथ ही फाड़ा गया है। किन्तु यह वास्तविकता नही है। जब ऊपर का पहला तन्तु नही फटता, तव तक नीचे का दूसरा तन्तु नही फट सकता। अतः यह निश्चित है कि कपड़े के फटने मे कालभेद अवश्य रहता है। वस्त्र अनेक धागों से मिलकर वनता है। प्रत्येक धागे में भी अनेक रोए होत हे। उनमे भी ऊपर का रोआं पहले छिदता है, उसके वाद उसके नीचे का रोआं, उसके वाद उसके वाद नीचे का.......। इस प्रकार एक-एक रोआं छिदते-छिदते पूरा धागा और एक-एक धागा छिदते-छिदते पूरा कपड़ा फटता है।

कमल के पहले पत्ते तथा तंतु के पहले रोएं के छेदन मे जितना समय लगता है, उसका अत्यत सूक्ष्म यानी असंख्यातवा भाग 'समय' कहलाता है।

काल के विभिन्न विभाग

'समय' काल का सवसे छोटा भाग और 'पुद्गलपरावर्तन' काल का सवसे वड़ा भाग है। 'समय' और पुद्गलपरावर्तन के वीच आवलिका, मुहूर्त दिवस, आहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, पूर्व, पल्योपम, सागर और कालचक्र—ये विभिन्न काल के विभाग है।

असंख्य समय की एक आवलिका होती है। १६७७७२१६ आवलिकाओ का एक मुहूर्त्त और तीस मुहूर्त्त का एक अहोरात्र (दिन-रात) होता है। पन्द्रह दिन का एक पक्ष और दो पक्षों का एक माह होता है। दो माह की एक ऋतु और तीन ऋतुओ का एक अयन होता है। दो अयनो का एक साल और पांच साल का एक युग होता है। सत्तर क्रोडाक्रोड़, छप्पन लाख क्रोड़ वर्ष का एक पूर्व होता है। असंख्यात वर्ष का एक पल्योपम और दस क्रोड़ा-क्रोड़ पल्योपम का एक सागर होता है। वीस क्रोड़ाक्रोड सागर का एक कालचक्र (अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी) होता है। अनन्त कालचक्र का एक पुद्गलपरावर्तन माना गया है।

बीता समय वापस नहीं आता

वन्धुओ! काल-विभाग का यह संक्षिप्त विवेचन मैंने आपके सामने प्रस्तुत किया। काल सतत प्रवहमान है। गया हुआ काल वापस नही आता। खोया हुआ धन वापस मिल सकता है। खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः मिल सकता है। खोई हुई इज्जत भी कठिनाई से वापस मिल जाती है। और तो क्या, सफेद केश भी पुनः काले हो सकते है, गिरे हुए दांत भी फिर आ सकते है।

मुझे वहुत याद है, कन्हु चौधरी। उसकी उम्र एक सौ आठ वर्ष की थी। महाराज गंगासिहजी ने उसे कंठी वख्शिशकर अपने राज्य के

सर्वाधिक वृद्ध के रूप में सम्मानित किया था। वह पूज्य गुरुदेव कालूगणी के दर्शनार्थ आया। पूज्य कालूगणी ने पूछा—"कन्हु! तेरे दांत तो सारे गिर गए होंगे?" कन्हु ने करबद्ध निवेदन किया—"हां महाराज! एक बार तो सारे ही गिर गए थे, पर अब पुनः नए आ गए हैं।" और उसने अपना मुंह खोलकर दिखलाया। हमने देखा कि सचमुच उसके नए दांत आ रहे थे। इसी प्रकार उसके केश, जो कि बिल्कुल सफेद हो गए थे, अब पुनः काले होने शुरू हो गए थे।

हां, तो मैं आपसे बता रहा था कि धन, सम्पत्ति, स्वास्थ्य आदि सब कुछ पुनः प्राप्त हो सकते है पर बीता हुआ काल किसी भी कीमत पर लौट कर नहीं आता। आप मे से किसी भाई-बहिन के पास यदि कोई ऐसी विद्या या शक्ति हो, जिससे कि बीते हुए काल को लौटाया जा सके तो मुझे भी बताए। मैं उसे ग्राहक-बुद्धि से स्वीकार करूंगा। पर मैं निश्चित जानता हूं कि आप ही क्या, ससार का कोई भी व्यक्ति ऐसी विद्या या शक्ति से सम्पन्न नही है।

काल बीतता जा रहा है, इसकी हमे कोई चिन्ता नहीं। हमे तो इस बात का चिन्तन करना है कि यह काल किस प्रकार बीतता है। भगवान महावीर ने कहा—

'जा जा वच्चइ रयणी,
न सा पडिनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स,
अफला जन्ति राइओ॥
जा जा वच्चइ रयणी,
न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स,
सफला जन्ति राइओ॥'

—जो-जो रातें बीत रही है, वे लौटकर नही आती। अधर्म करने वालों की रात्रियां निष्फल चली जाती है और धर्म करने वालो की रात्रियां सफल होती है।

आप लोग इस बात पर चिन्तन करें कि आपका जीवन किस प्रकार व्यतीत हो रहा। यदि आपका समय सत्य, शील, संतोष, समता....की अराधना मे व्यतीत हो रहा है तो आपके जीवन की सार्थकता है। आपको बीते हुए काल के लिए अफसोस नही करना चाहिए, क्योंकि उसका सार आपने निकाल लिया। पर इसके विपरीत यदि आपका अमूल्य समय हिंसा, शोषण, हास्य, चुगली, आलोचना-प्रत्यालोचना, निठल्लेपन....में बीतता है तो अवश्य चिंता की बात है। सचमुच जीवन के कीमती क्षणों को इन बातों में खोना

वहुत वड़ी निधि से हाथ धोना है । जो लोग ऐसी जिन्दगी जीते हैं, उन्हे देखकर मुझे कई वार मन में आता है, क्या ही अच्छा हो कि इनका समय मुझे मिल जाए । क्योंकि मेरे पास इतना काम है कि दिन-रात व्यस्त रहने के वावजूद भी वह आगे-से-आगे तैयार रहता है । और मैं तो मानता हूं कि व्यक्ति के सामने काम आगे-से-आगे वना ही रहना चाहिए । जिस व्यक्ति के सामने करणीय कार्य नही, वह व्यक्ति किस काम का ?

खणं जाणाहि

भाईयो ! आप निश्चित मानें, हमारी जिन्दगी मे एक मिनिट का भी कोई भरोसा नही है । एक श्वास आया पर दूसरा श्वास आएगा या नही, इसका किसीको पता नही है । एक पैर यहां रखा पर दूसरा पैर रखा जाएगा या नहीं, इसका कोई निश्चय नही है । हमारे युवक भाई जरा सोचें । मैं मानता हूं, उनकी अवस्था जवान है । उनका जोश भी जवान है । उनकी कर्मजा शक्ति भी जवान है । साथ ही उनका अहं भी जवान है । वे शायद सोचते है कि मरने वाले दूसरे ही हैं । हम तो सदा अमर रहेंगे । पर उनको मैं सजग करना चाहता हूं कि काल समवर्ती है । वह वच्चो, वूढ़ों और जवानों पर समान रूप से वर्तता है । इसीलिए भगवान महावीर ने कहा—**'समयं गोयम ! मा पमायए'**—हे गौतम ! तूं एक क्षण के लिए भी प्रमाद मत कर । सचमुच ही अप्रमाद का यह सूत्र वहुत गहरा है । जो व्यक्ति काल के प्रति जागरूक हो जाता है, वह फिर करणीय कार्य करने में एक क्षण का भी प्रमाद नही कर सकता । यानी आज करने का कार्य कल के लिए वही व्यक्ति छोड़ सकता है, जो काल के प्रति जागरूक नही है । आगम की भाषा मे—

'जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायण ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सया ।।'

तीन ही प्रकार के व्यक्ति कल करने की वात कह सकते हैं—जिनकी मौत के साथ मैत्री हो या जो मौत के आगमन पर पलायन करने में समर्थ हों या जो यह जानते हो कि हम सदा अमर रहेंगे । इन तीनों प्रकार के व्यक्तियों के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति करणीय कार्य को करने के लिए कल की वात नही कर सकता । तात्पर्य यह है कि काल का आगमन हर व्यक्ति के लिए अवश्यंभावी है । इसलिए जिस क्षण व्यक्ति को ज्ञान हो जाए, उसे उसी क्षण से धर्म की आराधना के लिए जागरूक वन जाना चाहिए । फिर एक क्षण का भी प्रमाद करना, उसके लिए समझदारी की वात नही है । आप देखें, संसार मे जितनी भी ऊची आत्माए हुई है, उन्होने काल की स्थिति को समझते हुए धन-वैभव, परिवार……को तिलाजलि देकर सयम-आराधना का पथ अंगीकार किया है ।

प्रसंग थावर्चापुत्र का

ज्ञाताधर्मकथा मे थावर्चापुत्र का घटना प्रसग आता है। वह सेठानी थावर्चा का पुत्र था। उसके नाम से उसे थावर्चापुत्र की अभिधा से सम्बोधित किया जाता था। थावर्चापुत्र की वृत्ति बचपन से ही धार्मिक थी। एक बार द्वारिका मे तीर्थंकर अरिष्टनेमि का पदार्पण हुआ। हजारों-हजारों लोग उनके उपदेशामृत को सुनने के लिए उपस्थित हुए। भगवान अरिष्टनेमि ने अपने प्रवचन मे मानव जीवन की दुर्लभता एवं संसार की निस्सारता का बोध कराते हुए जन-जन को आत्म-संयम की ओर बढ़ने की प्रेरणा दी। उपदेश से प्रभावित होकर लोगों ने यथाशक्ति महाव्रत और अणुव्रत स्वीकार किए। थावर्चापुत्र भी भगवान के समवसरण मे उपस्थित था। भगवान के उपदेशमृत से उसका हृदय आर्द्र हो गया। उसके मन में संसार से विरक्ति हो गई और वैराग्य के अंकुर फूट पडे। अवसर देखकर वह भगवान अरिष्टनेमि के श्रीचरणो मे उपस्थित हुआ। बद्धांजलि मुद्रा में उसने भगवान से निवेदन किया—"भन्ते ! मैंने संसार की नश्वरता को समझा है। मनुष्य जीवन की कीमत को आंका है। मैं अब आपके चरणो मे सयम-जीवन स्वीकार कर अपना आत्म-कल्याण करना चाहता हूं।"

"अहासुहं—जैसा तुम्हें सुखकर हो, जैसी तुम्हारी इच्छा हो, वैसा करो।"—भगवान ने कहा।

इन्ही पैरों वहां से चलकर वह माता थावर्चा के पास आया और प्रणाम कर बोला—"मा ! आज मैं भगवान अरिष्टनेमि के समवसरण में गया था।"

"पुत्र ! यह तो तूने अच्छा किया।"—मां ने उसके मस्तक को सहलाते हुए कहा।

"मां ! मैं केवल वहां गया ही नही, अपितु मैंने भगवान का प्रवचन भी सुना।"

"बेटा ! यह तो तूने बहुत ही अच्छा किया।"

"मां ! मुझे भगवान का प्रवचन बहुत ही मार्मिक और प्रिय लगा।"—भाव विभोर होता हुआ थावर्चापुत्र बोला।

"बेटा ! तू बहुत ही सौभाग्यशाली है। अन्यथा प्रथम तो भगवान के दर्शन नही होते, धर्म की वाणी सुनने को नही मिलती। और यदि मिल जाती है तो उस पर प्रतीति नही होती। वह प्रिय नही लग सकती। अच्छा, तू प्रतिदिन भगवान का प्रवचन सुना कर।"

"ठीक है मा ! अब मैं प्रतिदिन प्रवचन सुना करूंगा। तू मुझे आज्ञा

दे, मैं भगवान का शिष्य बन जाऊं।"

"ना-ना, वत्स! यह शिष्य बनने की बात किसने बताई? मैं तुझे यह आज्ञा नहीं दूंगी।"

"मां! अभी तूने ही तो कहा था कि उनका प्रतिदिन प्रवचन सुना कर।"

"हां, प्रवचन सुनने के लिए कहा था, उनका शिष्य बनने के लिए नही कहा था।"

बन्धुओ! मैं नही समझता लोगो के प्रवचन सुनने का उद्देश्य क्या है? यदि प्रवचन मात्र सुनने के लिए ही है, उसका जीवन में कोई फलित नही है तो मानना चाहिए कि प्रवचन-श्रवण का बहुत लाभ नहीं है। वास्तव मे प्रवचन सुनने का उद्देश्य तभी फलित होता है, जब प्रवचन की बाते जीवन-व्यवहार मे उतारी जाएं। आज युवा-पीढी मे धर्म के प्रति अरुचि और अनास्था का भाव उभर रहा है। इसका एक बहुत बड़ा कारण तथाकथित धार्मिको का जीवन है। उनका जीवन-व्यवहार उसके धर्म के प्रति आकृष्ट होने मे बाधक बन रहा है। और यदि यह भी कहा जाए तो भी अतिशयोक्ति नही होगी कि उनका जीवन-व्यवहार नई पीढी मे धर्म के प्रति अनास्था और अरुचि पैदा करने मे सहयोगी है। आजकल के तथा-कथित धार्मिक धार्मिक-क्रियाकाण्ड, प्रवचन-श्रवण आदि तो अवश्य करते हैं पर धर्म के सिद्धांतों को अपने जीवन मे उतारना आवश्यक नही समझते। वर्षों तक धर्म करने के पश्चात् भी वही गुस्सा, वही छल-प्रपंच, वही दुकान मे बैठकर ग्राहको के साथ धोखा, वही शोषण और अन्याय! ऐसी स्थिति मे आज का बौद्धिक एवं चिन्तनशील युवक यदि धर्म के प्रति आकृष्ट न हो तो कोई आश्चर्य नही। हा, आकृष्ट होता है तो आश्चर्य अवश्य है।

सेठ अद्वैतवादी था। प्रतिदिन अद्वैत पर प्रवचन सुनता। एक दिन उसका बेटा भी प्रवचन सुनने के लिए चला गया। पंडितजी ने अद्वैतवाद का बहुत तलस्पर्शी विवेचन किया—**'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति', 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'** बेटा बहुत प्रभावित हुआ। वहां से चलकर वह दुकान पर आया। दुकान अनाज की थी। दुकान पर बैठे उसे थोड़ी ही देर हुई होगी कि एक गाय उधर आई और दुकान पर रखे अनाज को खाने लगी। बेटे ने गाय को देखा पर उसे हटाने का कोई प्रयास नही किया। उसने सोचा—अभी-अभी मैं प्रवचन मे सुनकर आया हूं कि इस जगत् न कोई अपना है और न कोई पराया। पशु और मनुष्य मे कोई अन्तर नही है। सब एक ब्रह्म के ही रूप हैं। अनाज मैं खाऊं या गाय खाए, एक ही बात है। जैसा मेरा शरीर है, वैसा ही उसका शरीर है।........

सयोग से दो-चार मिनिट बाद ही सेठ दुकान की ओर आया। दूर

से उसने देखा—गाय दुकान पर अनाज चर रही है और बेटा हाथ पर हाथ दिए देख रहा है। उसने अपनी चाल तेज की। जल्दी से दुकान पर पहुंचा। हाथ मे झट लट्ठी संभाली। गाय के दो-चार लट्ठियां जमाकर उसे दूर भगाया और आखें लाल करता हुआ बेटे से बोला—"ओ बेवकूफ! बैठा-बैठा क्या देख रहा था? गाय अनाज खा रही थी और तूने उसे हटाया तक नही।"

"पिताजी! अभी तो हम प्रवचन सुनकर आए थे कि पशु और मनुष्य एक ही है। हमारे मे और उनमें कोई अन्तर नही है। इस स्थिति में अनाज हम खाएं या गाय खाए, इसमें क्या फर्क पड़ता है?"—बेटे ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया।

"ये उपदेश की बातें मुझे बताना रहने दे। ये उपदेश तो मैंने तेरे से बहुत ज्यादा सुने हैं। पर ये उपदेश धर्मस्थानो म सुनने के लिए होते हैं, यहां दुकान पर लाने के लिए नही होते। यदि इन उपदेशों को दुकान पर लाया गया तो हमारा धंधा चौपट हो जाएगा।" -बाप ने झिड़कते हुए कहा।

बन्धुओ! कितना करारा व्यग्य है यह आज के धार्मिक जीवन पर। माता-पिता तथा बुजुर्गों के लम्बे धार्मिक जीवन की उपलब्धियों को देखकर उनके बच्चे धर्म को अफीम या दकियानूसी विचार समझने लगे हैं। वे ऐसे धर्म की जीवन के लिए कोई उपयोगिता नही देखते।

मुझे कुछ समय पहले की एक घटना याद आ रही है। एक श्रावक ने अपने लड़के की शिकायत करते हुए कहा—"महाराज! मेरे बेटे को समझाइए। धर्म के प्रति उसके मन मे जरा-सी भी अभिरुचि नही है। जब भी मैं उसे धर्म की बात कहता हूं तो वह कहता है मुझे नही चाहिए धर्म।"

"ठीक है, कभी मौका लगेगा तो उससे बात करूंगा।"—मैंने उसे आश्वस्त करते हुए कहा।

संयोग से एक दिन वह लड़का मेरे पास आ गया। बातचीत के प्रसग मे उससे मैंने पूछा—"तुम्हारी धर्म के प्रति इतनी अरुचि क्यों? तुम धर्म से नफरत क्यो करते हो?"

उसने चारों तरफ सहमी-सहमी दृष्टि डाली—कही पिताजी तो मौजूद नही हैं। फिर निश्चित होकर बोला—"आचार्यश्री! वास्तव मे धर्म के प्रति मेरी कोई अरुचि नही। जीवन की पवित्रता मे मैं विश्वास करता हूं। पर सामायिक, पौषध, उपवास, सन्त-दर्शन आदि मे मेरी अभिरुचि नही है और इसके कारण है—मेरे पिताजी।"

"पिताजी कारण कैसे?"—मैंने जरा विस्मय के साथ पूछा।

"मेरे पिताजी धर्म-क्रिया करते-करते बूढ़े हो गये है। पर उनका स्वभाव व व्यवहार इतना विचित्र है कि मुझे बड़ा दु:ख होता है। मुंह से दिन

भर गालिया बोलते रहते है। गुस्सा तो इस सीमा तक है कि मुझे पीट देते है, मेरी माताजी को पीट देते है। मुझे कहे गए अपशव्द और गालियां तो खैर मैं सहन कर सकता हूं, अपनी मार भी सहन कर मकता हूं, प्र मेरी माताजी को कुछ भी कहा जाए या मारपीट की जाए, यह मेरे वर्दाश्त की सीमा से वाहर की वात है। इस प्रकार वे स्वयं भी अशान्त रहते है और पूरे परिवार के वातावरण को भी अशान्त वनाए रखते है। मेरे मन मे वार-वार यह प्रश्न उभरता है, जव इन्हे पचास वर्ष धर्म करते हो गए और धर्म के द्वारा इनके जीवन मे कोई रूपान्तरण घटित नही हुआ, इन्हे मानसिक शान्ति नही मिली, तव फिर उस धर्म से हमारा क्या भला हो सकेगा ?"—युवक ने अपना हृदय खोलकर रख दिया।

"तुम्हारे पिताजी ने धर्म को सही अर्थ मे नही समझा है, इसीलिए उनके जीवन में रूपान्तरण नही हुआ। यदि धर्म को वे सही रूप मे समझते और अपनाते तो निस्संदेह उनका जीवन शान्तिमय होता। पर दूसरो को वदलना किसी के हाथ की वात नही। स्वयं को ही वदला जा सकता है। अव तुम धर्म को सही रूप मे अपनाकर आदर्श उपस्थित करो।"—युवक को समाहित करते हुए मैंने उसे धर्म को जीवनगत वनाने की दिशा मे प्रेरित किया।

वन्धुओ ! यह एक युवक की वात मैंने कही। पर आप इसे एक युवक की वात ही न समझें। मुझे लगता है कि काफी युवको की आज यही मनःस्थिति है। गहराई से अनुभव करने से मै इस निष्कर्ष पर पहुचा हूं कि वस्तुतः युवा पीढी धर्म के प्रति उदासीन नही, अपितु तथाकथित धार्मिकता से नफरत करती है। धर्म का जो व्यावहारिक फलित उसके सामने आता है, वह निश्चय ही उसे आकर्षित करनेवाला नही है। मेरा दृढ विश्वास है कि यदि आज भी धर्म का सही रूप युवको के सामने हो, धर्म का व्यावहारिक फलित—पवित्रता, मानसिक शान्ति आदि धार्मिकों के जीवन मे परिलक्षित हो तथा धर्म के क्षेत्र मे उन्हे सही मार्ग-दर्शन मिले तो वे इस क्षेत्र मे भी वडे उत्साह के साथ आगे आने को तैयार है।

मुझे सवसे वडा आश्चर्य तो इस वात का है कि जो लोग प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनते है, उनका हृदय परिवर्तित क्यो नही होता ! क्यो उनका मानस आर्द्र नही होता ! मुझे लगता है कि ऐसे लोग केवल सुनने के लिए ही प्रवचन सुनते है, ग्राहक-वुद्धि से नही। यदि ग्राहक-वुद्धि से एक भी प्रवचन सुन लिया जाए तो उससे व्यक्ति का जीवन रूपान्तरित हो सकता है। हृदय आर्द्र व वैराग्य भावना से परिपूर्ण हो सकता है।

हां, तो थावर्चापुत्र का हृदय भगवान अरिष्टनेमि के एक दिन के प्रवचन-श्रवण से आर्द्र हो गया। उसने माता से पुनः-पुनः दीक्षा की अनुमति

प्रदान करने के लिए सविनय प्रार्थना की। माता ने साधु जीवन की कठिनाइयों से परिचित करवाते हुए एवं भौतिक सुखों का प्रलोभन देते हुए उसे संयम-जीवन स्वीकार न करने की बात कही। पर आप जानते हैं कि जिसके मन मे वैराग्य की तीव्रतम भावना जागृत हो जाती है, उसे संयम-मार्ग की कठिनाइयां और भौतिक सुखो के प्रलोभन आगे बढ़ने से रोक नही पाते। थावर्चापुत्र भी अपने विचारो मे बिलकुल दृढ रहा और विभिन्न प्रकारो से माता के समक्ष अपना वैचारिक पक्ष प्रस्तुत करता रहा। आखिर माता को जब यह विश्वास हो गया कि यह अब पूर्ण रूप से विरक्त हो गया है, ससार के क्षणिक सुखों मे फंसनेवाला नही है तो उसे दीक्षा की अनुमति दे दी।

वह घर से चल कर सीधी महाराज श्रीकृष्ण के दरबार मे उपस्थित हुई और बोली—"महाराज! मेरा इकलौता लाडला पुत्र दीक्षित हो रहा है। मैंने उसके वैराग्य की जाच करने के लिए अनेक प्रयत्न किए हैं। पर वह मेरी हर परीक्षा मे उत्तीर्ण रहा है। अब मैं उसकी दीक्षा का समारोह करना चाहती हू। अतः आप मुझे समारोह के लिए आवश्यक लवाजिमा—घोड़ी, आभूषण, छत्र आदि दिलवाने की कृपा करें।"

श्रीकृष्ण ने बड़े ध्यानपूर्वक उसकी बात सुनी और उसे निश्चित करते हुए कहा—"तुम्हे इस सम्बन्ध मे जरा भी चिन्ता करने की जरूरत नही, मैं स्वयं उसकी दीक्षा का समारोह मनाऊगा।"

राजा जब स्वयं दीक्षा का समारोह मनाए, फिर प्रसन्नता का कहना ही क्या! माता थावर्चा खुशी-खुशी घर लौट आई।

थोडी देर पश्चात् श्रीकृष्ण स्वयं चलकर थावर्चा के घर पहुंचे। कुमार के रग-लावण्य एवं चेहरे की आकृति को देखकर उनको सहसा लगा कि यह कोई मनुष्य-पुत्र नही, अपितु अवश्य ही देवकुमार है। उन्हे बडा आश्चर्य तो इस बात का हुआ कि बचपन की इस छोटी अवस्था में इसने सयम के कठोर पथ पर बढ़ने का निर्णय किया है!

थावर्चापुत्र के विचारों की दृढ़ता को मापने की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने उससे कहा—"कुमार! तू दीक्षा मत ले। तेरे जीवन की सारी जिम्मेवारी मैं अपने ऊपर लेता हूं। यह हवा तो तेरा स्पर्श करके अवश्य निकलेगी, इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का कष्ट मै तेरे जीवन मे नही आने दूगा।"

"आपने संरक्षण प्रदान करने की बात कहकर मेरे पर बड़ी कृपा की। मैं आपके आदेशानुसार दीक्षा नही लूंगा। पर दो खतरों की तरफ से पहले आप मुझे आश्वस्त कर दें। मुझे अपनी जिन्दगी मे कभी बुढ़ापा न

देखना पड़े और मैं कभी भी काल द्वारा ग्रसित न होऊं।"—थावर्चापुत्र ने अत्यन्त यौक्तिक ढंग से अपनी वात रखी।

श्रीकृष्ण कुमार की ज्ञान भरी वात सुनकर चकित रह गये। वे वोले—"इन दोनों खतरो को मैं टाल सकू, यह सामर्थ्य मेरे मे नहीं। मैं तो क्या, साक्षात् तीर्थंकरदेव भी इनकी अनिवार्यता को नही टाल सकते। इनको टालने का तो एक मात्र मार्ग है— संयम-आराधना।"

"प्रभो! यही कार्य तो मैं करने जा रहा हू।"—थावर्चापुत्र ने अत्यन्त विनम्रतापूर्वक निवेदन किया।

यह घटना लम्वी है। मैं इसे अभी लम्वाना नही चाहता। मैं तो इतना-सा वताना चाहता हू कि काल को सफल वनाने का एक मात्र मार्ग है—सयम की आराधना, धर्म का आचरण। धर्म के सिवाय इस संसार मे हमारा कोई त्राण नही है। मूढ प्राणी धन, परिजन······को शरण या त्राण मानकर उनमे आसक्त होता है। पर मौत, वीमारी, वुढ़ापा आदि के समय इनमे से कोई भी उसका त्राण या सहारा नही वनता।

उपाध्याय विनयविजयजी ने इस स्थिति का वडा ही सुन्दर चित्रण किया है—

१. स्वजनजनो वहुधा हितकामं, प्रीतिरसैरभिरामम्।
मरणदशावशमुपगतवन्तं, रक्षति कोऽपि न सन्तम्॥
२. तुरगरथेभनराऽऽवृतिकलितं, दधतं वलमस्खलितं।
हरति यमो नरपतिमपि दीनं, मैनिक इव लघुमीनम्॥
३. प्रविशति वज्रमये यदि सदने, तृणमथ घटयति वदने।
तदपि न मुञ्चति हतसमवर्ती, निर्दयपौरुपनर्त्ती॥
४. विद्यामंत्र महौषधिसेवां सृजतु वशीकृत-देवाम्।
रसतु रसायनमुपचयकरणं, तदपि न मुञ्चति मरणम्॥
५. शरणमेकमनुसर चतुरङ्गं, परिहर ममतासङ्गम्।
विनय! रचय शिवसौख्यनिधानं, शान्तसुधारसपानम्॥

मै इन पद्यों का सविस्तार अर्थ अभी नही करूंगा। इनका सारांश इतना ही है कि मनुष्य की इस अशरण की स्थिति मे धर्म ही उसका एक मात्र त्राण है, शरण है, सहारा है। इसके सिवाय सभी सहारे एक समय जाकर असहारे सिद्ध होते है।

ये मीठी-मीठी वातें करनेवाले पारिवारिक जन व्यक्ति की पीडा को नही बंटा पाते। वुढापे को नही रोक पाते। उसे मौत से नही वचा पाते। यह मकान, यह जायदाद और अपार धन-संपत्ति सव उस समय यों-के-यो धरे रह जाते हैं।

ऐसा पता होता तो·······

कहते हैं मुहम्मद गजनवी भारतवर्ष से बहुत-सारा धन लूंट कर अपने देश लौटा। वहां जाकर उसने कई ऐसी तिजोरियां बनाई, जो सभी प्रकार के खतरों से सुरक्षित थी। वह धन को उन तिजोरियो मे रख कर बड़ा प्रसन्न था। आखिर जब मौत का समय निकट आया, तब उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने कहा—"यह सारा-का-सारा धन मेरी छाती के ऊपर लाकर रख दो।" उसके मन में विचार आया—हाय! जिस धन को प्राप्त करने के लिए मैने कितनी-कितनी हत्याएं की, कितनी-कितनी लड़ाइयां लड़ी, वह धन मेरे कुछ भी काम का नहीं। मुझे ऐसा पता होता तो मैं क्यों इतना पाप करता!

यह एक सचाई है। इस सचाई से लोग अनभिज्ञ है, ऐसा तो मै नही कह सकता। पर आसक्तिवश या अज्ञानवश अधिकांश लोग इस धन-परिवार के चक्कर में अपने करणीय कार्य को भूल जाते है—यह एक वास्तविकता है। कवि ने इसलिये सबको सचेत किया है—

'जे ते मनि-माणिक्क है जो रे मतिमान कहै,
धरा में धरे हैं सो तो धरा ही धरायबो।
एक भूख राख, मत राख भूख भूषन की,
वह भूख राख, जो न भूषन बनायबो।
देह देह देह फिर पायबो न एह देह,
कहा जानू इह जीव कौन जोन जायबो।
गमन के समय नग गन न गनन देह,
नग न चलेंगे संग नगन चलायबो॥

लीला की लगन मांहि ज्ञान की जगन नांहि,
जग न रहाय नर तोऊ न रहायबो।
चले जर कौन वट्ट, को इहां करे हट्ट,
नदी तट्ट तरु कौन भांति ठहरायबो।
सपना जहान तामें अपना निदान कौन,
जपना 'किसन' जान जाते दुःख जायबो।
मोह में मगन सग मग न धरे हैं पग,
नग न चलेंगे संग नगन चलायबो॥'

वन्धुओ! हम लोग सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओ से सम्पन्न थे। अपने धन, परिजन, एशो-आराम को छोड़ कर हमने कोई भूल तो नही की है। हमने उन्हे निस्सार और अशरण जाना है। यही कारण है कि हम अकिंचन होते हुए भी प्रसन्न है।

आप रोते हैं, मैं हंसता हूं !

दिल्ली की घटना है। भारत व पाकिस्तान का उस समय बंटवारा हुआ ही था। हजारों-हजारो शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आए। बड़ी दयनीय स्थिति थी उनकी। किसी का बेटा पीछे रह गया तो किसी का बाप छूट गया। किसी की मां छूट गई तो किसी का पति से वियोग हो गया। उनका धन छीन लिया गया, मकान छीन लिए गए। बिलकुल बेसहारे और दु खी थे वे लोग। किसी के कहने से वे सैकड़ों की सख्या मे मेरे प्रवास-स्थल पर आए। उन्होने अपनी दर्दभरी कहानी सुनाई और सुनाते-सुनाते उनकी आखो से आसुओ की धारा बह चली। अब मेरे सामने भी कठिन परिस्थिति थी। क्योकि सैकडो व्यक्तियो को दु ख-दर्द से रोने देख अपने आपको सभाल कर रखना किसी भी व्यक्ति के लिए बडा मुश्किल होता है। पर मैंने ऐसी परिस्थितियो मे अपने आपको संभाल कर रखने का अभ्यास किया है।

हा, तो उनको रोते देखकर मैंने सोचा—इन्हे आवश्यक संबल की अपेक्षा है। धन, परिवार, मकान आदि तो मैं इन्हे वापस नही कर सकता पर मानसिक सबल अवश्य दे सकता हूं और वह मुझे देना चाहिए। मैंने कहा—"भाइयो ! आप अन्यथा न माने, आपकी और मेरी स्थिति लगभग एक-जैसी है।"

मेरी इस बात को सुनकर वे रोना तो भूल गए और अगली बात सुनने के लिए श्रवणोत्सुक होकर मेरी तरफ देखने लगे। मैंने कहा—"मकान आपके भी नही है, मेरे भी नही है। परिवार आपका भी छूट गया है और मेरा भी छूट गया है। सम्पत्ति आपके पास भी नही है और मेरे पास भी नही है।..............सरकार आपको पुनः बसाने की तो सोच रही है, पर हमारे बारे में तो ऐसी भी कोई बात नही है।"

"आपके चेहरे पर तो मुस्कान-ही-मुस्कान है। दु.ख और चिन्ता की एक रेखा भी नहीं।"—उनको मेरी बात पर सहसा विश्वास नहीं हुआ।

"हा, इतना अन्तर अवश्य है कि इन समान परिस्थितियो के बावजूद भी मैं सदा हंसता-खिलता रहता हूं और आप आंसू बहाते है। इसका कारण है कि आपसे ये सारी चीजे छीन ली गई हैं और मैंने इन्हे असार समझकर प्रसन्नतापूर्वक छोड़ दिया है। यह रोना धन, सम्पत्ति, परिजन के न होने का नही, अपितु उनके जबरदस्ती छीने जाने का है। यह हसना-खिलना उनके स्वेच्छापूर्वक छोड़ देने के कारण है।"—तत्त्व समझाते हुए मैंने कहा।

दो क्षण रुककर प्रसंग को थोड़ा-सा मोड देते हुए मैंने कहा—"मैं मानता हूं कि आप लोग कठिन परिस्थितियो मे है। पर अब रोने से और हाथ पर हाथ देकर बैठने से कुछ भी होनेवाला नही है। आपके दो हाथ हैं।

दो पैर है। हृष्ट-पुष्ट शरीर है। श्रम करने की क्षमता है। चिन्तन करने के लिए दिमाग है। फिर कमी किस वात की है? आपको ख्याल रहे, आदमी ने संसार में बहुत कुछ वनाया है, आदमी को किसी ने नही वनाया।....."

मैंने सूक्ष्मता से उनके चेहरों को पढा। मुझे लगा कि मेरे इन शव्दो से उनके मन मे पुन. एक आशा की किरण फूटी है। वे मानसिक दृष्टि से अपेक्षाकृत स्वस्थ हुए हैं।

हा, तो मैं आपसे कह रहा था कि हमने अभाव में या किसी प्रलोभन-वश यह संयम का मार्ग स्वीकार नही किया है। हालांकि, कुछ अवोध लोग आज भी ऐसा मानते है और यदा-कदा मुंह से कह भी देते है कि पेट भरने के लिए ये लोग साधु वन गए है। हमारे मन में उनके प्रति रोप-आक्रोश नही है। लोग हमें कुछ भी वुरा-भला कहे, गालियां दें, निंदा करें, हमारे दोष निकालें, पर हम इन सव परिस्थितियों में, प्रतिकूलताओं में अपने आपको संतुलित रखने का प्रयास करते है। हमारा सिद्धांत है—'जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद।' विरोध को विनोद मे वदल देने की यह कला हमने आचार्य भिक्षु के जीवन से सीखी है। आचार्य भिक्षु से किसी ने कहा—"महाराज! लोग आपके दोप निकालते हैं।" (आपकी आलोचना-प्रत्यालोचना करते है।) अपनी आलोचना-प्रत्यालोचना की वात सुनकर साधारणतया व्यक्ति उत्तेजित हो जाता है। पर आचार्य भिक्षु ने ऐसा सुनकर अपने मन को तनिक भी असंतुलित नही किया, वल्कि हंसते हुए कहा—"दोप निकालते ही तो है, डालते तो नही। वे (आलोचक) तो मेरे हितैपी ही हैं। मैंने साधु-जीवन इसीलिए तो अगीकार किया है कि सारे दोपों (कर्मों) को नष्ट कर दू। कुछ दोप तो मैं स्वयं त्याग/तपस्या/स्वाध्याय/ध्यान के द्वारा निकाल रहा हूं और कुछ वे (आलोचक) निकाल रहे है!"

वन्धुओ! मैं मानता हूं कि विरोधी विचारों और आलोचना-प्रत्यालोचनाओ को समभावपर्वक सहन करने की क्षमता सभी धर्मगुरुओं मे विकसित होनी चाहिए। मुझे वड़ा दु:ख तो तव होता है, जव मैं देखता हूं कि धर्मगुरु कहलानेवाले, धर्म के अधिकारी कहलानेवाले समझदार लोग भी विना सोचे-समझे कभी-कभी ऐसी छिछली एवं हलकी वात कह देते हैं कि जिससे लाखो-लाखो लोगों मे उत्तेजना या द्वेप का भाव फैल जाता है। मैं नही समझता, जव धर्माधिकारी लोग भी समय पर थोड़ी-सी गंभीरता नही रख पाते, विरोधी विचारो को हजम नही कर पाते तो वे लाखो-लाखों लोगों का धार्मिक पथ-दर्शन कैसे कर सकेंगे?

मानव जीवन की सार्थकता

काल की अनिवार्यता को वताते-वताते मैं कहां का कहां पहुच गया।

बन्धुओ ! अब आप काल को बहुत अच्छी तरह से समझ गए होंगे। समझने का अर्थ यही है कि आप प्रतिक्षण बीतते हुए इस काल को अधिक-से-अधिक सत्य, शील, संतोष, त्याग, तपस्या आदि के द्वारा सार्थक बनाने का प्रयास करें। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है। यह सार्थकता प्राप्त होने के बाद काल जब भी आए, कोई चिन्ता की बात नही है।

काल परिपाक

एक दृष्टि से काल का विवेचन समाप्त हुआ। पर एक अन्य दृष्टि से भी आपको काल को समझना है। आप इस बात को समझें कि हर कार्य हर वस्तु काल का परिपाक मांगती है। जब तक काल का परिपाक नही हो जाता, तब तक अन्य सारे निमित्त मिलने पर भी कार्य बनता नही। आज किसान ने बीज बोया। पानी भी सीचा। पर वृक्ष एक दिन में खड़ा नहीं होता। फल आते-आते समय लगता है। यानी काल का परिपाक होने पर ही वृक्ष फूलो-फलों से हरा-भरा होता है। इसीलिए सन्त कबीरदासजी ने कहा है—

'धीरे धीरे रे मना ! धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आए फल होय॥'

अर्थात् किसी भी प्रवृत्ति या क्रिया का फल समय के परिपाक से मिलता है। इस तत्त्व को जानकर व्यक्ति को सदा धैर्य रखना चाहिए। विद्यार्थी आज पढना आरंभ करे और चाहे कि मैं आज ही विद्वान् बन जाऊं, यह कभी भी संभव नहीं है। धैर्यपूर्वक अध्ययन करने के बाद जब काल का परिपाक होगा, तभी वह विद्वान् बन सकेगा।

मुख्य फल : गौण फल

कुछ लोगों की शिकायत रहती है कि हमने धर्म तो किया पर फल कुछ नही मिला। मैं मानता हूं, ऐसा कभी भी संभव नही है। पर इस संदर्भ मे हमें एक बात जरूर समझ लेनी चाहिए। धर्म के दो प्रकार के फल हैं— वास्तविक तथा प्रासंगिक। व्यक्ति ने धर्म की आराधना की और उसको मानसिक शांति की प्राप्ति हुई, यह उसका वास्तविक फल है, तात्कालिक और मुख्य फल है। पर धर्म-क्रिया के साथ पुण्य का बंधन भी होता है और काल-परिपाक से जब वे पुण्य उदय मे आते है तो व्यक्ति को धन, सम्पत्ति, पुत्र..............के रूप में भौतिक लाभ भी मिलता है। यह है धर्म का प्रासंगिक या गौण फल। वास्तविक/तात्कालिक/मुख्य/मूल फल तो व्यक्ति को धर्म करने के साथ-साथ ही प्राप्त होता है। पर प्रासंगिक फल काल के परिपाक के बिना नही मिल पाता।

इस संदर्भ मे दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि व्यक्ति को धर्म सदा आत्म-शाति तथा जीवन की पवित्रता के लिए ही करना चाहिए। आत्म-शांति की दृष्टि से किए जाने वाले धर्म मे प्रासंगिक/आनुपंगिक फल तो सहज रूप से प्राप्त होता ही हे। उसके लिए धर्म करने की जरूरत नही। पर संसार में ऐसे लोगों की कोई कमी नही, जो प्रासगिक/आनुपगिक फल—धन-सम्पत्ति, मकान, जायदाद, सन्तान आदि भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए ही धर्म करते है। मेरी दृष्टि मे वे लोग उस नासमझ किसान के समान है, जो तूड़ी के लिए खेती करता है। वस्तुतः कोई थोड़ा समझदार किसान भी कभी तूड़ी के लिए खेती नही करता। हर किसान धान के लिए ही खेती करता है। तूड़ी तो उसे अनाज के साथ सहजरूप में उपलब्ध होती है।

तेरापंथ धर्मसंघ के आद्यप्रणेता आचार्य भिक्षु ने धर्म करने के इस दृष्टिकोण को बहुत सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। इस दृष्टिकोण को न समझने के कारण बहुत-से लोग मुख्य/मूल/सारभूत तत्त्व को तो गौण कर देते हैं और गौण/प्रासगिक/आनुषगिक तत्त्व को प्रमुख।

मैंने सुनी है एक घटना। एक यूरोपीय पर्यटक भारत में आया। घूमता-घूमता वह राजस्थान के रेतीले प्रदेश मे पहुंच गया। संयोगवश एक दिन वह मार्ग भूल गया और जंगल मे भटकने लगा। उसे कड़कड़ाती भूख लग गई। पर रेतीले जगल में खाने को मिले ही क्या? आखिर काफी देर तक इधर-उधर भटकने के पश्चात् उसे दूर एक झोंपड़ी दिखाई दी। वह उस झोपडी के पास पहुचा। वह एक किसान का घर था। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। किसान ने अतिथि का अपने सास्कृतिक शैली से स्वागत किया। पर्यटक ने अपनी परिस्थिति बताई। पर कठिनाई यह हो गई कि वे दोनो ही एक-दूसरे की बात नही समझ पा रहे थे। क्योंकि किसान अंग्रेजी नही जानता था और वह पर्यटक हिंदी और राजस्थानी। आखिर वह पर्यटक सकेतो के माध्यम से किसान को यह समझाने मे सफल हो गया कि वह भूखा है। उसे खाने को कुछ दो। किसान ने एक बाजरे की रोटी पर थोड़ा-सा प्याज रखा और वह उसके हाथ मे थमा दी। विदेशी पर्यटक ने प्याज तो खा लिया और उस रोटी को तस्तरी समझ कर फेंक दिया। उसको इतना ज्ञान नही था कि यह तस्तरी नहीं, रोटी है और यही सारभूत खाने की वस्तु है। प्याज तो मात्र इसके साथ लगावन के रूप मे है।

बन्धुओ! आप हंस सकते है उस विदेशी पर्यटक के अज्ञान पर। पर टटोलें जरा अपने-अपने जीवन को। कही आप भी तो ऐसी भूल नहीं कर रहे है? धर्म की क्रिया यदि आप आत्म-शाति के लिए करते है तब तो ठीक है, पर कही भौतिक सुख-सुविधाओ एव भोगविलास की सामग्री की प्राप्ति के

लिए करते है तो मानना होगा कि आप भी उसी पर्यटक के साथी हैं। मै नही चाहता, कोई भी व्यक्ति उस पर्यटक जैसी भूल करे। अपेक्षित है, हम धर्म करने के सही दृष्टिकोण को समझे और मात्र आत्म शाति और जीवन की पवित्रता के उद्देश्य से ही उसे जीवन मे स्थान दें।

गंगाशहर
२० जुलाई, १९७८

क्या काल पहचाना जाता है ?

'काल' की विस्तृत चर्चा कल की गई। आज हमें चर्चा करनी है कि काल को कैसे पहचाने ?

वर्तना-परिणाम-क्रिया-परत्वापरत्वादिभिर्लक्ष्यः ।

वर्तमानत्वम्—वर्तना। पदार्थानां नानापर्यायेषु परिणतिः—परिणामः। क्रिया—चंक्रमणादिः । प्राग्भावित्वम्—परत्वम् । पश्चाद्भावित्वम्—अपरत्वम् ।

जैन दर्शन मे काल को पहचानने के लिए पांच लक्षण बताए गए है—

१. वर्तना
२. परिणाम
३. क्रिया
४. परत्व
५. अपरत्व

वर्तना

वर्तमान से रहने का नाम है—वर्तना। यह वस्तु वर्तमान है, मौजूद है, इसे हम काल से ही जानते है। इसी प्रकार यह वस्तु अतीत मे थी या भविष्य मे होगी—यह भी काल के द्वारा ही जाना जाता है। क्योकि अतीत की वस्तु भी कभी-न-कभी वर्तमान मे अवश्य थी और भविष्य की वस्तु भी कभी-न-कभी वर्तमान मे अवश्य रहेगी। हमारे पूज्य गुरुदेव अब अतीत हो गए, पर मेरे से पहले वे वर्तमान थे। उनके पहले हमारे धर्मसंघ के सात आचार्य वर्तमान थे। उनके पहले दूसरे-दूसरे आचार्य वर्तमान थे और उनके पहले भगवान महावीर वर्तमान थे। इसी प्रकार भविष्य मे भी जितने आचार्य होंगे, वे अपने-अपने समय में वर्तमान होंगे। काल को हम नही देख सकते, पर वर्तमान मे मौजूद उस व्यक्ति को तो देख ही सकते है।

काल सबको चलाता है। एक-एक क्षण चलाता है। बच्चे को जवान और जवान को बूढ़ा बना देता है। काल के सिवाय संसार में और कोई दूसरी शक्ति नहीं, जो किसी को जवान या बूढ़ा बना सके। यह वर्तना है। इसके द्वारा काल को पहचाना जा सकता है।

परिणाम

परिणाम अर्थात् परिणति। हम ससार के पदार्थो मे जितनी भी प्रकार की परिणतिया देखते है, ने सब काल के ही कारण है। वचपन जवानी में परिणत हो गया—यह काल के द्वारा ही होता है। अमुक अवस्था तक वालकपन, अमुक अवस्था तक कैशोर्य, अमुक अवस्था तक जवानी, अमुक अवस्था तक प्रौढ़ता·····। ये सब काल की ही परिणतियां है।

संसार के हर पदार्थ मे प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। यह कोई आवश्यक नही कि जो पदार्थ हमारे काम मे आते हैं, उन्ही मे परिणति हो। जो पदार्थ हमारे काम नही आते हैं, उनमे भी परिणति होती रहती है। उदाहरणार्थ—एक कपड़े का थान आपने वक्से मे रख दिया। कुछ वर्षों के पश्चात् उस कपड़े का रंग बदल गया। वह जीर्ण-शीर्ण हो गया। आप कहेगे, हमने तो उसे काम में नही लिया। यह ठीक है कि आपने काम मे नही लिया, पर काल ने तो काम में ले ही लिया। तात्पर्य यही है कि काल के कारण हर पदार्थ मे प्रतिक्षण सहज परिवर्तन होता रहता है।

क्रिया

काल हमारी हर क्रिया मे परम सहयोगी है। काल के अभाव मे अन्य सभी निमित्त होने के वावजूद भी वह क्रिया नही हो पाती। इसलिए क्रिया मे समय चाहे कम लगे या अधिक, पर यह निश्चित है कि समय अवश्य लगेगा। इसलिए क्रिया से हम काल को पहचान सकते है।

परत्व और अपरत्व

अमुक व्यक्ति वड़ा है और अमुक व्यक्ति छोटा है, यह पहले जनमा है और यह वाद मे जनमा है—यह सव काल के कारण ही है। काल के अभाव में हम वड़े-छोटे का भेद नही जान सकते। इसलिए परत्व और अपरत्व—ये दोनों भी काल के लक्षण है। इनके द्वारा काल को हम जान सकते है।

हमारे धर्मसंघ मे स्थान, भोजन आदि की व्यवस्थाएं दीक्षा-पर्याय से होती है। उदाहरणार्थ—रात को सोना है। अव प्रश्न है, सवसे पहले किसके स्थान का निर्धारण हो? हमारे आचार्यों ने व्यवस्था दी कि दीक्षा मे जो सवसे वड़ा है, उसे सवसे पहले स्थान मिलना चाहिए, उससे छोटे को उसके वाद, उससे छोटे को उससे वाद······। इस प्रकार दीक्षा-क्रम के अनुसार सवके स्थान का निर्धारण होता है। यह दीक्षावस्था मे वडा-छोटा होना काल का ही लक्षण है।

प्रसंग मेघकुमार का

मेघकुमार की घटना हम पढ़ते हैं। उसका मन सयम से विचलित क्यो हुआ? रात भर नीद न आने से। उसे रात भर नीद क्यो नही आई? उसके

सोने का स्थान रास्ते में दरवाजे के बीच था। अतः आते-जाते साधुओं के रजोहरणों और पैरों से उसके शरीर को बार-बार स्पर्श होता रहा, ठोकरें लगती रही। मेघकुमार को सोने का स्थान रास्ते मे दरवाजे के बीच क्यों मिला? वह सबसे छोटा था। छोटे को स्थान सबसे बाद में मिलता है। वह छोटा क्यो हुआ? काल के कारण।

काल को यद्यपि हम पकड़ नहीं सकते, देख नहीं सकते, पर ये पांच ऐसे लक्षण हैं, जिनसे स्पष्टरूप से हम उसे जान सकते हैं, उसके अस्तित्व को पहचान सकते हैं। हम सब काल को पहचानें और तदनुसार अपने जीवन को मोड़ दें—यही कल्याण का पथ है।

गंगाशहर
३१ जुलाई, १९७८

षड्द्रव्यों की स्थिति

छह द्रव्यों के अन्तर्गत धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल—इन पाच द्रव्यो की व्याख्या सम्पन्न हो चुकी है। केवल जीव का विवेचन अब अवशेष है। जीव के बारे मे हम अलग से फिर चर्चा करेंगे। आज हमें इस बात पर विचार करना है कि छह द्रव्यो की स्थिति किस-किस रूप मे है।

आद्यत्रीणि एकद्रव्याणि अगतिकानि।

आकाशपर्यन्तानि त्रीणि एकद्रव्याणि—एकव्यक्तिकानि, अगतिकानि—गतिक्रियाशून्यानि।

छह द्रव्यो मे प्रथम तीन द्रव्य—धर्म, अधर्म व आकाश एक-एक द्रव्य हैं। इनके त्रिकाल मे भी टुकड़े नही हो सकते। ये तीनो द्रव्य सर्वथा गति-शून्य है।

धर्म, अधर्म और आकाश—इन तीनो को छोड़कर शेष तीनो द्रव्य—काल, जीव और पुद्गल अनेक-अनेक है। काल के विभाग हमारे सामने है। दिन, रात, प्रहर, मास, वर्ष आदि काल के ही विभाग है।

पुद्गल भी अनेक (अनन्त) है। परमाणु अनन्त है और पुद्गल स्कन्ध भी अनन्त है।

जीव अनेक (अनन्त) है—यह आप सब जानते ही है। पर आपको यह भी जानना चाहिए कि प्रत्येक जीव सत्ता रूप में स्वतंत्र है। जीव न तो किसी से पैदा होता है और न ही किसी में विलीन होता है। कुछ लोग ससार के जीवों को ईश्वर के विभिन्न रूप मानते है। वे ईश्वर को परमपिता मानते हैं और ससार के प्राणियो को उनकी सन्तान। ईश्वर पूज्य है, इसलिए पूज्यता के भाव से उन्हे परमपिता कहा जाए, इसमे कोई कठिनाई नही है। पर पैदा करने के अर्थ में ईश्वर को पिता कहना जैन दर्शन की मान्यता से मेल नही खाता। जैन दर्शन के अनुसार जीव को किसी ईश्वर या परमात्मा ने पैदा नही किया है। वह तो अनादिकाल से स्वयं ही पैदा हुआ है। इसलिए मैंने कहा कि जीव अनेक है और सबकी अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

पुद्गल और जीव—ये दोनों गतिशील द्रव्य है। काल औपचारिक द्रव्य है, इसलिए गतिशील और अगतिशील दोनों ही नही है।

पदार्थों की मापक इकाई

अब हम इस प्रश्न पर चिन्तन करें कि छह द्रव्यों के कितने-कितने प्रदेश है ?

असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मलोकाकाशैकजीवानाम् ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव—इन चारों के प्रदेश असंख्य-असंख्य होते हैं ।

धर्मास्तिकाय के प्रदेश असंख्य कैसे है ?—इस बात को आप ध्यान से समझें । यों तो धर्मास्तिकाय, जैसा कि मैंने अभी-अभी बताया, एक द्रव्य है । उसके टुकड़े नही हो सकने । पर यदि हम उसे प्रदेश के माप से मापें तो वह असंख्येयप्रदेशी है । इस बात को आप एक स्थूल उदाहरण से समझें । यह पण्डाल है । बताया गया कि यह लगभग पंद्रह हजार घनफुट का है । पर यह पद्रह हजार घनफुट अलग-अलग कहां है ? इसे मापें तो पंद्रह हजार घनफुट है, अन्यथा पण्डाल तो एक ही है । ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के बारे मे जाननी चाहिए । धर्मास्तिकाय यों एक ही है । उसका कोई विभाग नही है । पर यदि मापा जाए तो परमाणु जितने असंख्य विभाग उसके हो सकते हैं । इस दृष्टि से धर्मास्तिकाय असंख्येयप्रदेशी है । इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय और लोकाकाश के भी अलग-अलग असख्य प्रदेश जानने चाहिए ।

एक जीव के प्रदेश भी असख्य है । पर यह बात शायद आप लोगों को सहजतया समझ में नही आ सकती । वास्तव मे जीव मे संकोच और विकोच की शक्ति होती है । वह चाहे तो अपने आत्मप्रदेशों को एक केश जितने सूक्ष्म शरीर मे संकुचित कर सकता है और चाहे तो इतना विकोच कर सकता है कि पूरे लोक मे उसके (एक जीव के) आत्म-प्रदेश फैल सकते हैं ।

अलोकस्यानन्ताः ।

अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है । कोई कह सकता है, यह बात तर्क सगत नही है ।

यह विवेचन दर्शन-जगत् की सूक्ष्मता है । आप इस बात को यदि तर्क से समझना चाहेगे तो कभी भी समझ मे नही आएगी । इसे श्रद्धा से ही समझना होगा । इसे ही क्यों, ऐसी अनेक बातें श्रद्धा से ही समझनी होंगी । पर मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नही कि तर्क सर्वथा हेय है । मैं तर्क का एकान्ततः विरोधी नही हू । तर्क शास्त्र तो मैंने स्वय पढा है । और एक सीमा तक मैं तर्क को उचित भी समझता हू । पर सब जगह तर्क उचित नही । बहुत-सी बातें तर्क से समझी जाती हैं, पर कुछ बातें ऐसी होती है, जो तर्क की सीमा से परे की होती है । आकाश इतना बड़ा क्यों है ? आकाश मे इतने तारे क्यो चमकते है ? सूरज पूर्व मे ही क्यो उदित होता है ?…ऐसी सैकड़ों नैसर्गिक बातें है, जिन्हें तर्क से कभी भी नही समझा जा सकता ।

यदि इन्हें तर्क से समझने का प्रयास किया जाएगा तो सिवाय उलझन के और कुछ भी हाथ नही लगेगा। ऐसी बातो को श्रद्धा से ही समझा जा सकता है। कील लकड़ी मे गाड़ी जा सकती है, दीवाल मे गाड़ी जा सकती है, फर्श में गाड़ी जा सकती है पर वज्र में नही गाड़ी जा सकती। इसलिए मैं आप लोगों को यह सलाह देना चाहता हूं कि दर्शन की इन सूक्ष्म बातों को, जो कि प्राकृतिक है, समझने के लिए तर्क नही, विश्वास या श्रद्ध का उपयोग करें। आप देखें, केवल जैन दर्शन मे ही नही, अपितु सभी दर्शनों ने नैसर्गिक नियमों को समझने के लिए तर्क को अनुपयोगी माना है।

बन्धुओ! श्रद्धा बहुत गहरा तत्त्व है। ये बड़े-बड़े वैज्ञानिक कितने श्रद्धालु होते हैं! मैं दाद देता हूं इनकी श्रद्धा को। मुझे बहुत ख्याल है, जब शुरू-शुरू में वैज्ञानिको ने चन्द्रलोक मे जाने की कल्पना प्रस्तुत की तो लाखो-लाखो, करोड़ों-करोड़ो लोगो ने उनका मखौल उड़ाया। पर वे अपने विचारों के अनुसार आगे बढ़ते रहे। आरम्भिक असफलताएं उन्हें निराश नही बना सकीं। इस प्रयास मे उनकी कई पीढ़ियां खप गईं। करोड़ों-अरबो रुपए खर्च हुए। पर अपनी श्रद्धा के बल पर आखिर उन्होंने उस कल्पना को साकार बना दिया। वे मखौल करनेवाले लोग देखते ही रह गए। अब उनके पास कुछ भी कहने को नही था।

मैं अपने शैक्ष साधु-साध्वियो से कहा करता हू कि वे अभी ज्यादा तर्क मे न जाएं। जो उन्हें आदेश, निदेश या अनुशासन मिले, उसे श्रद्धा से स्वीकार कर आगे बढ़ते रहें। यह आदेश, निदेश एवं अनुशासन के प्रति श्रद्धा उनके भावी जीवन-निर्माण का प्रमुखतम आधार बनेगी। मैं यह बात केवल सिद्धांत के रूप में नही, अपितु अपने अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। मैं स्वयं कड़े अनुशासन मे रहा हूं। उस अनुशासन मे मैंने दृढ श्रद्धा के साथ चरण बढ़ाए है।

स्वतंत्रता सबको प्रिय है

अभी मैंने आपको बताया कि हर जीव की स्वतत्र सत्ता है। सचमुच ही स्वतन्त्रता बहुत ही प्रिय शब्द है। इससे प्रिय शब्द दूसरा हो नही सकता। संसार का हर मनुष्य स्वतन्त्र रहना चाहता है। मनुष्य ही क्यो, ये पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े, और कहना चाहिए कि संसार के सभी छोटे-मोटे प्राणी अपने आपको स्वतंत्र रखना चाहते है। कोई परतन्त्रता नही चाहता। कोई किसी का तावेदार बनकर रहना पसन्द नही करता। इसलिए यह सिद्धान्त बना कि कोई किसी को अपना तावेदार न बनाए। हमारे तीर्थंकरों ने यहा तक कहा कि यदि तुम किसी को तावेदार बनाओगे तो तुम्हे हिंसा का पाप लगेगा। जब व्यक्ति स्वयं किसी का तावेदार बनकर नही रहना चाहता तो उसे क्या अधिकार है कि वह किसी को अपना तावेदार बनाए?

इस संदर्भ मे इतना अवश्य है कि यदि कोई अपने जीवन-निर्माण की दृष्टि से अपने आपको दूसरे के अधीन रखता है तो यह परतन्त्रता नहीं है। शिष्य गुरु से निवेदन करता है कि मैं आपकी आज्ञा मे रहना चाहता हूं, मेरी सारी इच्छाएं आपकी इच्छा मे विलीन करना चाहता हू, आप मुझे अनुशासित करे। इस स्थिति मे गुरु का कर्त्तव्य है कि वे उस पर अनुशासन करें। उस पर अपना समय लगाएं। मैं तो यहां तक कहता हू कि यदि किसी के सहारे किसी का जीवन निर्मित होता है तो उसे अपना जीवन झोंक देना चाहिए। लोग कहते है कि हम गुरु की सेवा करते है। पर मैं सोचता हूं कि इस माने मे तो गुरु ही उनकी सेवा करते हैं। एक-एक व्यक्ति के जीवन-निर्माण के लिए वे कितने-कितने प्रयास और प्रयोग करते है। बच्चे कहते हैं कि हम माता-पिता की सेवा करते है। पर मैं देखता हूं कि बड़ी सेवा तो माता-पिता ही करते है। पिता का नाम मैंने यो ही जोड़ दिया। वास्तव मे तो माता ही बच्चों की सेवा करती है। वह जैसी सेवा बच्चों की करती है, वैसी सेवा कोई दूसरा कभी कर नही सकता। माना, दूसरी जगह बच्चों को दूध मिल सकता है, भोजन मिल सकता है, मन बहलाव के साधन मिल सकते है, पर मां का वात्सल्य/निश्छल प्यार कहा से मिलेगा? वस्तुतः यह वात्सल्य/निश्छल प्यार ही बालक के जीवन-निर्माण का मौलिक आधार है।

सत्संस्कार : जीवन की थाती

आज पश्चिम जगत् मे यह विचार बड़ी तेजी के साथ फैल रहा है कि बच्चों को मां से कभी जुदा नही करना चाहिए। वहा के लोगो को यह बहुत स्पष्टतया अनुभव हो रहा है कि बच्चों को माताओ से अलग रख कर हमने बहुत बडी भूल की है। बच्चो के जीवन मे जो मानवीय सवेदनशीलता आनी चाहिए, वह इस भूल के परिणामस्वरूप नही आ रही है। पर आश्चर्य तो यह है कि भारतीय माताए आजकल बाल-बच्चो के लालन-पालन को बोझ समझने लगी है! यह पश्चिमी संस्कृति का प्रभाव है। दूसरी-दूसरी सस्कृतियो से अच्छे संस्कारो को ग्रहण किया जाए, इसका मैं विरोधी नही हू। पर आंख मीच कर अनुकरण की मनोवृत्ति को कदापि उचित नही मानता। दूसरो की अच्छी बातो को ग्रहण करने का तात्पर्य यह नही कि आप अपने अच्छे सस्कारों को भूल जाए। आपको अपने मौलिक सत्-संस्कारो को सुरक्षित रखना है। सत्संस्कार जीवन की थाती है।

गगाशहर
१ अगस्त, १९७८

पुद्गल, धर्म व अधर्म की स्थिति

कल के प्रवचन मे आपने यह जाना कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश और एक जीव के प्रदेश असंख्य-असंख्य होते हैं। अलोकाकाश के प्रदेश अनत होते है। अब हम आगे चले।

संख्येयाऽसंख्येयाश्च पुद्गलानाम् ।

चकारादनन्ता अपि ।

पुद्गल-स्कंधो के बारे मे मैं पहले बता चुका हू कि वे द्विप्रदेशी से लेकर अनन्तप्रदेशी तक होते हैं। इसलिए कहा गया कि पुद्गल-स्कंधों के प्रदेश संख्येय, असख्येय और अनन्त तीनो ही होते है।

परमाणु

पुद्गल के बाद परमाणु का क्रम है। आपके मन मे जिज्ञासा होगी, परमाणु के प्रदेश कितने है?

न परमाणोः ।

परमाणोरेकत्वेन निरंशत्वेन च न प्रदेशः ।

परमाणु के कोई प्रदेश नही होता। क्योकि परमाणु अकेला ही होता है। उसका कोई भाग नही होता। व्यवहार मे परमाणु को एकप्रदेशी कह दिया जाता है। इसका इतना सा ही अर्थ है कि परमाणु एक प्रदेश जितना होता है। हम कहते है, एक गज कपडा। वास्तव मे कपड़ा कोई गज नही होता। केवल एक गज जितने प्रमाणवाले कपडे को हम एक गज कपड़ा कह देते हैं।

क्या काल सप्रदेशी है?

अब हमे इस प्रश्न पर विचार करना है कि काल के कितने प्रदेश होते है?

कालोऽप्रदेशी ।

काल का कोई प्रदेश नही होता। काल अप्रदेशी द्रव्य है। क्योकि काल का कोई भाग नही होता। यहां आपके मन मे प्रश्न उभर सकता है कि सेकंड मिनिट, घन्टा, मास, वर्ष आदि के रूप मे काल के अनेक विभाग हमारे सामने प्रत्यक्ष है, फिर काल का कोई भाग नही होता—इस कथन की क्या संगति

है ? मूलतः ये जो काल के विभाग किए जाते हैं, वे सारे के सारे अवास्तविक/काल्पनिक है। हमने अपनी सुविधा के लिए कल्पना से इसे अनेक भागों में विभक्त कर लिया है।

देश : प्रदेश

छह द्रव्यो का विवेचन के अन्तर्गत स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणु—इन चार शब्दों का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। स्कन्ध और परमाणु को मैं पहले स्पष्ट कर चुका हूं। अब देश और प्रदेश—इन दोनों शब्दों को भी समझ लेना चाहिए।

बुद्धिकल्पितो वस्त्वंशो देशः।

वस्तुनोऽपृथग्भूतो बुद्धिकल्पितोंऽशो देश उच्यते।

किसी भी वस्तु (स्कंध) का बुद्धिकल्पित अंश/विभाग 'देश' कहलाता है। 'देश' शब्द यो राष्ट्र के अर्थ मे व्यवहृत होता है। पर हमारे दर्शन-जगत् मे यह शब्द अंश/विभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हमारे यहा श्रावक को देशव्रती कहा गया है। यहां इसका अर्थ यही तो है कि आंशिक रूप से व्रतों को स्वीकार करनेवाला। इसी प्रकार अनेक स्थलों पर यह शब्द अंश के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। जैन दर्शन के अतिरिक्त दूसरे-दूसरे दर्शनों में भी यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

छह द्रव्यों मे काल को छोड़ कर शेप पांच द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश जीव और पुद्गल के देश होते है।

निरंशः प्रदेशः।

निरंशो देशः प्रदेशः कथ्यते। परमाणुपरिमितो वस्तुभाग इत्यर्थः। अविभागी परिच्छेदोऽप्यस्य पर्यायः। पृथग्वस्तुत्वेन परमाणुस्ततो भिन्नः।

जिसका कोई खण्ड/विभाग न हो सके, स्कन्ध के ऐसे सूक्ष्मतम भाग को प्रदेश कहा जाता है। प्रदेश परमाणु जितना होता है। एक दृष्टि से प्रदेश और परमाणु एक ही हैं। उनमें कोई अन्तर नही है। पर दूसरी दृष्टि से वे दोनों एक नही भी हैं, भिन्न-भिन्न है। स्कन्ध का सूक्ष्मतम भाग, जब तक स्कन्ध के साथ जुडा हुआ है, प्रदेश कहलाता है। पर वही सूक्ष्मतम भाग जब स्कन्ध से अलग हो जाता है, तब उसे परमाणु कहा जाता है। दूसरे शब्दो मे परमाणु स्वतंत्र पुद्गल होता है, जबकि प्रदेश स्कन्ध के साथ जुड़ा हुआ होता है। इसे मैं एक स्थूल उदाहरण से और स्पष्ट करूं। मेरे हाथ में यह एक कपड़ा है। यह सैकड़ो-हजारों तंतुओं से बना है। हम समझने के लिए कल्पना से प्रत्येक तंतु को एक प्रदेश मान लें। इस प्रकार इस कपड़े मे सैकड़ों-हजारों प्रदेश हो गए। अब हमने इसका एक तन्तु बाहर निकाल लिया। यह तन्तु अब प्रदेश नही, परमाणु कहलाएगा। जब तक यह तन्तु कपड़े के साथ जुड़ा हुआ था, तब तक ही प्रदेश था।

'अविभागी परिच्छेद' प्रदेश का दूसरा नाम है।

षड्द्रव्यों की अवगाहना

देश और प्रदेश की चर्चा के वाद हम इस वात पर विचार करें कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव— इन छह द्रव्यों की अवगाहना कितनी-कितनी है ? यानी ये कितने-कितने क्षेत्र मे व्याप्त है ? सवसे पहले हम धर्मास्तिकाय को ही लें।

कृत्स्नलोकेऽवगाहो धर्माधर्मयोः।

धर्माधर्मास्तिकायौ सम्पूर्णं लोकं व्याप्य तिष्ठतः।

धर्मास्तिकाय क्षेत्र की दृष्टि से पूरे लोक मे व्याप्त है। आप पूछ सकते हैं, यहां धर्मास्तिकाय है या नहीं ? इसका उत्तर नकारात्मक है। आप पूछेंगे, क्यो ? इस 'क्यों' का उत्तर आपको भगवती सूत्र मे प्राप्त हो जाएगा। भगवान से प्रश्न पूछा गया—"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय पूर्व दिशा में है ?"

"नही।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय पश्चिम दिशा मे है ?"

"नही।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय दक्षिण दिशा मे है ?"

"नहीं।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय उत्तर दिशा मे है ?"

"नहीं।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय ऊर्ध्व दिशा मे है ?"

"नही।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय अधो दिशा मे है ?"

"नही।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय विदिशा मे है ?"

"नही।"

"भन्ते ! क्या धर्मास्तिकाय अनुदिशा मे है ?"

"नही।"

अव आपके सामने प्रश्न होगा कि एक तरफ तो भगवान वता रहे है कि धर्मास्तिकाय लोकप्रमाण है और दूसरी तरफ कहते है, यह पूर्व, पश्चिम दक्षिण····इनमे से किसी भी दिशा में नहीं है, यह विसंगति क्यो ?

आप निश्चित मानें भगवान जो कुछ भी कहते है, वह याथार्थ से किंचित् भी परे नही हो सकता। क्योकि वे सर्वज्ञ है। उनकी वाणी मे संदेह नही किया जा सकता। जो उनकी वाणी में संदेह करता है, वह अज्ञानी होता है। धर्मास्तिकाय के सम्वन्ध में भगवान जो कुछ कह रहे है, उसमें कोई विसंगति नही है। विलकुल संगति है। केवल आप लोग समझ नही पा रहे

है। कई बार ऐसा होता है कि तत्त्व बिलकुल सामने होता है, फिर भी लोग उसे पहचान पाते है। एक सस्कृत श्लोक है—

'माला स्वयं वरस्थाने, कण्ठे रामस्य सीतया।
मुधा बुधा भ्रमन्त्येव, प्रत्यक्षेपि क्रियापदे॥'

आप लोग संभवत: इसे न समझें। संस्कृत जाननेवाले इसे समझ सकेंगे। इस पूरे श्लोक मे क्रिया कहा है? बिलकुल प्रत्यक्ष है। लेकिन श्लोक-रचना इस ढंग से हुई है कि सहजतया विद्यार्थी पकड नही पाते, उसमे उलझ जाते है। पर थोडा-सा गहराई से ध्यान दें तो वह बिल्कुल ध्यान में आ जाती है।

'प्रत्यक्षेपि' जिसका अर्थ सहजतया—प्रत्यक्ष होने पर भी—यह समझा जाता है, वह स्वयं क्रिया है। इसे न समझने के कारण प्रत्यक्ष होने के बावजद भी वह ध्यान मे नही आती। ठीक यही बात धर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में भगवान द्वारा किए गए कथनों के लिए लागू होती है। धर्मास्तिकाय पूरे लोक मे व्याप्त है और धर्मास्तिकाय पूर्व, पश्चिम···दिशा में नही है, इन दोनों कथनों में पूर्ण संगति है। आप जरा गहराई से ध्यान दें भगवान जब स्पष्ट कह रहे हैं कि धर्मास्तिकाय पूरे लोक में व्याप्त है तो वह केवल पूर्व, पश्चिम, उत्तर या अन्य किसी भी एक दिशा मे कैसे समाएगी? हां, किसी भी दिशा मे, यहां गंगाशहर मे या अन्यत्र कही भी (लोक मे) धर्मास्तिकाय का एक हिस्सा है, यह कहने मे कोई कठिनाई नही। पर अखण्ड धर्मास्तिकाय तो मात्र लोकाकाश में ही व्याप्त है। आपको एक स्थूल उदाहरण दूं। आदमी का शरीर है। मै पूछता हू, क्या यह हाथ शरीर है? उत्तर होगा—नही। तो क्या यह पैर शरीर है? नही। तो क्या यह पेट शरीर है? नही। तब फिर शरीर क्या है? शरीर हाथ, पैर, पेट, पीठ आदि सब अवयवों के योग का नाम है। सब शरीर के एक-एक अंग है। इनमे से अकेला कोई भी शरीर नही है। जब ये सारे मिलते है तो हम इसे शरीर कहते हैं।

उपवास · ऊनोदरी

किसी ने अन्न खाने का त्याग कर दिया। पर क्या इसे हम उपवास मान ले? कदापि नही। क्योंकि वह फल, फूल, दूध, दही आदि नाना प्रकार की चीजे खाने के लिए सावकाश है। यह ठीक है कि उसे अन्न खाने का त्याग है, पर मात्र अन्न के त्याग को हम उपवास तो नही कह सकते। उपवास तो तभी होगा, जब खाने-पीने का सर्वथा त्याग किया जाएगा। यद्यपि हमारी परम्परा में पानी पीकर उपवास किया जाता है। पर वास्तव में चारों ही आहार—अशन, पान, खादिम, स्वादिम का त्याग करने से ही उपवास होता है। आपको ख्याल रहे, भगवान महावीर ने जितनी भी तपस्या की थी, वह सारी-की-सारी बिना पानी के ही की थी। इसलिए उपवास आदि मे चारों ही प्रकार के आहार का त्याग होना चाहिए। यों जितना त्याग किया जाए,

वह अच्छा है। पर उसे ऊनोदरी में गिना जाता है, उपवास में नही।

अनशन का मूल्य

एक दिन के उपवास से लेकर दो दिन, तीन दिन, ... यावज्जीवन के त्याग (संथारा) के लिए हमारे यहां 'अनशन' शब्द का प्रयोग हुआ है। पर यह 'अनशन' आजकल चलनेवाले अनशन से सर्वथा अलग है। राजनैतिक लोगो ने इस अनशन को इतना विकृत रूप दे दिया है कि यह शब्द बदनाम बनता जा रहा है। जहां भी अनशन की बात चलती है, लोग समझते हैं कि जरूर कुछ गडबड है।

वस्तुतः उपवास/अनशन आदि तपस्या बहुत ऊंचा तत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही, शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा से भी यह कम उपयोगी नही है। महीने मे यदि दो उपवास होते रहे तो शरीर के पाचन तंत्र को विश्राम मिलता है। दीर्घ काल तक कार्य करने के लिए यह अत्यावश्यक है। आप देखें, आप की कार भी चलते-चलते विश्राम मागती है। यदि उसके इंजन को भी बीच-बीच मे विश्राम न मिले तो वह बहुत जल्दी बेकार हो जाती है। यही बात हमारे शरीर के यंत्र के बारे मे भी है। स्वास्थ्य-विशेषज्ञ भी इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन करते है। आयुर्वेद में कहा गया है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए दिन मे दो बार, माह मे दो बार, और वर्ष मे दो बार जरूरी है। यानी दिन में दो बार उत्सर्ग, महीने में दो बार उपवास (लंघन) और वर्ष मे दो बार जुलाव (विरेचन) बहुत आवश्यक है।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि वस्तु के एक अंश को उस वस्तु का एक भाग कहा जा सकता है, सम्पूर्ण वस्तु नही। इस दृष्टि से गतिसहायक द्रव्य—धर्मास्तिकाय लोक के हर प्रदेश मे मौजूद है। पर वह सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय नही, आंशिक धर्मास्तिकाय है। सम्पूर्ण धर्मास्तिकाय तो पूरे लोक में ही व्याप्त है।

धर्मास्तिकाय की तरह अधर्मास्तिकाय भी क्षेत्र की दृष्टि से लोक-प्रमाण है। सम्पूर्ण लोकाकाश मे अधर्मास्तिकाय—स्थितिसहायक द्रव्य व्याप्त है।

एकप्रदेशादिषु विकल्प्यः पुद्गलानाम्।

लोकस्यैकप्रदेशादिषु पुद्गलानामवगाहो विकल्पनीयः।

पुद्गल क्षेत्र की दृष्टि से लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर सम्पूर्ण लोकाकाश मे व्याप्त है। यानी कुछ पुद्गल लोकाकाश के एक प्रदेश मे रहते है तो कुछ दो प्रदेश मे, कुछ तीन प्रदेश में...... और कुछ समूचे लोक मे। परमाणु का कोई प्रदेश नही होता। वह केवल लोकाकाश के एक प्रदेश मे ही रहता है। पुद्गल स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्तप्रदेशी होते है।

ये पुद्गल-स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश से लेकर समूचे लोक में समाते हैं। मैंने पहले ही स्पष्ट किया था कि एक प्रदेश एक परमाणु जितना होता है। अब यह प्रश्न उभरता है कि अनन्तप्रदेशी स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में कैसे समाता है ? यह बात सहज बुद्धिगम्य नहीं है। पर जैसा कि कल मैंने कहा था, सब बातें बुद्धि और तर्क से समझ मे नहीं आती। तर्क और बुद्धि से वे बातें समझ में आ सकेंगी, जो उनकी सीमा में है। बुद्धि और तर्क की सीमा के पार की बातो को हमें श्रद्धा और विश्वास के आधार पर जानना चाहिए। अनन्तप्रदेशी पुद्गल-स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश में कैसे समाता है, इस बात को हम इस आधार पर भी समझ सकते हैं कि पुद्गल का सकोच और विकोच का स्वभाव है। वह संकुचित हो तो परमाणु जितने लोकाकाश के क्षेत्र में रह सकता है और विस्तार पाए तो समूचे लोक में व्याप्त हो सकता है। उदाहरणार्थ—आपने कमरे में एक बल्व जलाया। उसका प्रकाश पूरे कमरे के आकाश में व्याप्त हो गया। अब आपने दूसरा बल्व और जला दिया। उसका प्रकाश भी उस कमरे के आकाश में समा गया। इस प्रकार तीन, चार, दस, बीस, पचास......बल्व आपने अपने कमरे में जलाए और सबका प्रकाश उस कमरे मे समा गया। कमरा एक है और बल्व एक हो या हजार, सबका प्रकाश उसमें समा जाता है। इसी प्रकार लोकाकाश के एक प्रदेश में अनन्त पुद्गलों का स्कन्ध समा जाता है। आप पूछेंगे, प्रकाश पुद्गल है क्या ? आप क्या भूल गए इतनी जल्दी ? अभी कुछ ही दिनों पहले मैंने पुद्गलों के लक्षणों का वर्णन करते हुए आप लोगों को बताया था कि अंधकार, प्रकाश, उद्योत, छाया......सब पुद्गल के लक्षण है और जिसमे ये लक्षण पाए जाते है, वह पुद्गल है। अब आपको इस बात को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध लोकाकाश के एक प्रदेश मे भी समा सकता है।

गंगाशहर
२ अगस्त, १९७८

संसार में जीव की अवस्थिति

कल के प्रवचन मे धर्म, अधर्म और पुद्गल की अवगाहना के बारे में आपने सुना। आज हम जीव की अवगाहना पर विचार करेगे।

असंख्येयभागादिषु जीवानाम्।

जीवः खलु स्वभावात् लोकस्य अल्पादल्पं असंख्येयप्रदेशात्मक असंख्येयतम भागमवरुध्य तिष्ठति, न पुद्गलवत् एक प्रदेशादिकम्, इति असंख्येय भागादिषु जीवानामवगाहः।

असंख्येयप्रदेशात्मके च लोके परिणतिवैचित्र्यात प्रदीपप्रभापटलवत् अनन्तानामपि जीवपुद्गलानां समावेशो न दुर्घटः।

जैन दर्शन की मान्यतानुसार प्रत्येक जीव कम-से-कम लोकाकाश के असख्येयप्रदेशी असख्यातवें भाग का अवगाहन करता है। अथात् जीव की अवगाहना लोकाकाश के असख्येयप्रदेशात्मक असख्यतवे भाग से लेकर लोकाकाश तक है।

जीव संकोच-विकोच करता है

वास्तव में जीव शरीरव्यापी है। जिस जीव को वडा, छोटा, जैसा भी शरीर मिलता है, वह उसी में व्याप्त होकर रहता है। जो जीव हाथी जैसे विशाल शरीर मे रहता है, वही जीव चीटी या उससे भी वहुत छोटे प्राणी के शरीर भी रह जाता है। आप पूछेगे, क्या जीव छोटे और वड़े होते है ? नही, जीवो मे छोटे-वड़े का कोई भेद नही होता। सभी जीव असंख्येयप्रदेशात्मक होते है। पर जिसको जैसा शरीर मिलता है, वह उसीमे व्याप्त हो जाता है। यदि जीव को हाथी का शरीर मिला तो वह हाथी के शरीर मे व्याप्त हो जाता है और यदि चीटी या कुंथुआ का शरीर मिला तो वह उसमे व्याप्त हो जाता है। शरीर के छोटे-वड़े होने से उसके व्याप्त होने मे कोई फर्क नहीं पड़ता। क्योकि जीव का संकोच और विकोच का स्वभाव है।

आप इस वात को स्थूल उदाहरण से समझ सकते है। एक व्यक्ति के पास वहुत वड़ा मकान है। उस मकान मे दसियो-वीसियो कमरे है। खाने का कमरा अलग, सोने का कमरा अलग, पढ़ने का कमरा अलग.........।

वही व्यक्ति बम्बई या कलकत्ता जैसे बडे शहर मे जाता है तो एक छोटे-से कमरे मे ही रह जाता है। खाना, पीना, सोना, अध्ययन आदि उसके सारे कार्य उसी एक कमरे में होने लगते है। मैंने देखा है—एक-एक छोटे कमरे में परिवार के आठ-आठ, दस-दस सदस्य रहते हैं। उनके सभी काम वहीं पर अच्छी तरह से होते हैं। हम साधु लोग हैं। हमे कभी बड़ा भवन मिल जाता है तो उसमे फैलकर रह जाते हैं और कभी एक दो झोपड़े मिलते हैं तो उनमें भी आराम से रह जाते हैं। क्षेत्र की संकीर्णता या विशालता हमारे आवश्यक कार्यों मे बाधक नही बनती। इसी प्रकार जीव को भी यदि बड़ा शरीर मिलता है तो वह उसमे व्याप्त होकर रहता है और छोटा शरीर मिलता है तो वह उसमे व्याप्त होकर रह जाता है। यह सब संकोच और विकोच के कारण है। संकोच और विकोच पुद्गल भी करता है। पर पुद्गल और जीव दोनों की संकोच शक्ति में अन्तर है। पुद्गल जहां संकुचित होकर लोकाकाश के एक प्रदेश परिमाणवाले क्षेत्र मे व्याप्त हो सकता है, वहां जीव अधिक-से-अधिक लोकाकाश के असंख्येयप्रदेशात्मक असंख्यातवें भाग मे ही सकुचित हो सकता है। लोकाकाश के एक से लेकर संख्येयप्रदेश तक के क्षेत्र मे वह नही रह सकता।

पुद्गल के संकोच-विकोच को समझने के लिए मैंने कल प्रकाश का उदाहरण दिया था। वह उदाहरण जीव के संकोच-विकोच को समझने के लिए भी काम मे आ सकता है। आपने एक दीपक जलाया। उस पर आपने एक ढक्कन रख दिया। परिणामतः उस दीपक का प्रकाश उस ढक्कन के अन्दर-अन्दर संकुचित हो गया। आपने ढक्कन हटा लिया और प्रकाश सारे कमरे में फैल गया। इसी प्रकार जीव को छोटा शरीर मिलता है तो वह अपने आत्मप्रदेशो को संकुचित करके रह जाता है और विशाल शरीर मिलता है तो आत्मप्रदेशों को फैला कर रह जाता है।

भवभ्रमण का हेतु

इस संदर्भ मे यह जान लेना भी प्रासगिक है कि मनुष्य सदा मनुष्य ही नही रहता। इस जन्म मे मनुष्य है तो अगले जन्म में वह देव भी बन सकता है, नारक भी हो सकता है। पशु-पक्षी और पेड़-पौधों के जीव भी सदा उसी योनि मे रहेगे, यह जरूरी नही है। आज जो पशु है, कल वह मनुष्य या पेड़-पौधे का शरीर भी धारण कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक जीव संसार की विभिन्न योनियों में चक्र लगाता रहता है। आप पूछेंगे, जीव को विभिन्न योनियो में कौन भेजता है। ? न्यायाधीश कौन है ? न्यायाधीश है— स्वकृत कर्म। यद्यपि कर्म स्वयं में जड़ हैं पर उन्हें करने-वाला चेतन प्राणी है। वह उनमे शक्ति भर देता है, इसलिए वे जड़ होते

हुए भी समय पर अपना फल देते हैं। टाइम बम को आप जानते होगे। वह जड़ है। पर चेतन उसमे शक्ति भर देता है और वह ठीक समय पर विस्फोट करता है। यह टेपरिकार्डर आपके सामने है। क्या यह जड़ नही है? पर चेतन इसमें आवाज के रूप में शक्ति भर देता है। अब जब भी इसे चलाया जाता है, यह चेतन की तरह आवाज करने लगता है। हां, तो मैं कह रहा था कि कर्म जड़ हैं पर वे चेतन को फल भुगताने में समर्थ हो जाते है। इन कर्मों के कारण जीव विभिन योनियो मे परिभ्रमण करता हुआ छोटे-बड़े शरीर को धारण करता है।

आहारक लब्धि

हमारे शास्त्रो मे आहारक लब्धि का वर्णन आया है। लब्धिधारी साधु उसका कभी-कभी प्रयोग कर लेते है। कल्पना कीजिए मुनि बैठे है और किसी ने उनसे कोई प्रश्न पूछा। प्रश्न इतना गहरा है कि उसका उत्तर उनको आता नही। अब मुनि सोचते हैं—मेरा यहां इतना सम्मान है, लोग मुझे बहुत बड़ा ज्ञानी मानते है, इस स्थिति मे यदि मै प्रश्न का उत्तर नही दे सकूंगा तो यह प्रश्नकर्त्ता मुझे क्या समझेगा? इस प्रतिष्ठा या अहंकार को सुरक्षित रखने के लिए लब्धिधारी मुनि अपने शरीर से एक हाथ का एक पुतला निकालते है। उस पुतले मे इतनी शक्ति होती है कि वह बड़े-बड़े पहाड़ों और समुद्रों के बीच से चला जाता है। कही रुकता नही। सैकड़ो-हजारो मील की दूरी पार कर वह वहां पहुंचता है, जहां केवलज्ञानी विराजित हैं। उनसे उस प्रश्न का जवाब लेकर वह वापस आता है और मुनि के शरीर मे प्रवेश कर जाता है। मुनि उसके उत्तर के आधार पर प्रश्नकर्त्ता को समाहित करते हैं। पुतला यह काम इतनी त्वरित गति से और इतने अल्प समय मे सम्पन्न करता है कि प्रश्नकर्त्ता को यह पता भी नही चल पाता कि मुनिश्री को इस प्रश्न का उत्तर नही आता या उन्होंने इसके उत्तर देने में तनिक भी विलम्ब किया है। उसे तो ऐसा ही महसूस होता है कि मैंने प्रश्न पूछा और मुनि महाराज ने मेरे प्रश्न का तत्काल समाधान दे दिया।

यहा प्रश्न उठ सकता है कि मुनि जब शरीर से पुतला निकालते हैं, तब आत्मा कहां रहती है? शरीर मे या पुतले मे? इसका समाधान यह है कि आत्मा मुनि के मूल शरीर और पुतले दोनो मे ही रहती है। आप कहेगे, पुतला तो मूल शरीर से सैकड़ो- हजारो मील दूर भी हो सकता है, फिर दोनो में आत्मा कैसे? वास्तव मे आत्मा के प्रदेश उस समय फैल जाते हैं और मूल शरीर से लेकर पुतले तक (चाहे वह कितनी भी दूर क्यों न हो) उनका एक तांता लग जाता है। बीच का एक प्रदेश भी आत्मप्रदेश से रहित नही रहता।

सूत्रों में बताया गया है कि तीव्र बीमारी, तीव्र क्रोध, लब्धि-प्रयोग (समुद्घात) आदि के समय आत्मा शरीर से बाहर निकलती है। उत्कृष्ट रूप मे एक आत्मा पूरे लोकाकाश मे व्याप्त हो सकती है।

काल की अवगाहना

जीव की अवगाहना को जानने के बाद अब हम काल की अवगाहना को समझें।

कालः समयक्षेत्रवर्ती।

समयक्षेत्रम्—मनुष्यलोकः। तत्रैव सूर्यचन्द्रप्रवर्तितो व्यावहारिकः कालो विद्यते। नैश्चयिकस्तु प्रतिद्रव्यं वर्तते तेन तस्य सर्वव्यापित्वम्।

काल को जैन दर्शन मे केवल समयक्षेत्रवर्ती माना गया है। समय क्षेत्र यानी मनुष्यलोक। जम्बूद्वीप, घातकीखण्ड और अर्धपुष्कर—इन ढाई द्वीपों तथा लवणोदधि एवं कालोदधि—इन दो समुद्रों को मिलाकर मनुष्य-लोक बनता है। समय केवल इस मनुष्यलोक में ही है। सूर्य और चन्द्र द्वारा प्रवर्तित दिन, रात, मास, वर्ष आदि सब मनुष्यलोक मे ही होते हैं। क्योंकि सूर्य और चन्द्र मनुष्यलोक मे ही गतिमान होते है। मनुष्यलोक के बाहर गतिमान नही होते। अतः मनुष्यलोक के बाहर ऐसा कोई काल का विभाग नही है। इस अपेक्षा से मनुष्यलोक को समयक्षेत्र कहा गया है।

इस संदर्भ मे एक बात और समझ लेनी आवश्यक है। काल दो प्रकार का है—व्यावहारिक और नैश्चयिक। दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष ·······व्यावहारिक काल के भेद है। नैश्चयिक काल का अर्थ है—वर्तमान। यहां काल को जो मनुष्यलोकवर्ती कहा गया है, वह व्यावहारिक काल की अपेक्षा से है। नैश्चयिक काल तो लोक और अलोक मे सर्वत्र व्याप्त है।

गंगाशहर
३ अगस्त, १९७८

गुण क्या है?

छह द्रव्यों का विवेचन चल रहा है। गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहा जाता है—यह मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं। दूसरे शब्दो मे जिसमें गुण और पर्याय दोनों विद्यमान हों, वह द्रव्य है। आज हमें यह समझना है कि गुण किसे कहते हैं।

सहभावी धर्मो गुणः।

'एगदव्वस्सिआ गुणा' इत्यागमवचनात् गुणो गुणिनमाश्रित्यैव अवतिष्ठते, इति स द्रव्यसहभावी एव।

द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहा जाता है। संसार के हर पदार्थ का कुछ-न-कुछ अपना धर्म होता है। 'धर्म' शब्द विभिन्न सन्दर्भों मे विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ मे वह स्वभाव के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

सहभावी धर्म क्या है?

धर्म के दो प्रकार हैं—सहभावी और परभावी। पदार्थ के निरन्तर साथ रहनेवाले धर्म को सहभावी धर्म और कभी-कभी साथ रहनेवाले धर्म को परभावी धर्म कहा गया है। सहभावी धर्म द्रव्य से कभी भी अलग नही होता। आप पूछेंगे, ऐसा क्यो? आगम में इसका समाधान देते हुए कहा गया है—'एगदव्वस्सिआ गुणा' अर्थात् गुण एक मात्र द्रव्य के आश्रित होकर ही रहते हैं। द्रव्य के विना उनका कोई अस्तित्व ही नही है। द्रव्य है तो गुण है, द्रव्य नही तो गुण भी नही। उष्णता अग्नि का सहभावी धर्म है। अग्नि समाप्त हो गई तो उष्णता भी समाप्त हो गई। यह कभी भी संभव नही कि अग्नि तो समाप्त हो जाए और उसका सहभावी धर्म—उष्णता शेष रह जाए। इसलिए द्रव्य के सहभावी धर्म को गुण कहा गया है।

प्रश्न होगा, भूख, प्यास, वासना आदि मनुष्य और पशु के सहभावी धर्म हैं या नही? यह ठीक है कि ये सब बातें मनुष्य और पशु के साथ रहती हैं। पर इन्हे हम सहभावी धर्म नही कह सकते। क्योंकि ये निरन्तर साथ नही रहती। भरपेट भोजन करने के बाद क्या भूख शेष रहती है?

वासना भी आदमी को सदा नहीं सताती। प्रसंग उपस्थित होने पर ही वह अपना उन्माद दिखलाती है। सहभावी धर्म में 'कभी है' और 'कभी नहीं' की स्थिति नही होती।

जीव का स्वभाव

कुछ लोग कह दिया करते है कि क्रोध तो जीव का सहज स्वभाव है। पर वास्तव मे क्रोध जीव का सहज स्वभाव नही है। क्रोध जीव मे होता है, इसलिए भाव तो है, पर वह विकृत भाव/विभाव है, स्वभाव नही। प्रश्न है, तब स्वभाव क्या है? जीव का स्वभाव है—चेतना। चेतना के बिना चेतन/जीव नही हो सकता। दुःख में, सुख में, बुढापे में, बीमारी में—जीव की हर स्थिति मे चेतना अनिवार्यरूपेण मौजूद रहेगी। 'गुणो गुणिनं विहाय न तिष्ठति' अर्थात् गुण त्रिकाल में भी गुणी को छोड़कर नही रह सकता। आप निश्चित मानें, गुण गुणी के सिवाय अन्यत्र कही भी प्राप्त नहीं हो सकता। न तिजोरियो मे मिल सकता, न भण्डारो मे मिल सकता और न ही बाजार और दुकानों मे ही मिल सकता। यानी उसका एक मात्र मिलने का स्थान वह गुणी ही है।

धर्म और धार्मिक

मैं बहुधा कहा करता हूं कि धर्म धार्मिक के जीवन में ही वास करता है। यदि वह धार्मिक के जीवन में नही है तो फिर कहीं भी नहीं है। पर आज कठिनाई यह हो गई है कि वह धर्मस्थलों और धर्मशास्त्रों में समा गया है। धार्मिक के जीवन से उसका सम्बन्ध कटता-सा चला जा रहा है। यह स्थिति धर्म के विकास मे सबसे बड़ी बाधा बनी है। मेरा दृढ विश्वास है कि जब तक धर्म धार्मिक के जीवन मे नही आता, तब तक वह मानव समाज का अपेक्षित हित कभी भी नही कर सकता।

आप देखे, काला, लाल, पीला, सफेद आदि जितने भी रंग है, वे सब किसी न किसी पदार्थ मे मिलते हैं। पदार्थ के बिना उसका कही कोई अस्तित्व नही है। हम मिठास को ही ले। वह कहां है? क्या वह बिना पदार्थ कहीं मिलती है? नही, ऐसा कभी भी नही होता। मिठास होगी तो गुड़, चीनी, मिश्री, दूध........मे ही होगी। केवल मिठास कभी नही हो सकती। द्रव्य का आधार उसको अवश्य चाहिए। हां, यह दूसरी बात है कि द्रव्य के रस मे, रंग मे कालान्तर से परिवर्तन आ जाए। जो वस्तु आज मीठी लगती है, वह कुछ दिनो पश्चात् खट्टी या कड़वी भी हो सकती है। इसी प्रकार आज जो कपड़ा सफेद दिखाई देता है, वह कुछ दिनो पश्चात् पीला या काला भी हो सकता है। पर इस परिवर्तन के बावजूद भी वह द्रव्य तो रहेगा ही।

गुण के प्रकार

सामान्यो विशेषश्च ।

द्रव्येषु समानतया परिणतः सामान्यः ।

व्यक्तिभेदेन परिणतो विशेषः ।

गुण के दो प्रकार हैं—

१. सामान्य ।

२. विशेष ।

सभी द्रव्यों में समान रूप से पाया जानेवाला सहभावी धर्म सामान्य गुण कहलाता है । एक-एक द्रव्य में पाया जानेवाला सहभावी धर्म विशेष गुण कहलाता है । उदाहरणार्थ—संसार के जितने भी मनुष्य है, उनमें मनुष्यता सामान्य गुण है । पर किसी व्यक्ति का विवेक कम जागृत होता है और किसी का अधिक । कोई बहुत क्षमावान् होता है, तो किसी में सहन-शक्ति बहुत कम होती है । ये विशेष गुण हैं ।

सामान्य गुण के प्रकार

अस्तित्व-वस्तुत्व-द्रव्यत्व-प्रमेयत्व-प्रदेशवत्त्व-अगुरुलघुत्वादिः सामान्यः ।

विद्यमानता—अस्तित्वम् ।

अर्थक्रियाकारित्वम्—वस्तुत्वम् ।

गुणपर्यायाधारत्वम्—द्रव्यत्वम् ।

प्रमाणविषयता—प्रमेयत्वम् ।

अवयवपरिमाणता—प्रदेशवत्त्वम् ।

स्वस्वरूपाविचलनत्वम्—अगुरुलघुत्वम् ।

सामान्य गुण के छह प्रकार माने गए है—

१. अस्तित्व ।

२. वस्वत्व ।

३. द्रव्यत्व ।

४. प्रमेयत्व ।

५. प्रदेशवत्त्व ।

६. अगुरुलघुत्व ।

अस्तित्व

हर द्रव्य की अपनी स्वतंत्र सत्ता है । द्रव्य त्रिकाल में भी कभी नष्ट नहीं हो सकता । यह त्रैकालिक अस्तित्व जिस गुण के कारण होता है, वह अस्तित्व कहलाता है ।

हमें यह बात गहराई से समझनी चाहिए कि कोई पदार्थ हमारी दृष्टि से ओझल तो अवश्य हो सकता है, पर उसका अस्तित्व कभी भी नष्ट नहीं

हो सकता। आप कहेंगे, यह बात तर्कसंगत नही है। क्योकि हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि आदमी देखते-देखते मर जाता है। यह ठीक है कि आदमी मरता है और ऐसा लगता है कि वह समाप्त हो गया। पर वास्तव मे ऐसा कुछ भी नही होता। मौत के पश्चात् भी आत्मा का अस्तित्व ज्यों-का-त्यो विद्यमान रहता है। केवल वह अपना घर या स्थान का परिवर्तन कर लेती है। आप स्थूल उदाहरण से समझें। आपके गंगाशहर के सैकड़ों-हजारो आदमी यहां से बाहर बंगाल, बिहार, आसाम आदि प्रान्तों में चले गए। वहा जाने से उनके मकान बदल गए, फिर भी उनका अस्तित्व तो विद्यमान है ही। ठीक यही बात मृत्यु के समय होती है। आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। इस शरीर-परिवर्तन का नाम ही मृत्यु है। वस्तुतः आत्मा अमर हैं। और जो अमर है उसकी मौत कैसी ? इस संदर्भ में इतना और समझ लें कि आत्मा अमर है, इसका तात्पर्य यह नही कि पुद्गल नाशवान् हैं। पुद्गल भी अमर है। आत्मा कभी पैदा नही होती तो पुद्गल भी कभी पैदा नही होते। केवल उनकी पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। पर पर्याय-परिवर्तन तो आत्मा में भी होता है। इसलिए आप इस भ्रान्ति में न रहें कि पुद्गल नाशवान् है और आत्मा अमर है।

आप पूछेंगे, जब आत्मा भी अमर है और पुद्गल भी अमर हैं, तब मौत किसकी होती है ? नष्ट कौन होता हैं ? नष्ट वही होता है, जो पैदा हुआ है। जीव और शरीर दोनें ही पैदा नही होते। पैदा होता है मात्र जीव और पुद्गल (शरीर) का संयोग। तात्त्विक दृष्टि से जीव और पुद्गल के संयोग का नाम ही जन्म हैं। जब यह संयोग नष्ट हो जाता है तो उसे हम मौत कह देते है। अब आपके सामने यह स्पष्ट हैं कि मौत के समय आत्मा और शरीर दोनों ही नष्ट नहीं होते। नष्ट केवल दोनों का सयोग होता है। वियोग तभी है, जब संयोग है। संयोग नही तो वियोग भी नही। जब आत्मा और पुद्गल दोनो ही शाश्वत हैं, तब भी मृत्यु के समय लोग रोते हैं, यह एक आश्चर्य है ! आत्मा यहां से छूटकर स्थूल शरीर के रूप में दूसरे पुद्गलों को ग्रहण कर लेती है और छोड़े हुए पुद्गल (स्थूल शरीर) दूसरी पर्यायों में परिवर्तित हो जाते है। फिर यह रोना, धोना किसके लिए ? कोई अपनी माता को रोता है, कोई पिता को, कोई भाई को कोई......। पर कटु सत्य तो यह है कि सब अपने-अपने स्वार्थ को रोते हैं। जाने वाले व्यक्ति के साथ सबके अपने-अपने स्वार्थ जुड़े होते हैं। जब कोई व्यक्ति चला जाता है तो अनेक व्यक्तियों के स्वार्थ उसके साथ चले जाते है, इसलिए वे उसके पीछे आंसू बहाते है।

धार्मिक व्यक्ति की पहचान है कि वह किसी की मौत पर कभी रोता नही। सभी स्थितियों मे वह अपने आप को सभाल कर रखता है। मेरे देखते-

देखते मेरे हृदय-सम्राट् अराध्यदेव, पूज्य गुरुदेव कालूगणी चले गए। आज भी वह दृश्य मेरी आंखो की पुतलियों में ज्यों-का-त्यों नाच रहा है। सूर्यास्त से थोड़ा पहले का समय। मैं हाथ में दवा का पुड़िया लिए खड़ा हूं। पर आप अनशन कर लेते है और कुछ ही देर मे हमें सदा-सदा के लिए छोड़ कर चले जाते हैं। एक क्षण के लिए मुझे उस समय गहरा धक्का लगता है। मेरे लिए पूज्य गुरुदेव से बढकर संसार में और कौन था ? क्योकि आपसे मैंने ज्ञान पाया चिन्तन पाया, पथ-दर्शन पाया और जीवन पाया। निश्चय ही ऐसी स्थिति में गुरुदेव का एकाएक हमें छोड़कर चले जाना आघातकारी था, फिर भी मैंने अपने आप को संभालकर रखा। उसके परिणामस्वरूप मेरी आंखे जरा भी गीली नही हुईं। मैंने सोचा—संयोग के साथ वियोग, जन्म के साथ मौत जुड़ी हुई है। कोई भी व्यक्ति इसका अपवाद नही हो सकता। तव दु:ख करना व्यर्थ है। वन्धुओ! सामान्य प्राणियों की तो हम वात ही छोड़े, तीर्थंकर भगवान को भी एक दिन इस शरीर को छोड़कर जाना होता है। ऐसी स्थिति में हम किस-किस की मौत के लिए आंसू वहाएं।

वस्तुत्व

जिस गुण के कारण द्रव्य कोई न कोई अर्थक्रिया अनिवार्यरूप से करे, वह गुण वस्तुत्व कहलाता है। आप इस वात को सिद्धान्त रूप मे समझ लें कि संसार में हर पदार्थ कुछ-न-कुछ क्रिया अवश्य करता है। यदि क्रिया नही है तो वह पदार्थ नही है। यह अलग वात है कि किसी पदार्थ की क्रिया हमें दृष्टिगोचर होती है और किसी पदार्थ की नही भी होती। पर दृष्टि-गोचर हो या न हो, पदार्थ होगा तो क्रिया होगी ही। कोई भी पदार्थ इसका अपवाद नही हो सकता।

मेरे मन मे वहुत वार यह प्रश्न उभरता है, जव संसार का प्रत्येक प्राणी/पदार्थ क्रिया करता है तो मनुष्य निष्क्रिय और निठुला क्यों रहता है ? आप देखें, ये जरा-जरा-सी चीटियां भी दिन भर सक्रिय रहती हैं। सव मिल-जुलकर अपना घर वनाती है, खाद्य पदार्थों का संग्रह करती है। कहा जाता है कि कोई भी चीटी काम किए बिना नही रह सकती। यदि कोई एक-दो चीटियां चाहें कि हम कार्य नही करेगी तो उन्हे दूसरी चीटियां तत्काल मार देती है। उन्हे जीवित नही रहने देती। मेरे कथन का आशय यही है कि द्रव्य के साथ क्रिया अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है।

द्रव्यत्व

जिस गुण के कारण द्रव्य सदा नई-नई पर्यायो को धारण करता है, द्रव्य का वह सामान्य गुण द्रव्यत्व कहलाता है। दूसरे शब्दों मे हम कह सकते हैं कि द्रव्यत्व द्रव्य में होनेवाले परिणमन का आधार है। यदि द्रव्यत्व न हो तो

और अधर्म धर्म नहीं बनता। क्योंकि द्रव्य में एक ऐसा गुण है, जो उन्हें अपनी सीमा को छोड़कर दूसरे को सीमा में जाने से बराबर रोके रखता है।

हम व्यवहार में देखते है कि विभिन्न सम्प्रदायों के लोग साथ-साथ रहते है पर रहते है अपने-अपने सम्प्रदाय में ही। अपना सम्प्रदाय छोड़कर दूसरे सम्प्रदाय में नही जाते और तब तक नही जाते जब तक उनका विश्वास अपने सम्प्रदाय के सिद्धातों में बना है। यह विश्वास एक ऐसा गुण है, जो लोगों को अपने सम्प्रदाय को छोड़ कर दूसरे सम्प्रदाय में जाने से रोके रखता है। जिस दिन यह विश्वास समाप्त हो जाता है, उस दिन वह अपना सम्प्रदाय छोड़कर दूसरे सम्प्रदाय में भी जा सकता है।

प्रसंग आचार्य भिक्षु का

आचार्य भिक्षु के पास कुछ दिगम्बर भाई आए और उन्होने कहा—"आपके विचार बहुत क्रान्तिकारी हैं। आपका आचार निर्मल है। आपकी प्रतिभा विलक्षण है। आपकी तार्किक शक्ति अपराजेय है। तत्काल प्रश्नों के उत्तर देने की कला का तो कहना ही क्या! यदि आप एक बात हमारी मान लें तो हम सब आपके अनुयायी बन जाएं।"

"क्या ?"—प्रश्नायित नयनों से आचार्य भिक्षु मुखर हुए।

"आप कपड़े रखते हैं, यह उचित नही। अतः आप कपड़े रखना छोड़कर दिगम्बरत्व स्वीकार कर ले।"—समागत भाइयों ने अपना अभिप्राय स्पष्ट किया।

उनकी बात सुनकर आचार्य भिक्षु तनिक भी उत्तेजित नही हुए। उन्होंने उन्हें अत्यन्त मधुर उत्तर दिया—"भाइयो! मैंने धन छोड़ा, मकान छोड़ा, परिवार छोड़ा और सारा संसार छोड़ा, इसलिए कपड़े छोड़ने में मुझे कोई आपत्ति नही। पर एक कठिनाई है कि मैंने श्वेताम्बर शास्त्रों के आधार पर दीक्षा अंगीकार की है। उन शास्त्रों पर मेरा दृढ़ विश्वास है। उनमे साधु के लिए निर्दिष्ट प्रमाण युक्त कपड़ा रखने का विधान है। इसलिए मैं वस्त्र रखता हूं। हां, जिस दिन श्वेताम्बर शास्त्रों से मेरा विश्वास हट जाएगा और दिगम्बर शास्त्रों में विश्वास हो जाएगा, उस दिन मैं कपड़े रखने का तनिक भी आग्रह न करता हुआ तत्काल दिगम्बर बन जाऊंगा।"

बन्धुओ! यह विश्वास ऐसा तत्व है, जो मनुष्य को बांधे रखता है। हम देखते है कि एक घर में दसियो-बीसियों व्यक्ति रहते हैं। उनका दूसरे-दूसरे परिवारों और समाज के लोगों से सम्पर्क होता रहता है। पर कोई भी अपने घर या परिवार को छोड़ कर दूसरे घर या परिवार मे नही जाता। क्योकि घर या परिवार के सदस्य स्नेह के धागे से बंधे होते है।

जब तक यह स्नेह का धागा नही टूटता, तब तक कोई भी घर या परिवार का सदस्य अपना घर या परिवार छोड़कर दूसरे के साथ सम्बन्धित नहीं हो पाता। पति-पत्नी का सम्बन्ध उम्र भर क्यों बना रहता है? कारण स्पष्ट है। दोनो प्रगढ़ स्नेह के सूत्र से बंधे हुए होते हैं।

अपना-अपना अस्तित्व

यही बात है द्रव्य के सम्बन्ध में। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सत्ता स्वीकार नही करता, क्योंकि अगुरुलघुत्व ऐसा गुण है, जो अपनी सीमा मे बांधे रखता है। दूसरे की सत्ता को स्वीकार करने के लिए बराबर रोकता रहता है। आप गौर से देखे, जैन सिद्धान्त, नही-नही सिद्धान्त यह कहत है कि कोई भी द्रव्य कभी अपनी सत्ता को छोड कर दूसरे द्रव्य की सत्ता को स्वीकार नही करता।

सिद्धशिला मे, जहां सिद्धात्माए रहती है, संसारी आत्माओ की भी कोई कमी नही है। हां, स्थूल शरीरवाले प्राणी वहा नही है, पर सूक्ष्म शरीर वाले प्राणी तो वहां भरे पडे है। इसके साथ ही बाहर वायुकाय के जीव भी वहां भरे पडे है। और वे जीव इस प्रकार भरे हुए है, जैसे काजल की कोटड़ी मे काजल। मैं आपको यहां यह बताना चाहता हूं कि वहां न तो संसारी आत्माएं कभी भी अपने अस्तित्व को छोड़ कर सिद्धात्मा की सत्ता को स्वीकार करती है और न ही सिद्ध आत्माए संसारी आत्मा के अस्तित्व को।

हम आत्मा की बात छोड़े। लोक मे एकप्रदेशी (परमाणु), द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी······संख्येयप्रदेशी, असख्येयप्रदेशी, अनन्तप्रदेशी पुद्गल भरे पड़े है। पर त्रिकाल मे भी न कोई पुद्गल जीव बनता है और न ही जीव पुद्गल। दोनों ही अपनी-अपनी स्वतत्र सत्ता बनाए रखते है। एक-दूसरे की सत्ता को स्वीकार नही करते।

हमारी आत्मा (संसरी आत्मा) कर्मो से सम्बन्धित है। कर्म पुद्गल है। पर कर्म कभी आत्मा नही बनते और आत्मा कर्म/पुद्गल नही बनती। हां, प्रभाव एक-दूसरे पर डाला जा सकता है। पर यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नही है। आप लोक-व्यवहार को ही देखे। क्या कोई पड़ोसी अपने पड़ोसी पर प्रभाव नही डालता है? क्या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को प्रभावित नही करता है? क्या एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र प्रभावित नही होता है? पर प्रभाव डालने या प्रभावित होने का अर्थ अपनी सत्ता को छोड़कर दूसरे की सत्ता को स्वीकार करना नही है। कर्म पुद्गल हमारी आत्रा को प्रभावित करते है और आत्मा कर्म पुद्गलो को प्रभावित करती है। पर हर स्थिति में वे रहते है अपने-अपने अस्तित्व मे ही। द्रव्य का जो गुण अपने

अस्तित्व को वनाए रखता है, वही है—अगुरुलघुत्व । मैं इस वात को भिन्न-भिन्न प्रकारो से और वार-वार वता रहा हूं, इसका उद्देश्य इतना-सा ही है कि मुझे सरलता से तत्त्व को हृदयंगम करवाना है ।

आत्मा पुरुषार्थ क्यों करे ?

कुछ लोगो की (सांख्य मतावलम्वियो की) ऐसी मान्यता है कि आत्मा सदा शुद्ध स्वरूप मे ही रहती है । उसके कर्मो का वन्धन नही होता । तव प्रश्न होता है, आत्मा को कौन वांधता है ? इसका समाधान वे यह देते है कि विशुद्ध आत्मा से प्रकृति का सम्वन्ध होता है । (कर्म को वे प्रकृति के रूप में स्वीकार करते है ।) प्रकृति का कोई वन्धन नही होता । सांख्य मतावलम्वियों के अतिरिक्त कुछ जैनो की भी ऐसी मान्यता है । पर हमारे अनुभव से यह वात सही नहीं है । क्योंकि यदि कर्मो के ही कर्मो का वन्धन है, आत्मा के कर्म का वन्धन नही है तो आत्मा कर्मो को काटने के प्रयास ही क्यो करे ? कर्मों को ही उन्हें काटने के लिए पुरुपार्थ करना चाहिए । पर हम प्रत्यक्ष देखते है कि कर्म कभी भी कर्मो को काटने के लिए पुरुपार्थ नही करते । त्याग, तप, ध्यान, स्वाध्याय, आदि के द्वारा कर्मो को काटने का जो भी प्रयास होता है, वह सव आत्मा के द्वारा ही होता है । आप व्यापारी हैं । आपसे मै पूछना चाहता हूं कि कर्ज कौन चुकाता है ? कर्ज वही चुकाता है, जो कर्जदार है । जिसके कर्ज ही नही, उसके कर्ज चुकाने की वात वेमानी है । जव यह कहा जाता है कि आत्मा के कर्मो का वंधन होता ही नही तो फिर आत्मा उन्हे काटने का प्रयत्न किस न्याय से करे ? पर आत्मा कर्मो को तोड़ने का प्रयत्न करती है । इससे यह वात सर्वथा अयथार्थ सावित होती है कि आत्मा के कर्मों का वधन नही होता ।

सम्वन्ध और वन्धन

मैं उनसे (सांख्य मतावलम्वियों से) एक वात और पूछना चाहता हू, आत्मा कर्मो से जुड़ी है या नही ? वे कहेगे, जुड़ी है । और अव आत्मा कर्मों के साथ जुड़ी है तो यही वंधन है । वंधन का अर्थ दोनों का एक रूप होना नही, सवध होना है । वहिन भाई के हाथ पर राखी वांधती है । क्या राखी से भाई-वहिन एक साथ जुड़ जाते है ? नही जुड़ते । पर परस्पर सवध हो जाता है । यह सवंध ही. रक्षा का वंधन हो जाता है । यही वात यहां समझने की है । सांख्य मतावलम्वी भी कहते है कि प्रकृति के साथ आत्मा का वंधन नही, केवल सम्वन्ध होता है । मैं नही समझता, यदि प्रकृति और आत्मा का वन्धन नही होता तो फिर सम्वन्ध कैसे ? और जव सम्वन्ध हीं नही तो फिर उसे तोड़ने का प्रयास क्यों ?

इन सव वातों से आत्मा और कर्म का वन्धन विलकुल स्पप्ट दिखाई

पड़ता है। पर कठिनाई यह है कि मताग्रह के कारण यथार्थ को समझ कर भी व्यक्ति उसे स्वीकार नही कर पाता। व्यक्ति को यह बिलकुल साफ अनुभव होता है कि मैं गलती पर हूं फिर भी मताग्रह के कारण गलत बात को छोड़ कर वह यथार्थता को स्वीकार करने में हिचकिचाता है और गलत तत्त्व से चिपका रहता है।

शुद्ध अध्यात्म

कल ही मेरे सामने सैकड़ों की संख्या मे युवक बैठे थे। मैंने उनके बीच सामायिक की चर्चा की। सामायिक मे 'सावज्जं जोगं पच्चक्खामि' यानी सावद्य (सपाप) प्रवृत्ति का त्याग किया जाता है। निरवद्य—पापरहित /धार्मिक प्रवृत्ति का उसमे कोई त्याग नही होता। दिल खोल कर कोई भी निरवद्य प्रवृत्ति की जा सकती है। आप पूछेंगे, सामायिक मे पिताजी को नमस्कार करना या नही? नही करना। क्योकि यह व्यावहारिक नमस्कार है, आध्यात्मिक नमस्कार नही। सामायिक मे खाना-पीना आदि करना या नही? नहीं करना। क्योंकि यह सब सावद्य है। सामायिक मे सन्तो को दान देना या नही? अवश्य देना चाहिए। क्योकि यह निरवद्य प्रवृत्ति है। इस प्रकार की पचासो-सैकड़ो बातें पूछी जा सकती है। इन सबका एक ही जवाब है—जो प्रवृत्ति सावद्य है, वह नही की जा सकती और जो प्रवृत्ति निरवद्य है, उसे करने मे कोई कठिनाई नही।

कोई पूछ सकता है कि कोई बच्चा ऊपर से नीचे गिर रहा है और सामने एक व्यक्ति सामायिक लिए बैठा है, वह उस बच्चे को बचा सकता है या नही? इसका उत्तर नकारात्मक है। क्योकि यह सावद्य प्रवृत्ति है। यह केवल जैनधर्म की ही बात नही है, अपितु प्रायः सभी धर्मो मे शुद्ध अध्यात्म की भूमिका मे लगभग ऐसा-सा ही विधान प्राप्त है। मुसलमान लोग नमाज पढ़ते हैं। नमाज पढते समय यदि कोई मुसलमान भाई का बच्चा उसके सामने गिर रहा है तो विधानानुसार वह उसे बचाने के लिए बीच मे नही उठ सकता। क्योकि नमाज पढ़ने के समय उसका वह बच्चा है ही नही।

आप देखें, मूर्तिपूजक साधु-साध्विया और सामायिक मे मूर्तिपूजक श्रावक भी मूर्ति की पूजा नही कर सकते। ये सब ऐसी बातें हैं, जिन्हे शुद्ध अध्यात्म की भूमिका में ही समझा जा सकता है। जो लोग इस भूमिका में नही हैं, उन्हे ये बातें ठीक से समझ में नही आ सकती। पर किसी के समझ में आए या न आए तत्त्व तो तत्त्व ही है। मैं तो ऐसा मानता हूं कि थोडा-सा अपना दुराग्रह या मताग्रह छोड़कर आदमी इन्हें समझे तो समझ में आने में बहुत कठिनाई नही होती। पर मुश्किल तो यही है कि लोग अपनी पकड को नही छोडते। और जहां पकड होती है, वहां आदमी वास्तविकता को जानकर भी उसे स्वीकार नही कर पाता। हां, तो मैं कह रहा था

कि आत्मा के कर्मों का वंधन विल्कुल स्पष्टतया समझ मे आ सकता है । पर वैचारिक आग्रह के कारण लोग इस सत्य को अस्वीकार करने का असफल प्रयास करते हैं ।

एक विदेशी श्रावक

आत्मा के कर्म-वन्धन के सम्वन्ध में एक प्रश्न और पूछा जा सकता है । आत्मा अरूप है और कर्म पुद्गल रूपवान है, ऐसी स्थिति मे प्रारंभ मे अरूप आत्मा और रूपवान् कर्म पुद्गलो का परस्पर सम्वन्ध कैसे हुआ ? यह प्रश्न मेरे सामने सवसे पहले आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व आया था । इससे पहले न तो कभी मेरे सामने यह प्रश्न उपस्थित ही हुआ और न ही मैंने कभी इस पर चिन्तन ही किया । एक मजे की वात यह और है कि यह प्रश्न किसी तेरापंथी जैन या भारतीय विद्वान् के द्वारा नहीं, अपितु एक अंग्रेज विद्वान् द्वारा प्रस्तुत किया गया । उनका नाम था—डॉ० हर्वर्ट वारन् । जैन दर्शन के वे एक प्रकाड पण्डित थे । पर हमारे धर्मसंघ से उनका कोई सम्पर्क नही था और न ही उनके वारे मे हमे कोई जानकारी थी ।

मैं अभी नही ऊठूंगा

ऑक्सफार्ड यूनवर्सिटी के सस्कृत विभाग के प्रोफेसर डॉ० एफ०डब्ल्यू० थोम्स के माध्यम मे उनके वारे में हमे सर्वप्रथम जानकारी मिली । डॉ. थोम्स भी गजव के आदमी थे ! ज्ञानप्राप्ति की उनकी तड़प भारतीय विद्वानो के लिए अनुकरणीय है । जैन दर्शन के अध्ययन के लिए वे भारत आए थे । हमारे वारे मे उन्हे जानकारी मिली तो वे वीदासर में मेरे से मिलने आए । राजस्थान की भयंकर गर्मी और उसमें भी लू और धूलभरी आंधियां । एक ठन्डे मुल्क में रहनेवाले व्यक्ति के लिए इन परिस्थितियों मे रहना कितना कठिन होता है ! पर जैसाकि मैंने वताया, ज्ञानप्राप्ति की उनके दिल में इतनी गहरी तड़प थी कि ऊपर की इन छोटी-मोटी कठिनाइयों की उन्हे कोई परवाह नही थी । मुझे वहुत याद है—जव वीदासर से प्रस्थान कर हम पार्श्ववर्ती छोटे-से गाव—वेनाथा में गए तो वे वहां भी आए । घंटों-घटो उन्होने जैन दर्शन पर वहुत सूक्ष्म और गहरी चर्चा की । श्रावक दानचन्दजी चौपड़ा उस समय वही थे । उन्होने एक तम्वू मे उनके ठहरने की व्यवस्था की । अचानक सामने से आधी आने लगी । दानचन्दजी ने कहा—"साहव ! आपको यहां से उठना होगा, क्योकि आधी आ रही है ।" डॉ० थोम्स ने कहा—"नही, मैं अभी नही ऊठूगा । मुझे काम करने दें, मेरा दिमाग अभी काम कर रहा है । यदि तम्वू उडता है तो आप लोग इसे पकड़ कर रखें ।" इस एक उदाहरण से आप समझ सकते हैं कि उनके मन में ज्ञानप्राप्ति की कितनी गहरी तड़फ थी, कर्म के प्रति कितनी गहरी निष्ठा थी ।

हां, तो डॉ० थोम्स के साथ लम्बी चर्चा के बीच हमे डॉ० वारन् की जानकारी प्राप्त हुई। श्रावक शुभकरण दसानी ने पत्रों के माध्यम से उनसे सम्पर्क स्थापित किया। इस सम्पर्क से ज्ञात हुआ कि डॉ० वारन् का जैन दर्शन सम्बन्धी ज्ञान अत्यन्त ठोस है। यह जानकर तो आश्चर्य भी हुआ कि डॉ० वारन् एक पक्के जैन श्रावक है और उसमे भी बारहव्रती श्रावक है। सामायिक, पौषध आदि सभी जैन उपासना विधिवत् करते है। पर एक प्रश्न हुआ, ग्यारह व्रतो का तो वे पालन करते है पर बारहवे व्रत का पालन कैसे संभव है? क्योकि इस व्रत का पालन तो साधु को दान देने से ही हो सकता है और इंगलैड मे साधु है नही। जब उनको इस सम्बन्ध मे पूछा गया तो उन्होने लिखा—"मैं जब भोजन करने बैठता हूं तो पांच मिनिट तक पहले यह भावना करता हूं—साधुजी महाराज! आओ, पधारो, मेरा भोजन ग्रहण करो और मुझे कृतार्थ करो। इस प्रकार भावना करने के बाद मैं भोजन ग्रहण करता हू।" मुझे उनके इस उत्तर से बड़ा सतोष हुआ। साधु भिक्षा के लिए आएं या न आएं, यह कोई आवश्यक नही हैं पर श्रावक भोजन करने से पूर्व इस प्रकार भावना करे—यह प्राचीन पद्धति है।

डॉ० वारन् ने पत्रों के माध्यम से मेरे सामने जैन तत्त्वज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रश्न प्रस्तुत किए। उन प्रश्नो की लम्बी शृंखला मे उन्होने अमूर्त आत्मा का मूर्त कर्मों से सम्बन्ध का भी प्रश्न किया था। प्रश्न उपस्थित होने पर मैंने इस पर चिन्तन किया।

आप पूछेंगे, इस प्रश्न का आपने क्या समाधान दिया? मैंने समाधान दिया—आकाश अमूर्त है, फिर भी उसमें सभी मूर्त पदार्थ रहते है। ठीक इसी तरह अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्म पुद्‌गलो के सम्बन्ध को जाना जा सकता है।

हालाकि हमने यह उत्तर दे तो दिया पर हमें स्वय भी इससे सतोष नही था। हमने इस प्रश्न के समाधान के सदर्भ मे डॉ० वारन् के स्वय के चिंतन को जानना चाहा। हमारी भावना उन तक पहुची। उन्होने अपना चिन्तन प्रस्तुत करते हुए बताया—हम आत्मा को अमूर्त कहते है, पर अमूर्त है कहा? वह तो अनादिकाल से पुद्‌गलो के आश्रित होकर ही रह रही है। पुद्‌गलो का आश्रय या सम्बन्ध उसे एक अपेक्षा से पुद्‌गल बना देता है, मूर्त बना देता है। और यह मूर्त ही मूर्त का सग्राहक होता है। वैसे शुद्ध स्वरूप मे आत्मा अमूर्त है। उस अवस्था मे आत्मा मूर्त का ग्रहण नही करती। यह स्वरूप मुक्त अवस्था मे प्राप्त होता है। यही कारण है कि मुक्त आत्मा (सिद्ध) पर कभी कोई कर्म पुद्‌गल नही चिपकता। अतः हम यह मान सकते है कि मूर्त आत्मा के साथ ही कर्म पुद्‌गलो का सम्बन्ध होता है।

अगुरुलघुत्व की विवेचना करते-करते मैं और भी कई बातें कह गया। यद्यपि ये बातें विषय से सीधी सम्बन्धित तो नहीं हैं; तथापि ज्ञातव्य हैं। ज्ञातव्य बातों को भी प्रसंग आने पर बतलाना अत्यंत आवश्यक है, जिससे आप लोगों को विभिन्न विषयों की जानकारी हो सके।

गंगाशहर
५ अगस्त, १९७८

विशेष गुण : एक विमर्श

द्रव्य के सामान्य गुणो का विवेचन मैं पिछले दिनो अपने प्रवचन मे कर चुका हू। आज के प्रवचन में मैं विशेष गुणो की चर्चा करूंगा।

गतिस्थित्यवगाहवर्तनाहेतुत्व-स्पर्शरसगन्धवर्ण-ज्ञानदर्शन-सुखवीर्य-चेतनत्वाचेतनत्व-मूर्त्तत्वाऽमूर्त्तत्वादिर्विशेषः।

गत्यादिषु चतुर्षु हेतुत्वशब्दो योजनीयः।

एतेषु च प्रत्येकं जीवपुद्गलयोः षड्गुणाः, अन्येषां च त्रयो गुणाः।

स्पर्शः—कर्कशमृदुगुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षभेदादष्टधा।

रसः—तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात् पञ्चविधः।

गन्धो द्विविधः—सुगन्धो दुर्गन्धश्च।

वर्णः—कृष्णनीलरक्तपीतशुक्लभेदात् पञ्चधा।

द्रव्य का वह गुण, जो सभी द्रव्यों में समान रूप से प्राप्त नही होता, विशेष गुण कहलाता है। विशेष गुण सोलह प्रकार के हैं—

१. गतिहेतुत्व
२. स्थितिहेतुत्व
३. अवगाहहेतुत्व
४. वर्तनाहेतुत्व
५. स्पर्श
६. रस
७. गन्ध
८. वर्ण
९. ज्ञान
१०. दर्शन
११. सुख
१२. वीर्य
१३. चेतनत्व
१४. अचेतनत्व
१५. मूर्त्तत्व
१६. अमूर्त्तत्व

गतिहेतुत्व

जीव और पुद्गल की गति में जो अवश्यंभावी हेतुभूत/निमित्त बनता है, वह द्रव्य धर्मास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय के अभाव में कोई भी गत्यात्मक प्रवृत्ति नही हो सकती। यह गतिहेतुत्व धर्मास्तिकाय का विशेष गुण है। धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य मे यह गुण प्राप्त नही है। यद्यपि जीव और पुद्गल की गति में और भी अनेक कारणो का योग

होता है, पर मूलभूत निमित्त कारण धर्मास्तिकाय ही है। उदाहरणार्थ—यह कपड़ा हिल रहा है। इस हिलने की गत्यात्मक प्रवृत्ति में हवा भी कारण है। और भी अनेक कारण हो सकते है। पर मूलभूत कारण धर्मास्तिकाय ही है। यदि धर्मास्तिकाय का सहयोग न हो तो उपादान और निमित्त—दोनों कारणो की मौजूदगी के वावजूद भी कपड़ा कभी भी हिल नही सकता। इसलिए गतिहेतुत्व धर्मास्तिकाय का द्रव्य का विशेष गुण है।

स्तिथिहेतुत्व

जीव और पुद्गल के स्थिर रहने मे जो अवश्यंभावी हेतुभूत/निमित्त वनता है, वह अधर्मास्तिकाय है। यह स्थितिहेतुत्व अर्धास्तिकाय का विशेप गुण है। गति की तरह यो तो स्थिति मे भी दूसरे-दूसरे अनेक कारणों का योग होता है, पर मूलभूत निमित्त कारण अधर्मास्तिकाय ही है। अधर्मास्तिकाय के अभाव मे दूसरे सारे कारण उपस्थित होने के उपरात भी जीव या पुद्गल कभी स्थित नही रह सकता। मैं यहां वैठा हू। इसमे यह पट्ट भी कारण है। और भी कारण हो सकते है। पर इन सव से ऊपर है—अधर्मास्तिकाय। उसके सहयोग के विना मैं किसी भी स्थिति मे भी यहां नही वैठ सकता। इसी प्रकार कोई भी जीव या पुद्गल अधर्मास्तिकाय के अभाव में लोक मे कही स्थित नही रह सकता। इसलिए स्थितिहेतुत्व को अधर्मास्तिकाय का विशेप गुण माना गया है।

अवगाहहेतुत्व

जीव और पुद्गल को अवगाह/आश्रय/स्थान देना आकाश का विशेप गुण है। आकाश के अतिरिक्त और किसी भी द्रव्य मे यह गुण अप्राप्त है।

वर्तनाहेतुत्व

वर्तनाहेतुत्व काल का विशेप गुण है। हमारी जितनी भी प्रवृत्तियां चलती है या हम जिननी भी क्रियाएं करते है, उनमें काल हेतुभूत है। यदि काल नही हो तो कोई भी क्रिया नही हो सकती। कोई वस्तु नई से पुरानी वनती है, आदमी वच्चे से जवान वनता है और जवान से वूढ़ा वनता है—यह सव काल के कारण ही है। यदि काल वर्तन न करे तो कोई जवान न हो, कोई वूढा न हो। न कोई वस्तु नई हो और न पुरानी। काल के सिवाय वर्तन का गुण किसी भी अन्य द्रव्य मे प्राप्त नहीं होता।

स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण

स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये चार पुद्गल के विशेष गुण है।

कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये आठ प्रकार के स्पर्श हैं।

तिक्त, कटु, कषाय, आम्ल और मधुर—ये पांच रस हैं।

सुगन्ध और दुर्गन्ध—इन दो रूपो मे गंध को जाना जाता है।

कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत—ये पांच वर्ण के विभाग है।

ये सारी बातें पुद्गल के सिवाय किसी अन्य द्रव्य मे प्राप्त नही हो सकती।

ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य

ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—ये चारो बातें जीव मे प्राप्त होती है। जीव के अतिरिक्त अन्य किसी भी द्रव्य मे इनकी प्राप्ति नही है। अजीव मे भी शक्ति होती है और वह बहुत बड़े-बड़े काम भी करता है, पर उसमे ज्ञान नही, दर्शन नही, सुख की अनुभूति नही और सहज शक्ति नही।

ज्ञान और दर्शन को आप समझते है। सुख से भी आप परिचित है। पर यहां जिस सुख की बात कही गई है, वह आत्मानन्द है। जीव का यह विशेष गुण है। हर आत्मा में किसी-न-किसी रूप मे आत्मानद/सुखानुभूति अवश्य रहती है। शुद्ध आत्मा सर्वथा सुखमय होती है। सुख की तरह दुःख की अनुभूति भी सांसारिक आत्मा करती है। पर यह आत्मा/जीव का स्वभाव नही है। आत्मा अपने मूल स्वरूप मे किसी प्रकार के दु.ख का वेदन नही करती।

वीर्य सहज शक्ति का नाम है। हर जीव में अनन्त शक्ति सहज रूप से रहती है। आप कहेगे, हमे तो अपनी अनन्त शक्ति की अनुभूति नही होती। हां, ठीक है आपकी बात। आपको यह अनुभूति नही हो सकती। क्योकि आज वह शक्ति आवृत है। दबी हुई है। पूर्ण रूप से प्रकट नही है। उसका आंशिक रूप ही प्रकट हो पाया है। जिस दिन उसके आवरण दूर हो जाएगे, वह स्वयं प्रकट हो जाएगी। यह त्याग-तपस्या उसको अनावृत करने का ही उपक्रम है।

गगाशहर
७ अगस्त, १९७८

द्रव्य के विशेष गुण

द्रव्य के सोलह विशेष गुण माने गए हैं। इन सोलह विशेष गुणों में से बारह विशेष गुणों का सक्षिप्त विवेचन कल मैं कर चुका हूं। शेष चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व और अमूर्त्तत्व—इन चार विशेष गुणों के बारे में आज कुछ बताना चाहता हूं।

चेतनत्व

जिस विशेष गुण के कारण जीव चेतनायुक्त होता है, वह विशेष गुण चेतनत्व कहलाता है। जीव के सिवाय अन्य किसी भी द्रव्य में यह विशेष गुण नही है।

अचेतनत्व

जिस विशेष गुण के कारण धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय काल और पुद्गलास्तिकाय अचेतन हैं, वह विशेष गुण अचेतनत्व है। जीव में यह गुण अप्राप्त है।

मूर्त्तत्व

जिस विशेष गुण के कारण पुद्गल हमारी इन्द्रियों के विषय बनते है, वह विशेष गुण मूर्त्तत्व के नाम से पहचाना जाता है। पुद्गलास्तिकाय को छोड़कर शेष पांचो द्रव्यो—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और जीवास्तिकाय मे यह गुण नही होता।

अमूर्त्तत्व

जिस विशेष गुण के कारण पुद्गल के अतिरिक्त शेष पाचों द्रव्य हमारी इन्द्रियों के विषय नही बनते, वह विशेष गुण अमूर्त्तत्व है।

किस द्रव्य में कितने विशेष गुण ?

द्रव्य छह हैं और विशेष गुण सोलह है। कोई पूछ सकता है, किस-किस द्रव्य मे कौन-कौन-से विशेष गुण प्राप्त होते हैं ? जीव और पुद्गल मे छह-छह विशेष गुण प्राप्त होते है। शेष द्रव्यों में तीन-तीन विशेष गुण होते हैं।

धर्मास्तिकाय मे गतिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व—ये तीन विशेष गुण होते हैं।

अधर्मास्तिकाय में स्थितिहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व—इन तीन विशेष गुणों की प्राप्ति होती है।

आकाशास्तिकाय मे अवगाहहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व—ये तीन विशेष गुण पाए जाते हैं।

काल में वर्तनाहेतुत्व, अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व—इस तीन विशेष गुणों की अवस्थिति है।

पुद्गलास्तिकाय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, अचेतनत्व एवं मूर्त्तत्व—इन छह विशेष गुणो से युक्त होता है।

ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व और अमूर्त्तत्व—ये छह विशेष गुण जीवास्तिकाय की पहचान के अनन्य हेतु है।

गगाशहर
८ अगस्त, १९७८

हम पर्याय को पहचानें

द्रव्य के सामान्य और विशेष गुणों की चर्चा करने के पश्चात् आज मैं पर्याय के सम्बन्ध में आपको कुछ बताऊंगा ।

पूर्वोत्तराकारपरित्यागादानं पर्यायः ।

'लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे' इत्यागमवचनात् द्रव्यगुण-योर्यः पूर्वाकारस्य परित्यागः, अपराकारस्य च आदानं स पर्यायः ।

जीवस्य नरत्वामरत्वादिभिः, पुद्गलस्य स्कन्धत्वादिभिः, धर्मास्तिकाया-दीनाञ्च, संयोगविभागादिभिर्द्रव्यस्य पर्याया बोध्याः ।

ज्ञानदर्शनादीनां परिवर्तनादेर्वर्णादीनां च नवपुराणतादेर्गुणस्य पर्याया ज्ञेयाः ।

पूर्वोत्तराकाराणामानन्त्यात् पर्याया अपि अनन्ता एव ।

परिवर्तन : शाश्वत सिद्धांत

हम देखते हैं कि प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है । आप आज हैं, वैसे दस वर्ष पूर्व नही थे और दस वर्ष बाद वैसे नही रहेंगे । ये शामियाने सामने लगे हुए है । क्या ये प्रारम्भ मे ऐसे ही थे ? नही, ऐसे नही थे । शुरू मे इनका जो रंग था, इनकी जो मजबूती थी, वह आज नहीं है । चातुर्मास की समाप्ति तक इनका रूप और भी अधिक परिवर्तित हो जाएगा । आप ध्यान दें—आप में, आपके परिवार में, आपके कपड़ों में, आपके व्यवहार में, आपके विचारों मे.......कितना-कितना परिवर्तन आया है । यह परिवर्तन शाश्वत सिद्धान्त है । जिसमे यह परिवर्तन नही, वह द्रव्य नहीं । द्रव्य है तो परिवर्तन अवश्यंभावी है । परिवर्तन के बिना वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है । उदाहरण के रूप में देखें—आपने दूध को जमाया । वह दही बन गया । पर दही बनने से दूध नष्ट नही हुआ, केवल उसका रूप परिवर्तित हो गया ।

विगय क्या है ?

हमारे बहुत-से भाई-बहिनों को सम्पूर्ण विगय या कुछ विगय खाने का त्याग होता है । दस प्रत्याख्यान मे भी एक दिन 'निवी' का होता है । यह

मूलतः 'निव्विगइ' शब्द है। इसका अपभ्रंश होते-होते 'निवी' रूप वन गया है। 'निव्विगइ' का अर्थ है—विगयरहित। मैं विगय-वर्जन करनेवाले भाई-वहनों को यदि पूछूं कि विगय क्या होती है तो वे कहेंगे, दूध, दही, घी, तेल, चीनी और मिठाई—ये छह विगय होती हैं। इनको नही खाना चाहिए। विगय छह होती हैं—यह तो ठीक है, पर विगय शब्द का अर्थ क्या है, यह वे नही जानते। विगय का अर्थ है—विकृत। गाय को अपने घास खाने को दिया। उसका विकार है—दूध। दूध को विकृत किया और दही वना। दही को विकृत किया तव मक्खन, घी आदि प्राप्त हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि विगय आपके प्रतिदिन उपयोग में आनेवाली चीज है। आप उसे जानते भी हैं। पर परिभाषा ने उसे इतना जटिल वना दिया है कि सहसा किसी को विगय का अर्थ पूछा जाए तो वह नही वता पाता।

पर्याय शब्द की लगभग ऐसी ही स्थिति है। आप सव पर्याय को अच्छी तरह जानते है। हरदम पर्यायो से होकर गुजरते हैं, तथापि उससे परिचित नही है। पूर्व अवस्था के परित्याग और उत्तर (नई) अवस्था की प्राप्ति को पर्याय कहा जाता है। पर पूर्वावस्था का परित्याग और नई अवस्था की प्राप्ति अलग-अलग नही होती। पूर्व अवस्था का त्याग अर्थात् नई अवस्था की प्राप्ति और नई अवस्था की प्राप्ति यानी पूर्वावस्था का परित्याग। यह एक शाश्वत चक्र है। हम दोनो को अलग-अलग कर नही देख सकते। एक शब्द मे पर्याय का अर्थ है—परिवर्तन। जैसा कि मैंने वताया, द्रव्य में सदैव परिवर्तन अवश्यभावी है। ऐसा कोई द्रव्य नही, जिसमे परिवर्तन न हो।

पर्याय : एक दृष्टांत

आचार्य भिक्षु ने तेरह-द्वार में पर्याय को समझाने के लिए एक स्थूल उदाहरण दिया है—किसी व्यक्ति के पास सोना है। उसने सोने से गले का सूत वनवा लिया। थोड़े दिन पश्चात् उसके मन मे सूत पहिनने की अनिच्छा हो गई। उसने उसकी अंगूठियां वनवा ली। कुछ दिनों पश्चात् अगूठियां पहिनने से भी उसके मन में अरुचि हो गई। उसने उन अंगूठियो को सुनार को देकर वापस सोना वनवा लिया। तात्पर्य यह है कि सोने की विभिन्न अवस्थाओ मे परिवर्तन उसकी विभिन्न पर्यायें है।

जीवन में कितने पर्यायें हैं ?

प्रश्न होगा, हमारी जिन्दगी मे कितनी पर्यायें होती है ? जीवन मे स्थूल पर्यायें तो वहुत कम हैं, पर सूक्ष्म पर्यायें प्रतिक्षण है, अनन्त हैं। यह केवल हमारी जिन्दगी की ही वात नही, अपितु प्रत्येक द्रव्य की स्थिति है। उसमें प्रतिक्षण सूक्ष्म परिवर्तन होता ही रहता है।

सचमुच मैं बदल गया हूं !

कुछ लोग मुझे कहते हैं कि, आप स्वामीजी (आचार्य भिक्षु) से बहुत बदल गए हैं। मैं उनकी बात को बिलकुल भी अन्यथा नहीं लेता। सचमुच मैं बदल गया हूं और प्रतिक्षण बदल रहा हूं। मैं ही क्यों, आप भी तो प्रतिक्षण बदल रहे हैं और सदा बदलते रहेंगे। यह परिवर्तन कोई बुरा नहीं है, अपितु कहना चाहिए कि द्रव्य के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है।

बदलती पर्याय : वस्तुओं की उपयोगिता

व्यवहार में कहा जाता है कि अमुक वस्तु पुरानी हो गई। उसका इतना-सा ही अर्थ है कि उस वस्तु की पर्याय परिवर्तित हो गई है। आप जिस कूड़े-करकट को बेकार समझते है, उसका बहुत बड़ा उपयोग है। उसके बड़े-बड़े ढेरों की बिक्री होती है। उससे अच्छे-से-अच्छा कागज तैयार होता है। और तो क्या, मल-मूत्र, जिसे सर्वथा हेय और अनुपयोगी समझा जाता है, पर्याय-परिवर्तित होने पर उसकी अच्छी-से-अच्छी खाद बनती है। लोग उससे लाखों-करोड़ों रुपये कमाते है। सारांश यह है कि पर्याय-परिवर्तन के कारण जो पदार्थ हमारे लिए बेकार और अनुपयोगी हो जाता है, वही पुनः भिन्न पर्यायों में हमारे लिए उपयोगी हो सकता है। इस तत्त्व को समझाने के लिए ज्ञाता सूत्र में एक सुन्दर कथा मिलती है।

तत्त्व समझ में आ गया

राजा और मंत्री घूमते-घूमते शहर के बाहर चले आए। वहां पास में ही एक गंदा नाला बह रहा था। उसकी बदबू से राजा का दम घुटने लगा। उसने नाक सिकोड़कर उस पर कपड़ा लगा लिया। मंत्री जैन था। अच्छा तत्त्वज्ञ था। वह शान्त भाव से चलता रहा। राजा से रहा नहीं गया। उसने मंत्री को सम्बोधित करते हुए कहा—"नाले से इतनी बदबू आ रही है और तुम यों ही चल रहे हो। नाक के आगे कपड़ा क्यों नहीं लगा लेते।"

"महाराज ! यह तो पुद्गलों का स्वभाव है।"—मंत्री ने सहजभाव से कहा।

"तुम बहुधा कहते रहते हो—यह पुद्गलों का स्वभाव है, यह पुद्गलों का स्वभाव है.......... । यह क्या है पुद्गलों का स्वभाव ?"—राजा ने जरा बिगड़ते हुए पूछा।

"महाराज ! जो पानी आपको गन्दा एवं दुर्गन्धमय लगता है, वह कल स्वच्छ और सुगंधमय बन सकता है। इसी के समानान्तर जो पानी आज निर्मल एवं सुगंधयुक्त है, वह कल गंदा और दुर्गन्धयुक्त हो सकता है।"—मंत्री ने उसी शान्त भाव से कहा।

"तब तो इस नाले का पानी भी पीने के योग्य बन सकता है।"—राजा ने व्यग्य किया।

"हां महाराज! अवश्य बन सकता है।"—मंत्री के स्वरों में आत्म-विश्वास झलक रहा था।

"यह त्रिकाल मे भी सभव नही है। मेरे अनुभव में तो गन्दा गन्दा ही है और अच्छा अच्छा ही। गन्दा कभी अच्छा नही होता और अच्छा कभी गन्दा नही बनता। सुगन्धयुक्त कभी दुर्गन्धयुक्त नही बनता और दुर्गन्धयुक्त कभी सुगन्धगुक्त नही होता।"—राजा ने अपना मंतव्य प्रकट किया।

मत्री ने राजा से विवाद करना उचित नही समझा। अतः इस बात को उसने वही समाप्त कर दिया। पर मन-ही-मन सोचा—जब तक मैं अपनी बात सिद्ध न कर दूं, इस गदे नाले का पानी राजा को न पिला दूं, तब तक मैं जैन कहलाने का सच्चा अधिकारी नही।

राजा और मंत्री दूसरे-दूसरे विषयों पर बात करते राजमहल लौट आए।

दूसरे दिन मंत्री ने उसी गंदे नाले का पानी घर मंगवाया। शोधन-प्रक्रियाओं द्वारा उसका विधिवत् शोधन शुरू किया। जब वह पूर्ण शोधित/स्वच्छ हो गया तो उसने उसमे कुछ सुगन्धित द्रव्य मिला दिए और उसे राजमहल ले आया। चूकि इस सारे कार्य को सपादित करने मे उसे कई दिन का समय लग गया, इसलिए अब तक राजा के दिमाग से गंदे नाले के पानी की बात निकल चुकी थी।

अवसर देखकर मत्री ने एक गिलास पानी राजा को पिलाया। पानी पीते ही राजा की तबीयत प्रसन्न हो गई। एक गिलास के बाद दूसरी गिलास पीकर भी उसकी रसना तृप्त नही हुई। उसने मत्री से कहा—"यह पानी तो बड़ा मधुर और सुगन्धित है। ऐसा पानी तो मैंने अपनी जिन्दगी मे पहली बार ही पिया है। किस कुएं मे यह पानी मगवाया गया है? आज से मेरे पीने के लिए उसी कुएं का पानी प्रतिदिन आना चाहिए।"

"महाराज! यह तो पुद्गलो का स्वभाव है।"—मंत्री ने अपने मन की हंसी रोकते हुए कहा।

'यह तो पुद्गलो का स्वभाव है।' इस शब्दावली को सुनते ही राजा को गंदे नाले के पानी की बात याद हो आई। वह एकदम झल्लाया। फिर व्यंग्यात्मक हंसी हसते हुए बोला—"अभी तक भूले नही पुद्गलों के स्वभाव को? उस गंदे नाले के पानी का क्या हुआ?"

"महाराज! यह उसी गंदे नाले का पानी है।"—मंत्री ने करबद्ध निवेदन किया।

"मैं तुम्हारे कहने मात्र से यह बात नहीं मान सकता। तुम्हें मेरी आंखों के सामने सब कुछ करके दिखलाना होगा।"—मंत्री के कथन पर अविश्वास का चिह्न लगाता हुआ राजा मुखर हुआ।

मंत्री ने एक दिन का भी विलम्ब किए बिना उसी गंदे नाले का पानी फिर मंगवाया। राजा के सामने ही उसके शोधन की प्रक्रिया शुरू की। कुछ ही दिनों मे पानी बिलकुल स्वच्छ हो गया। सुगन्धित द्रव्य मिश्रित कर मंत्री ने उसे राजा को पिलाया। पानी पीते ही राजा को तत्त्व समझ में आ गया। उसने मंत्री के तत्त्व-ज्ञान की सराहना करते हुए पर्याय-परिवर्तन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।

बन्धुओ! आप भी तत्त्व को समझ गए होंगे। हम जो कुछ परिवर्तन देखते है, नया या पुराना देखते है, नष्ट हुआ या पैदा हुआ देखते है, वह और कुछ नही, केवल द्रव्यों की पर्यायों का परिवर्तन मात्र है। न कोई द्रव्य कभी नष्ट होता है और न कोई पैदा होता है। केवल विभिन्न रूपों में उसका परिणमन होता रहता है। उसकी एक अवस्था नष्ट होती है और वह दूसरी अवस्था को ग्रहण कर लेता है। पहले की अवस्था को छोड़ना और नई अवस्था को ग्रहण करना, यह क्रम सदैव चलता रहता है।

छेड़छाड़ जरूरी है

लोग दर्शन की इन बातों को केवल पण्डितों के लिए समझते है। पर मैं जीवन मे हर क्षण काम आनेवाली और प्रतिक्षण अनुभव होनेवाली इन बातों को केवल पण्डितो को ही नही, अपितु जनसाधारण को भी बताना चाहता हूं, समझना चाहता हूं। इसीलिए दर्शन के इन तत्त्वों का परिषद् में विवेचन करता हूं। पर एक बात समझने की है—केवल सुनने मात्र से आप बहुत अधिक लाभान्वित नही हो पाएंगे। आप सुनने के साथ-साथ इन सब बातों का स्वयं गहराई से चिन्तन करें, अनुभव करें और जहां न समझ में आए वहां तर्क व जिज्ञासा उपस्थित करें। तत्त्व को सही रूप में समझने की यही प्रक्रिया है।

प्रवचन से पूर्व मेरे उपपात मे शैक्ष साध्वियां बैठी थी। मैंने उनसे कहा—"तुम लोग अध्ययन करती हो। तुम्हें पढ़ाया जाता है। पर तुम दूसरों के पढाए गए पर ही संतोष मत करो, अपितु अपना दिमाग और चिन्तन भी उसके साथ लगाओ। उसकी तह तक पहुचने की कोशिश करो। तब ही तुम्हारा ज्ञान विकसित हो सकेगा। उसमे नए-नए उन्मेष आ सकेंगे। सांप को जब तक छेड़-छाड़ नही की जाती, वह फन नही उठाता। अग्नि को जब तक इधर-उधर नही किया जाता, वह प्रज्वलित नही होती। ठीक यही स्थिति मस्तिष्क की है। जब तक तुम मस्तिष्क को कुरेदोगी नही, तब तक केवल पढ़ी-पढ़ाई बातो से ज्ञान नही हो सकेगा।"

'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो ।
देवावि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो ।।'

दशवैकालिक सूत्र के प्रथम अध्ययन की इस प्रथम गाथा को प्रस्तुत करते हुए मैंने कहा—"भगवान महावीर ने धर्म के तीन प्रकार वताए है—अहिंसा, सयम और तप । यहां यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या अहिंसा संयम के अन्तर्गत नही है ? क्या विना संयम के भी अहिंसा होती है ? यदि अहिंसा संयम के अन्तर्गत है तो फिर अहिंसा और संयम—इन दो शव्दों का प्रयोग क्यों ? क्योंकि हम मानते है कि तीर्थंकरों की वाणी मे एक शव्द भी निरर्थक या निष्प्रयोजन नही होता ।"

साध्विया अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न का समाधान खोजने लगी ।

मैंने उनसे कहा—"तुम इस वात की चिन्ता मत करो कि तुम्हारा समाधान सही है या गलत । पर तुम इस विपय पर गहराई से सोचो, अपनी वौद्धिक शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करो ।"

सभी साध्वियो को सुनने के पश्चात् मैंने समाधान दिया—"हमे सवसे पहले यह सोचना चाहिए कि सयम कहा होता है ? हमारी सैद्धान्तिक मान्यता के अनुसार चौथे गुणस्थान (अविरतसम्यग्दृष्टि) तक सर्वथा संयम नही होता । पर संयम न होने के वावजूद भी चौथे गुणस्थान तक के प्राणी सत्प्रवृत्ति कर सकते है । सत्य का आचरण कर सकते है । ब्रह्मचर्य का पालन कर सकते है........। 'अहिंसा' उन सव सत्प्रवृत्तियो का प्रतिनिधि शव्द है । इस वात से हमे समझना चाहिए कि सयम मे अहिंसा अनिवार्यरूप से होती है, पर अहिंसा में सयम अनिवार्य नही । विना संयम भी अहिंसा हो सकती है । जो लोग संयमी नही है, वे भी अहिंसारूप धर्म का पालन कर सकते हैं ।

मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि बनने का मार्ग

कुछ लोगों की मान्यता है कि मिथ्यादृष्टि धर्म कर ही नहीं सकता । उसकी अच्छी या वुरी सभी प्रकार की प्रवृत्तिया असत् अर्थात् अधर्म हैं । भवभ्रमण को वढ़ानेवाली हैं । ऐसी स्थिति मे प्रश्न है, मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि कैसे वनेगा ? यह तो ठीक है वि अभवी कभी भवी नही वनता । पर मिथ्यादृष्टि सम्यग्दृष्टि वनता है । यदि मिथ्यादृष्टि की प्रवृत्ति मात्र को ही अधर्म मान लिया जाएगा तो इसका अर्थ यह होगा कि मिथ्यादृष्टि और अभवी दोनो एक ही हो गए । उनमें कोई अन्तर नही रहा । यदि हम मिथ्यादृष्टि की मुक्ति मानते है तो यह निश्चित है कि वह कभी-न-कभी सम्यग्दृष्टि वनता है । इस स्थिति में क्या यह माना जाए कि वह असत्प्रवृत्ति यानी अधर्म से सम्यग्दृष्टि वनता है ? यह कभी त्रिकाल में भी संभव नही है । मिथ्यादृष्टि से सम्यग्दृष्टि वनाने का एकमात्र मार्ग सत्प्रवृत्ति अर्थात् धर्म ही है ।

तत्त्व यह है कि संयम सम्यक्त्व के बिना नही होता। जब तक एक व्यक्ति मिथ्यादृष्टि है, तब तक चाहे वह कितना भी त्याग-प्रत्याख्यान क्यों न करे, वह सैद्धान्तिक दृष्टि से संयम नही कहलाएगा। पर उस त्याग-प्रत्याख्यान को धर्म मानने मे कोई अड़चन नही है। संसार से मोक्ष की ओर गतिशील बनानेवाला सहयोगी तत्त्व मानने मे कोई कठिनाई नहीं है। कोई मिथ्यादृष्टि अब्रह्मचर्य, असत्य और चोरी करने का परित्याग करता है। हम उसे त्याग दिलवाते है। ऐसी स्थिति मे मैं पूछना चाहता हू, त्याग-प्रत्याख्यान करके क्या वह अधर्म कर रहा है? क्या हम त्याग दिलवाकर उसके भवभ्रमण को बढ़ा रहे है? अभी हम लाडनूं से गंगाशहर आये। मार्ग में हमने हजारों-हजारो व्यक्तियो को दुर्व्यसनो को त्यागने का उपदेश दिया। उपदेश से प्रेरित होकर सैकड़ो व्यक्तियों ने शराब, मांस, तम्बाकू तथा अन्यान्य अनेक प्रकार की बुराइयों को छोड़ा। हमने उनको त्याग करवाए। क्या वे सभी सम्यग्दृष्टि थे? नही, वे सब सम्यग्दृष्टि नही थे। इस स्थिति मे क्या हम ऐसा मानें कि उन्होने शराब, मांस, तम्बाकू आदि छोड़कर अधर्म किया? नहीं, शराब, मांस आदि का त्याग करके न तो उन्होंने अधर्म किया और न ही हमने अधर्म के लिए प्रेरित ही किया। यह शुद्ध धर्म का काम है। व्यक्ति की आत्मा जितनी-जितनी पाप-कर्म से निवृत्त होती है, वह सदा धर्म ही है। उसमें अधर्म की बात करना चिन्तन का अधूरापन है।

अणुव्रत का सैद्धान्तिक आधार

प्रस्तुत सदर्भ मे अहिंसा और संयम इन दो शब्दो के प्रयोग का तात्पर्य यही है कि धर्म का द्वार केवल संयमी प्राणियो के लिए ही नही, अपितु असयमी प्राणियो के लिए भी खुला है। उन्हें भी सत्प्रवृत्ति/धर्म करने का उतना ही अधिकार है, जितना संयमी प्राणियों को। अर्थात् आत्मोत्थान या मोक्ष जाने का जितना अधिकार एक संयमी प्राणी को है, उतना ही एक असंयमी प्राणी को भी। इसी सिद्धान्त के आधार पर हमने 'अणुव्रत' की बात कही। एक जैन अणुव्रती बन सकता है तो एक अजैन भी अणुव्रती बन सकता है। एक सम्यग्दृष्टि अणुव्रती बन सकता है तो एक मिथ्यादृष्टि भी अणुव्रती बन सकता है। संसार के प्रत्येक मनुष्य के लिए, फिर चाहे कोई नास्तिक भी क्यों न हो, अणुव्रत का रास्ता सदा खुला है। शर्त एक ही है कि उसका विश्वास जीवन की पवित्रता मे होना चाहिए। आपको प्रसन्नता होनी चाहिए कि हजारों-हजारों अजैन और मिथ्यादृष्टि कहे जानेवाले लोगों ने अणुव्रत के सहारे अपने जीवन को ऊंचा उठाया है। अपने आचरण और व्यवहार में धर्म को स्थान दिया है।

हां, तो मैं आपसे कह रहा था कि आप केवल सुने ही नहीं, उस पर

गहराई से चिन्तन भी करें। अपनी बौद्धिक शक्ति का उपयोग कर उस तत्त्व को आत्मसात् करने का प्रयास भी करें। ऐसा करने से ही आपके सुनने की पूरी सार्थकता होगी और जन-जन को तत्त्व-ज्ञान से परिचित कराने का मेरा उद्देश्य भी सफल हो सकेगा।

गंगाशहर
९ अगस्त, १९७८

पर्याय के लक्षण व प्रकार

पर्याय के संबंध मे मैंने कल कुछ बातें आप से बताई। आज उसी विषय को कुछ और स्पष्ट करना चाहूंगा।

'लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे'—'पर्याय द्रव्य और गुण इन दोनों के आश्रित रहता है।' इस आगम वाक्य के अनुसार द्रव्य और गुण की पूर्व-पूर्व अवस्था के व्यय और उत्तर-उतर (नई-नई) अवस्था के उत्पाद को पर्याय कहते है।

हम देखते है कि जीव देव, मनुष्य तिर्यंच और नारक रूपों में परिवर्तित होता है। इन अवस्थाओ मे वह न जाने कितने-कितने रूपों को बदलता है। इसी प्रकार पुद्गल भिन्न-भिन्न स्कन्धों के रूप में परिणमन करते रहते है। कोयले को जलाने से वह राख रूप में परिवर्तित हो जाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय एवं काल के साथ जीव व पुद्गलों का सयोग और विसम्बन्धन होता है। ये सब द्रव्य की पर्याये है।

जीव के ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि मे परिवर्तन होता रहता है। पुद्गलों के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण मे परिवर्तन होता है। वे नवीन और पुरातन होते है। ये सब गुण की पर्याये है।

प्रश्न होगा, पर्यायें कितनी है? चूंकि पूर्व अवस्थाए और उत्तर अवस्थाएं अनन्त है, इसलिए पर्याये भी अनन्त है। हम अपना ही उदाहरण ले। हम मे से प्रत्येक की अनन्त-अनन्त पर्यायें बदलती हैं। भूत और भविष्य की बात हम छोड दें, केवल वर्तमान मे भी हम इतनी पर्यायें बदलते है, जिनकी गणना कठिन हैं।

प्रश्न किया जा सकता है, पर्याय के कितने प्रकार है?

व्यञ्जनार्थभेदेन स्वभाव-विभावभेदेन चास्यद्वैविध्यम्।

पर्याय के दो प्रकार हैं—

१.व्यञ्जन पर्याय।

२.अर्थ पर्याय।

पर्याय के अन्य दो प्रकार भी है—

१.स्वभाव पर्याय।

२. विभाव पर्याय ।

व्यञ्जन पर्याय

स्थूलः कालांतरस्थायी शब्दानां संकेतविषयो व्यञ्जनपर्यायः ।

स्थूल पर्याय को व्यञ्जन पर्याय कहते हैं। यह इसकी संक्षिप्त परिभाषा है। विस्तार में जाए तो जो पर्याय विल्कुल स्पष्ट होती है—सर्व साधारण जिसका अनुभव कर सकता है, जो त्रिकालस्पर्शी होती है और जिसे शब्दो के द्वारा वताया जा सकता है, वह व्यञ्जन पर्याय है। उदाहरणार्थ—वच्चा जवान हो गया। केश काले से सफेद हो गए।.......ये ऐसी पर्यायें है; जो सर्व-साधारण के लिये भी बुद्धिगम्य हैं, त्रिकालस्पर्शी है और शब्दो के द्वारा अभिव्यक्त होती है।

अर्थ पर्याय

सूक्ष्मो वर्तमानवर्ती अर्थपरिणाम. अर्थपर्यायः ।

सूक्ष्म पर्याय अर्थ पर्याय कहलाती है। आप इसे और स्पष्ट रूप मे समझें। जो पर्याय अस्पष्ट है, प्रतिक्षण परिवर्तन होने के पश्चात् भी सर्व-साधारण के लिए गम्य नही है, जिसके वदल जाने से भी द्रव्य का आकार नही वदलता और जो केवल वर्तमानवर्ती है—वह अर्थ पर्याय है। उदाहरणार्थ—यह सामने वेल है। प्रतिक्षण इसमे परिवर्तन हो रहा है। यह वढ़ रही है। पर हमे इसका वोध नहीं होता। कवि की भाषा मे—

'चंदा तो चलता न दीखे, वढ़ती दीखे ना वेल ।
साधु तो जपता न दीखे, यह कुदरत का खेल ।।'

—चन्द्रमा चलता हुआ दिखाई नही देता। वेल वढती हुई मालूम नही पड़ती। साधु जाप करता हुआ दृष्टिगोचर नही होता। क्योकि ये सव प्रकृतिगत वाते हैं।

क्या यह जाप नहीं है ?

वन्धुओ ! सचमुच कवि ने वहुत गहरी वात कही है। साधु जाप करता हुआ दिखलाई नही देता। आप यदि घटा-दो-घटा णमो अरहताण, णमो सिद्धाणं··········या अर्हम्-अर्हम् की ध्वनि को ही जाप मानते है तो वहुत वड़ी भूल में है। वास्तव मे साधु का हर क्षण, हर सांस और हर प्रवृति जापमय होती है। मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूं। क्या यह जाप नही है ? मैं इसे किसी जाप मे कम महत्त्व नही देता। दो घटे मुद्राविशेप मे अवस्थित होकर किसी मंत्र की साधना करना जाप है, तो दो घटे जनता के वीच वोलना, उसे तत्त्व ज्ञान देना भी जाप है। मेरी दृष्टि मे यह वहुत उपयोगी और आवश्यक भी है।

सच्चा सेवक कौन ?

आज समाज के सभी वर्ग अपने को सेवक बताते हैं। व्यापारी कहते हैं कि हम समाज की सेवा कर रहे हैं। जनता की जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं को स्थान-स्थान से एक स्थान पर लाना, उनको व्यवस्थिय रूप में वितरित करना जनता की कितनी बड़ी सेवा है ! मजदूर कहते हैं कि हम कठिन श्रम करते हैं। खून का पसीना बनाकर उत्पादन करते हैं, जिससे पूरे राष्ट्र का काम चलता है। सैनिक कहते है कि हम अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी राष्ट्र की सीमाओं को रक्षा करते है। यह सबसे महत्त्वपूर्ण सेवा है। नेताओं की तो बात ही छोडिए। वे तो सोचते हैं कि हमारे जैसी सेवा तो दूसरा कोई कर ही नही सकता। यदि हम न हों तो पता नहीं जनता और राष्ट्र का कैसा बुरा हाल हो !.......पर मैं सोचता हूं, वास्तव में अधिकांश लोग राष्ट्र और जनता की मेवा के बहाने अपनी ही सेवा करते हैं। अपनी उदरपूर्ति एवं स्वार्थ-सिद्धि के लिये ही अधिकांश काम करते हैं। राष्ट्र और जनना की सच्ची सेवा तो साधु-संत ही कर सकते है। वे निःस्वार्थ भाव से जनता का पथ-दर्शन करते है। उसे ज्ञान-दान देते हैं। उन्हे कोई भिक्षा देता है तो भी वे ज्ञान देते है। और कोई नही देता है तो भी अपना कर्त्तव्य निभाते हैं। भिक्षा देने के साथ उनके ज्ञान-दान का कोई सम्वन्ध नही है। और तो क्या, उम्र भर गालियां देनेवाले को भी वे ज्ञान-दान से वंचित नहीं रखते। पथ-दर्शन के लिए इनकार नही करते। उसके प्रति भी अपने कर्त्तव्य को विस्मृत नहीं करते।

संतजनों का स्वभाव

एक भाई साधु-संतों का बहुत बडा आलोचक था। उम्र भर उसने साधु-संघ की बहुत निम्नस्तरीय निन्दा की। जीवन के संध्याकाल में वह बीमार पडा। उसने मुझे दर्शन के लिए कहलाया। मुझे सुनकर आश्चर्य तो हुआ पर मैं तत्काल वहां गया। उसकी मानसिक समाधि के लिए मैंने संभावित प्रयत्न किया। उसको अत्यन्त प्रसन्नता हुई। अपने उम्र भर के दुर्व्यवहार के लिए उसका मन पश्चात्ताप से भर गया। उसी भाव धारा में उसने कहा—"मैं तो उम्र भर आपकी निंदा-आलोचना करता रहा पर आपने अपना संत-स्वभाव नही छोड़ा।"

बन्धुओ ! संत सदा अपने आत्म-स्वभाव में रमण करते हैं। चंदन को घिसो तो भी वह सुवास ही फैलाएगा। वृक्ष को भले पत्थर की मारो पर वह तो मधुर फल ही देगा। यही वृत्ति संतों की होती है। संतो को चाहे कोई कितनी भी गालियां दे, मारपीट करे, वे वापस उसका गाली और मारपीट से प्रतिकार नही करते। और को गाली के बदले गाली दे, ईंट का जवाब पत्थर से दे, वे सच्चे संत नहीं है। सन्त तो हर स्थिति में सबके लिए

करुणा की भावना ही रखते हैं। तटस्थ भाव से सबको आत्मोत्थान की ओर प्रेरित करते है। इसलिए मैंने कहा, सत लोगों की सेवा ही सच्ची सेवा है।

मैं प्रसंगवश आपसे बहुत-सी दूसरी-दूसरी बाते कह गया। मेरा मूल प्रतिपाद्य था—पर्याय। पर्याय के दो प्रकार—व्यञ्जन और अर्थ को हमने जाना। अब हम पर्याय के अन्य प्रकारों को भी समझें।

स्वभाव पर्याय

परनिमित्तानपेक्षः स्वभावपर्यायः।

सहज परिवर्तन अर्थात् दूसरी वस्तु के निमित्त की अपेक्षा न रखनेवाली अवस्था को स्वभाव पर्याय कहा जाता है। जिस प्रकार पानी में सहज रूप से कल्लोले उठती रहती हैं, उसी प्रकार वस्तु मे विना किसी निमित्त के सहजरूप से परिवर्तन होता रहता है। पर्याय परिवर्तित होती रहती है। आपके घर में दूध है। दूध के विना किसी चीज के मिले सहजरूप से प्रतिक्षण सूक्ष्म परिवर्तन होता है—यह स्वभाव पर्याय है।

विभाव पर्याय

परनिमित्तापेक्षो विभावपर्यायः।

दूसरे पदार्थ के निमित्त से होनेवाले परिवर्तन को विभाव पर्याय कहते हैं। मैंने अभी दूध का उदाहरण प्रस्तुत किया। दूध मे जो स्वाभाविक परिवर्तन होता है, वह स्वभाव पर्याय है। पर मान लीजिए आपने उसमे दही का जामन दे दिया। वह दही के रूप मे परिवर्तित हो गया। यह दही के रूप मे परिवर्तित होना विभाव पर्याय है। क्योकि विना जामन का निमित्त मिले, वह दही के रूप में परिणत नही हो सकता था।

क्रोध स्वभाव नहीं, विभाव है

कुछ लोग क्रोध, वासना आदि को स्वभाव कह देते हैं। पर वस्तुतः ये सब स्वभाव नही, विभाव हैं। क्योकि क्रोध आदि कर्मों के निमित्त से पैदा होते है। यदि क्रोध, वासना आदि स्वभाव है तो शुद्ध-आत्मा/सिद्ध मे भी होने चाहिए। पर हम देखते है कि शुद्धात्मा मे इनका सर्वथा अभाव है। इसलिए क्रोध, वासना आदि को स्वभाव नही, विभाव ही जानना चाहिए।

पर्याय के लक्षण

पर्याय के प्रकार जानने के पश्चात् अब हम पर्याय के लक्षणों पर चर्चा करेंगे।

एकत्व-पृथक्त्व-संख्या-संस्थान-संयोग-विभागास्तल्लक्षणम्

एतैः पर्याया लक्ष्यन्ते।

एकत्वम्—भिन्नेष्वपि परमाण्वादिषु यदेकोऽयं घटादिरिति प्रतीतिः।

पृथक्त्वम्—संयुक्तेषु भेदज्ञानस्य कारणभूतं पृथक्त्वम्, यथा—अयमस्मात् पृथक्।

संख्या —द्वौ त्रय इत्यादिरूपा।

संस्थानम्—यथा इदं परिमण्डलम्।

संयोगः—अयमंगुल्योः सयोगः।

विभाग —वियुक्तेषु भेदज्ञानस्य कारणभूतो विभागः, यथा—अयमितो विभक्तः।

एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, सस्थान, संयोग और विभाग—ये सब पर्याय के लक्षण है।

एकत्व

भिन्न-भिन्न परमाणुओ व स्कन्धो से बना होने के बावजूद भी 'यह घड़ा एक है' इस प्रकार की प्रतीति के कारणभूत पर्याय को एकत्व कहते है।

पृथक्त्व

भिन्न-भिन्न परमाणुओ एवं स्कन्धो से बने एक पदार्थ मे भिन्नता की प्रतीति के कारणभूत पर्याय को पृथक्त्व कहते हैं। उदाहरणार्थ—यह पट्ट है। यह पूरा एक स्कन्ध है। पर एक होने के बावजूद भी इसमे लकड़ी के भिन्न-भिन्न छोटे-मोटे अनेक टुकड़ों का हमे अनुभव होता है।

सख्या

जिसके द्वारा दो, पाच, सात·······संख्यात, असंख्यात आदि की प्रतीति होती है, वह संख्या है।

संस्थान

गोल, परिमण्डल, त्रिकोण आदि के आकारो को संस्थान कहा जाता है।

संयोग

अन्तररहित मिलन को संयोग कहते है। जैसे, पांचों अंगुलियां मिलकर मुष्ठि बन गई।

विभाग

अलग-अलग पदार्थों मे भिन्नता की प्रतीति के कारणभूत पर्याय को विभाग कहा जाता है।

इस विवेचन के साथ जैन सिद्धात दीपिका का प्रथम प्रकाश समाप्त होता है। कल सभवतः मै द्वितीय प्रकाश का विवेचन प्रारंभ कर सकूंगा।

गगाशहर
१० अगस्त, १९७८

तत्त्व-बोध

पिछले प्रवचनो में आप लोगो ने द्रव्य, गुण और पर्याय के संवध मे जाना। आज मैं तत्त्व के संवंध में कुछ वताऊंगा। जैन दर्शन मे नौ तत्त्व माने गए हैं।

जीवाऽजीव-पुण्य-पापाश्रव-संवर-निर्जरा-वन्ध-मोक्षास्तत्त्वम्।
तत्त्वं पारमार्थिकं वस्तु।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष—ये नव तत्त्व है।

तत्त्व क्या है

प्रश्न है, तत्त्व किसे कहते हैं? पारमार्थिक वस्तु को तत्त्व कहा जाता है। अर्थात् जिस वस्तु का महानतम प्रयोजन है, वह तत्त्व है। हम व्यवहार में भी प्रायः कहते हैं कि इसमे तत्त्व क्या है? यानी जो कुछ कहा गया, वताया गया, पढा गया उसमें सारभूत क्या है? आप जानते है कि हम जो कुछ पढ़ते हैं, सुनते हैं, देखते हैं, उसमें सव कुछ सारभूत नही होता। व्यक्ति जो कुछ खाता-पीता है, उसमे सारभूत उतना ही होता है जो शरीर मे रस के रूप मे परिणमित होता है। शेष सव निस्सार होता है। आप कहेगे, तव तो हमें केवल सारभूत को ही ग्रहण करना चाहिए, निस्सार से हमारा क्या प्रयोजन? वात ठीक है। पर कठिनाई यह है कि सारभूत के साथ वहुत-सी निस्सार वस्तुएं सहजरूप से जुड़ी होती हैं। इसलिए मारभूत को ग्रहण करने के लिए प्रारम्भ मे सम्पूर्ण को ही ग्रहण करना होता है। फिर उसमे से सारभूत को अलग निकाला जाता है। यह सारभूत ही तत्त्व कहलाता है। यो तो यह संसार वहुत लम्वा-चौड़ा है। पर इसमे सारभूत वाते नौ ही है। उन्हें ही तत्त्व कहा गया है।

ज्ञेय नव ही तत्त्व है

नौ तत्त्वो के नाम और उनकी संक्षिप्त जानकारी प्रत्येक जैन कहलाने वाले भाई-वहिन को अवश्य होनी चाहिए। यद्यपि इन नौ तत्त्वो मे उपादेय केवल संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तीन ही तत्त्व है। अवशिष्ट छह तत्त्व—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और वंध हेय है। पर उपादेय

और हेय सभी तत्त्वों का अवबोध आवश्यक है।

जीव हेय क्यों ?

आप कह सकते है कि अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव और बंध छोड़ने योग्य है, यह बुद्धिगम्य है, पर जीव को छोड़ने योग्य क्यों कहा गया ? यदि जीव को ही छोड देगे तो शेष रहेगा ही क्या ? इस बात को थोड़ा गहराई से समझना चाहिए। वास्तव मे संसार में जीव कभी भी शुद्धावस्था मे नही रहता। वह कर्मो से बंधा हुआ रहता है। कर्मबद्ध जीव कभी भी उपादेय नही हो सकता। कर्मबद्ध जीव को छोड़ने का अर्थ है—मोक्ष की प्राप्ति। उस अवस्था में जीव तो रहेगा पर वह कर्ममुक्त/शुद्ध चैतन्य-स्वरूप होगा।

जीव को जानें

नौ तत्त्वों में जीव पहला तत्त्व है। जिस प्रकार कंकर और गेहूं, छाछ और मक्खन, मिट्टी और सोना दोनों साथ-साथ रहते है, उसी प्रकार जीव और अजीव/पुद्गल दोनो साथ-साथ रहते हैं। जिस प्रकार गेहूं को नही समझनेवाला गेहूं और कंकर को अलग-अलग नही कर सकता, मक्खन को नही जाननेवाला छाछ से मक्खन पृथक् नही कर सकता, सोने को नही जाननेवाला मिट्टी से सोने को नही निकाल सकता, उसी प्रकार जीव को नही समझनेवाला जीव और अजीव के भेद को नही जान सकता। इसीलिए जीव को जानना बहुत जरूरी है।

उपयोगलक्षणो जीवः।

'उपयोग' लक्षण है जिसका' वह तत्त्व जीव कहलाता है। प्रश्न होगा 'उपयोग' किसे कहते है ? साधारण बोलचाल में उपयोग का अर्थ होता है—काम मे लेना। पर जैसा कि मैने पहले भी कई बार कहा, हर शब्द हर स्थान में एक ही अर्थ मे व्यवहृत नही होता। भिन्न-भिन्न स्थानों में वह भिन्न-भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत संदर्भ मे 'उपयोग' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

चेतनाव्यापारः—उपयोगः।

चेतना—ज्ञानदर्शनात्मिका। तस्या व्यापारः—प्रवृत्तिः उपयोगः।

चेतना के व्यापार को उपयोग कहा जाता है। चेतना क्या है ? चेतना है—ज्ञान व दर्शन। इसलिए हम कह सकते है कि ज्ञान-दर्शन की प्रवृत्ति 'उपयोग' है।

चेतना का विस्तार क्षेत्र

हम कानों से अनेक शब्द सुनते है। आंखो से विभिन्न रूपो को देखते हैं। नाक से गंध लेते है। जीभ से रस का अनुभव करते है। शरीर/त्वचा

से स्पर्श का ज्ञान करते है। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श का ज्ञान होना चेतना का व्यापार है। कान, आंख, नाक, जीभ और शरीर/त्वचा—इन सब मे चेतना परिव्याप्त है। इसे भावेन्द्रिय कहते है। पांच भावेन्द्रियों के अतिरिक्त भाव मन भी चेतन है। मन से सुख-दुःख का अनुभव करना चेतना का व्यापार है।

पांच इन्द्रियो और मन की चेतना के विभिन्न स्तर हैं। उसके द्वारा हम विभिन्न रूपों में ज्ञान करते हैं। वह स्थूल चेतना है। स्थूल चेतना पुद्गलसापेक्ष होती है। किसी व्यक्ति की आंखें चली गई तो वह देख नही सकता। यद्यपि देखने की शक्ति उसके पास विद्यमान है पर पौद्गलिक यंत्र के खराव हो जाने से उस शक्ति का कोई उपयोग नही होता। इसलिए हम तात्त्विक चर्चा मे अचक्षु आदमी के इन्द्रिया पांच ही स्वीकार करते हैं। वास्तव में हमें ऊपर से जो इन्द्रियां दिखाई देती है, वे उनके पौद्गलिक आकार है। इन्द्रियों में ज्ञान करने की चेतना तो अन्दर विद्यमान होती है। पर वह चेतना पौद्गलिक उपकरणो (इन्द्रियो और मन) की सहायता के विना अपना व्यापार नही कर सकती, इसलिए उस चेतना को स्थूल चेतना माना गया है।

उस स्थूल चेतना के अतिरिक्त एक सूक्ष्म चेतना और है। सूक्ष्म चेतना पुद्गलसापेक्ष नही है। यानी उस चेतना को अपना व्यापार करने मे किसी भी प्रकार के पौद्गलिक उपकरणो (इन्द्रिय और मन) की अपेक्षा नही होती। वह आत्मा के स्तर पर अपना कार्य करती है। अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान इस कोटि में आते हैं। स्थूल चेतना मे मति और श्रुत ज्ञान को जानना चाहिए।

अधजल गगरी छलक जाये

चेतना का सर्वाधिक विकसित रूप केवलज्ञान है। सचमुच यह स्थिति गर्व करने जैसी है। मति और श्रुत ज्ञान तो उसके सामने बहुत ही नगण्य हैं। पर मजे की वात तो यह है कि फिर भी लोग अपने ज्ञान पर्व करते हैं। केवलज्ञानी अपने ज्ञान का किंचित् भी अभिमान नही करते। वस्तुतः अभिमान करना अपूर्णता का प्रतीक है। पूर्णता की स्थिति में कभी कोई अभिमान नही कर सकता। सांप के पास कितना जहर होता है, पर वह कभी भी अपने जहर का प्रदर्शन नही करता। लेकिन विच्छू, जिसके पास बहुत थोड़ा जहर होता है, अहं करता है। उसका प्रदर्शन करने के लिए वह अपनी पूंछ ऊंची करके चलता है।

सुयश बनाम आत्म-निर्जरा

छोटे आदमी की यह सबसे बड़ी पहचान है कि वह कार्य कम करता है और उसका प्रदर्शन अधिक करता है। उसके कार्य करने के पीछे कर्त्तव्य-

बुद्धि कम या नही के बराबर होती है और नाम/प्रतिष्ठा की भावना अधिक होती हैं। पर महान् व्यक्ति की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न होती है। वह कर्त्तव्य-बुद्धि से ही कार्य करता है। भगवान महावीर ने साधना की भूमिका प्रस्तुत करते हुए कहा—साधक को मात्र आत्म-निर्जरा की भावना से प्रवृत्ति करनी चाहिए। यश/प्रतिष्ठा/नाम के लिए कोई भी कार्य मे प्रवृत्त नही होना चाहिए। सचमुच यह गहरी बात है। जिस साधक के जीवन में यह आत्म-निर्जरा/कर्म-निर्जरा की भावना जितनी प्रबल होती है, उसकी साधना उतनी ही अधिक तेजस्वी बनती है। हालांकि कर्म-निर्जरा की भावना से किए जानेवाले कार्य मे यश, कीर्ति, प्रतिष्ठा आदि बातें भी प्रासंगिक फल के रूप मे सहज ही प्राप्त होती हैं, पर सफल साधक इनकी किंचित् भी आकांक्षा नही करता। इनके लिए अलग से पुरुपार्थ नही करता।

मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूं। इससे सैकड़ों-हजारों लोग सहजरूप से ही लाभान्वित होते हैं, पथ-दर्शन प्राप्त करते हैं। कुछ लोग मेरी प्रशंसा भी कर सकते है। पर मेरे प्रवचन करने का मूलभूत उद्देश्य लोगों को लाभान्वित करना, उनका पथ-दर्शन करना या प्रशसा पाना नही, अपितु आत्म-निर्जरा ही है। हां, इतना अवश्य है कि मेरी इस आत्म-निर्जरा की प्रवृत्ति का ज्ञान-प्राप्ति के लिए पूरा-पूरा उपयोग होता है तो मुझे सहजरूप से अतिरिक्त प्रसन्नता की अनुभूति होती है। पर उसका पूरा उपयोग यदि नही भी होता है तो मेरी आत्म-निर्जरा मे कही कोई कमी नही आती।

बन्धुओ! मेरे अन्तःकरण की बहुत बड़ी तड़फ है, भावना है कि समाज का हर भाई और बहिन तत्त्व-ज्ञान सीखे। यह माना कि सबका क्षयोपशम समान नही होता, इसीलिए सब समान रूप से तत्त्वज्ञ नही हो सकते। तथापि एक सीमा तक तो तत्त्व का ज्ञान प्रत्येक जैन और तेरापंथी कहलानेवाले व्यक्ति को होना ही चाहिए। मैं देख रहा हू, समाज मे इन दिनो तत्त्व-ज्ञान के प्रति थोड़ी अरुचि या उपेक्षा हो रही है। यह उचित नही है। इस अरुचि या उपेक्षा को मिटाना चाहिए और ज्ञान-प्राप्ति के लिए अभिरुचि जागृत करनी चाहिए। प्रारंभिक भूमिका तक तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से 'कालू तत्त्व शतक' अत्यत उपयोग और आवश्यक है। इस ग्रथ का यदि सांगोपांग अध्ययन कर लिया जाता है तो मानना चाहिए कि प्रारंभिक स्तर तक तत्त्व की जानकारी हो गई है। मै आप लोगो को आह्वान करता हू कि आप इस ग्रंथ का अध्ययन अवश्य करें। जो लोग नियमित रूप से इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहेगे, उनके लिए मैं स्वयं प्रतिदिन समय देने का सभावित प्रयास करूंगा।

गंगाशहर

११ अगस्त, १९७८

स्वयं के अस्तित्व को पहचानें

साधना का अर्थ

कल से मैंने नौ तत्त्वों का विवेचन प्रारम्भ किया था। जैसा कि आपने कल जाना—नौ तत्त्वों मे कुछ हेय है, कुछ उपादेय हैं, पर ज्ञेय सभी नौ ही तत्त्व है। साधना की दृष्टि से इस विवेचन का वहुत महत्त्व है। क्योंकि जानने, छोडने और ग्रहण करने का ही दूसरा नाम साधना है। जव तक इन तीनो की समन्विति नही होती, तव तक साधना फलित नही हो सकती। कुछ लोग कहते है कि साधना के लिए कुछ भी छोडने की क्या अपेक्षा है? मैं उनसे पूछना चाहता हू, वुराई को छोडे विना वे अच्छाई को स्वीकार कैसे करेंगे? अच्छाई को स्वीकार करना है तो वुराई को छोडना ही होगा। इसलिए आपकी यह सहज मनोवृत्ति और संस्कार होना चाहिए कि आप अच्छाई को ग्रहण करें और वुराई का परित्याग करें। हां, आपको कोई अच्छाई छोड़ने की वात कहे तो अवश्य आपके मन मे प्रश्नचिह्न हो सकता है, आपके लिए यह चिन्तन का विपय वन सकता है। पर वुराई छोड़ने में चिन्ता और चिन्तन किस वात का? आपसे कोई रोटी छोड़ने की वात कहे तो निस्संदेह यह आपके लिए कठिन हो सकता है। पर आपको यदि मिट्टी छोडने के लिए कहा जाए और आप घवराए तो यह आश्चर्य की वात है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी तत्त्वों को जानना और उनमें उपादेय को ग्रहण करना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी है—हेय को छोड़ना।

एक ही सिक्के के दो पहलू

वस्तुत. अच्छाई को ग्रहण करना और वुराई को छोड़ना—दोनो अलग-अलग वातें नही, अपितु एक ही सिक्के के दो पहलू है। यदि हम एक पक्ष को स्वीकार करते हैं तो दूसरा पक्ष सहज ही हमारे लिए स्वीकार्य हो जाता है। अच्छाई को स्वीकार करने का अर्थ ही है—वुराई को छोडना। वुराई को छोड़ने का अर्थ ही है—अच्छाई का सग्रहण। अच्छी-अच्छी वातें ग्रहण की कि वुरी-वुरी वातें स्वय छूट जाएंगी। इसी प्रकार वुराइयां छूटी कि शेप अच्छाइया रह जाएंगी। पाप को छोड़ने का अर्थ है—धर्म का संग्रहण तथा

धर्म की स्वीकृति का फलित है—पाप-मुक्ति। कहने का तात्पर्य यह है कि बुराई का परित्याग और अच्छाई का संग्रहण—इन दोनों बातों का एक ही परिणाम है। इसलिए मैंने कहा कि उपादेय को स्वीकार करना और हेय को छोड़ना दोनों एक ही बात है। पर समझने की सुविधा के लिए इन्हे अलग-अलग करके बताया जाता है।

नौ तत्त्वों मे सबसे पहले हमने जीव पर चर्चा प्रारम्भ की थी, क्योकि जीव को जानना सबसे जरूरी है। आप कहेंगे, यह तो अपने स्वार्थ की बात है। चूंकि हम सब जीव हैं, इसलिए सबसे पहले जीव की चर्चा करते है।

स्वार्थ बुरा भी, अच्छा भी

मै नही समझता,स्वार्थ को आप बुरा ही क्यों मानते हैं? स्वार्थ वही बुरा है, जो दूसरों के हितों को चोट पहुंचाता हो। जो स्वार्थ दूसरों के हितो को नही रोकता, वह कभी भी बुरा नही कहा जा सकता। एक व्यक्ति ध्यान करता है, स्वाध्याय करता है, यह क्या स्वार्थ नही है? स्वार्थ है, पर यह स्वार्थ कभी भी अनुचित नही ठहराया जा सकता। क्योंकि इसमें किसी के हितो को नुकसान नही पहुंचता। इस संदर्भ में एक बात और जान लेने योग्य है—व्यवहार मे हमे बहुत से कार्य परार्थ लगते है, पर वास्तव में वे परार्थ नही, स्वार्थ ही होते है। उदाहरणार्थ—कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को विद्या/ज्ञान देता है। समान्यतः ज्ञान-दान तो परार्थ समझा जाता है। परोपकार की संज्ञा दी जाती है। पर तत्त्वतः वह परार्थ नही, स्वार्थ ही है। क्योंकि पढ़ाया जानेवाला व्यक्ति ज्ञान प्राप्त कर सकेगा या नहीं कर सकेगा, यह कोई निश्चित नही है। पर ज्ञान दान देनेवाला तो निश्चित ही लाभान्वित होता है। उसका ज्ञान तो निस्सदेह ही बढ़ता है। मैं आपके सामने प्रवचन करता हू। आप इसे परार्थ/परोकार कह सकते है। पर वास्तव मे यह कोई परार्थ/परोपकार नही, अपितु स्वार्थ ही है। क्योंकि प्रवचन करके मैं अपने अनन्त-अनन्त कर्मो का क्षय कर रहा हूं। यह ठीक है कि लोग प्रवचन से लाभान्वित होते है और पथ-दर्शन प्राप्त करते है। पर दो क्षण के लिए यदि ऐसा भी मान लिया जाए कि लोग प्रवचन से लाभान्वित नही होते है, तथापि मेरी आत्म-निर्जरा में कोई कमी आनेवाली नही है। वस्तुतः ऐसे कार्यो को एकांत परोरकार मानना चिंतन की भूल है। क्योंकि परोपकार का अर्थ है—कार्य करके किसी को आभारी बनाना। हम प्रवचन या धर्मोपदेश किसी को आभारी बनाने के लिए नही, अपितु मात्र अपने कर्त्तव्य-निर्वाह/आत्म-निर्जरा की दृष्टि से ही करते है। ऐसी स्थिति में परोपकार का कोई प्रश्न ही नही उठता। इसलिए मैंने कहा कि उत्कृष्ट कोटि का स्वार्थ (जहां किसी का नुकसान नही होता, बल्कि लाभ ही संभावित है।) कभी भी बुरा नही कहा जा सकता। जीव को जानना भी इस दृष्टि से स्वार्थ मान भी

लिया जाए तो कोई कठिनाई नही है ।

मैं कौन हूं ?

आप पूछेंगे, क्या हम (जीव) अपने आपको नही जानते ? हां, नही जानते । यदि आप स्वय से परिचित होते तो आज आपकी यह दुर्दशा नहीं होती ।

एक दार्शनिक की रात में दो-तीन बजे नींद टूट गई । उसे समय का कोई ख्याल नही हुआ । 'मैं कौन हूं ?', 'कहां से आया हूं ?', 'कहां जाऊंगा ?' आदि प्रश्नो के चिन्तन-चिन्तन में वह घर से बाहर निकल गया । चलते-चलते वह एक बगीचे के पास पहुंचा । वह किसी श्रेष्ठी का व्यक्तिगत बगीचा था । बगीचे के द्वार पर एक संतरी पहरा दे रहा था । असमय में अपरिचित व्यक्ति को उधर आते देख उसने उस दार्शनिक से पूछा—"तुम कौन हो ?"

पर वह दार्शनिक तो अपनी धुन मे आगे-से-आगे बढता ही आ रहा था । 'कहां जा रहा हूं ?', 'क्यों जा रहा हूं ?' इत्यादि बातो का उसे कोई ख्याल ही नही था । संतरी ने दुबारा पूछा । पर उसे कोई जवाब नहीं मिला । जब वह दार्शनिक उस सतरी के बिलकुल समीप आ गया और लगभग टकराने की स्थिति आ गई तो उसने उसे पकड़कर झकझोरते हुए पुन वही प्रश्न दुहराया—"तुम कौन हो ?"

अब दार्शनिक को ख्याल आया कि मैं कही गलत स्थान पर आ गया हूं । उसने कहा—"यदि यही मुझे मालूम होता कि 'मैं कौन हूं ?' तो यहां आता ही क्यो ? अपने आप से अपरिचित होने के कारण ही तो मेरी यह हालत हुई है ।"

क्या आप मन के गुलाम नहीं हैं ?

बन्धुओ ! यही स्थिति आप लोगों की है । अपने आपको नही पहचानने के कारण ही विभिन्न रूपों मे आपकी दुर्गति हो रही है । स्वय के अस्तित्व से अनभिज्ञ होने के कारण ही आप कभी आग्रह के गुलाम बन जाते है, कभी क्रोध के गुलाम बन जाते है, कभी अहंकार के गुलाम बन जाते हैं......यदि स्वयं को जान लेते तो यह गुलामी फिर आप नही करते । गुलामी शब्द आपको बिलकुल पसन्द नही है, फिर भी आप सब गुलाम हैं । मैं आपसे पूछना चाहता हूं, माता-पिता की गुलामी चाहे आप नही करते, गुरुजनो की गुलामी भी आपने छोड़ दी, पर मन के गुलाम है या नही ? तन कहता है कि होटल मे जाना ठीक नहीं है, वहां का खाद्य मेरे अनुकूल नही है, फिर भी मन आपको वहां ले ही जाता है । ऐसी स्थिति मे क्या आप मन के गुलाम नहीं हैं ? पर यह स्थिति केवल आपकी ही नही है, अपितु सारे संसार की है । यह मन की गुलामी ही तो कारण है कि आदमी नाना प्रकार के दुर्व्यसनों मे फंस जाता

है। कषाय मे अन्धा वन जाता है। वासना उस पर हावी हो जाती है।

प्रसंग गोस्वामी तुलसीदासजी का

कल पूरे राष्ट्र में गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्म-जयन्ती मनाई गई। सचमुच वे भारतीय परम्परा के एक महान् कवि थे। अपनी लेखनी से उन्होंने एक ऐसे महान् ग्रन्थ का निर्माण किया, जिसमें भारतीय संस्कृति कूट-कूट के भरी पड़ी है। इस कार्य के लिए भारतीय समाज युगों-युगों तक उनका आभारी रहेगा। पर उनका प्रारम्भिक जीवन कैसा था ?—यह शायद वहुत सारे लोग नही जानते। कहा जाता है कि वे अपनी युवावस्था में वासना के दास थे। स्थिति यहां तक थी कि पत्नी से एक दिन भी अलग रहना उनके लिए असह्य था। एक वार वे किसी आवश्यक कार्यवश वाहर गए। पीछे से पत्नी अपने पीहर चली गई। जव वे वापस आए तो पत्नी को घर मे न पाकर बिलकुल खेद-खिन्न हो गए। उन्ही पैरो वे पत्नी से मिलने ससुराल रवाना हो गए। रास्ते में अनेक नदियां, नाले व घाटिया पार करके वे ससुराल पहुंचे। पतिदेव का विना कोई पूर्व सूचना के यो ससुराल मे आना उनकी पत्नी को वहुत बुरा लगा। उसे अत्यधिक शर्म व संकोच का अनुभव हुआ। अवसर देखकर उसने कडे उपालम्भ-भरे शव्दो मे कहा—"आपको मेरे पीछे-पीछे यहां आने की क्या जरूरत थी ? क्या लोक-लज्जा का आपको तनिक भी ख्याल नही ? मेरे पीहरवाले आपको क्या समझेगे ? माना कि आपका मेरे प्रति अत्यधिक प्रेम है। पर जितना प्रेम आप मुझसे करते है, उतना प्रेम यदि राम से करने लग जाए तो क्या आपका कल्याण न हो जाए ?"

पत्नी के इन शव्दो ने तीर का-सा काम किया। उनका हृदय विंध गया। वासना प्रभु-उपासना मे रूपान्तरित हो गई। ठीक है, अव तो 'रमा (स्त्री) से नही, राम से प्रेम करूगा'—इस दृढ सकल्प के साथ वे तत्काल वहां से जंगल की ओर प्रस्थित हो गए। वापस मुड़कर उन्होने कभी घर की तरफ देखा तक नही। वर्षो तक जंगल मे साधना करते रहे। 'राम' नाम की धुन लगाते रहे। राम के सिवाय उन्हे अव कुछ भी नही सुहाता। जहां राम का नाम नही, वह स्थान/वह वस्तु उन्हे अखरने लगी।

कहा जाता है कि वे एक वार घूमते-घूमते वृन्दावन चले गए। वहां लोग राधेश्याम की रटन लगा रहे थे। राम का उन्होने कही नाम नही सुना। यह स्थिति उनके लिए असह्य हो गई। उनका रामभक्त हृदय वोल उठा—

'तुलसी' या व्रजभूम में, आक, ढाक औ कैर।
राधे-राधे रटत है, का राम नाम से वैर ?'

मेरे कथन का साराश यही है कि जिस दिन व्यक्ति अपनी मिल्कियत

को जान लेता है, उसे अपने अस्तित्व का बोध हो जाता है, यानी स्वयं को वह यथार्थ रूप में पहचान लेता है, फिर सभी प्रकार की गुलामियों से मुक्त होते उसे समय नहीं लगता। जब तक स्वयं की पहचान नही हो पाती, अपने अस्तित्व का अवबोध नही होता, तभी तक उस पर कभी क्रोध का नशा चढता है। कभी वह वासना का दास बनता है। कभी अहंकार के दल-दल मे फंसता है।....

अहंकार अज्ञान का सूचक है

अहकार वस्तुतः व्यक्ति के अज्ञान का ही सूचक है। हमारे धर्मसंघ के मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी बहुधा कहा करते थे कि हम अनंत-अनंत बार बेर की गुठली बन कर लोगों के पैरो के नीचे रौंदे गए है। ऐसी स्थिति मे फिर हमारे लिए अभिमान करने को शेप रहता ही क्या है? पर अभिमान की स्थिति बड़ी विचित्र है! आदमी के पास थोडी-सी सपत्ति हो जाए, थोडा-सा ज्ञान हो जाए, वह तत्काल अभिमान मे अधा हो जाता है। वह सोचता है कि संसार मे सबसे बड़ा आदमी मैं ही हू।

कहां है तुम्हारी जमीन ?

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात के पास एक बहुत बड़ा फ्रासीसी जमीदार आया। पर वह जितना बडा जमीदार था, उससे भी बड़ा उसका अहं था। सुकरात ने पूछा—"तुम कौन हो ?"

इस प्रश्न के साथ ही उसका अहकार जागृत हो गया। उसने जरा अकड़ कर सुकरात से कहा—"क्या आप इतना भी नही जानते कि मैं फ्रांस देश का सबसे बड़ा जमीदार हू।"

"कहां है तुम्हारी जमीन ?"—सुकरात का अगला प्रश्न था।

"अमुक जिले की अमुक तहसील मे मेरी बहुत बडी जमीन है।"—उसी अकड़ मे उसने कहा।

सुकरात ने तत्काल विश्व का मानचित्र मंगवाया और उसकी ओर बढाते हुए पूछा—"इस ससार मे कहा है तुम्हारा देश ?"

उसने बड़े ध्यान से मानचित्र को देख कर मुश्किल से छोटे-से फ्रांस देश को पकडा। तब सुकरात ने प्रश्न किया—"इस देश में कहा है तुम्हारा जिला ?"

विश्व के मानचित्र में एक जिले का क्या पता चले पर फिर भी उसने अन्दाज से एक बिंदु बना दिया अपने जिले के लिए।

"इस जिले मे कहा है तुम्हारी तहसील ? कहां है उसमे तुम्हारी जमीन ?"—सुकरात के प्रश्न की श्रृंखला आगे-से-आगे चालू थी।

जब जिला भी मानचित्र मे नही दिखाया गया, तब तहसील का तो पता ही कैसे चलता ? तथापि अपने अहं को पोषण देते हुए अपनी तहसील के

लिए उसने फिर एक सूक्ष्म विन्दु वनाया। पर अपनी जमीन को वह कैसे दिखाता? उसने झुंझलाते हुए कहा—"क्या जमीन भी कही मानचित्र में दिखाई जाती है?"

"जब संसार के मानचित्र मे तुम्हारी इतनी वड़ी जमीन का कोई स्थान ही नही है, फिर तुम किस वात का अभिमान कर रहे हो?"—उसके अहंकार पर चोट करते हुए सुकरात ने कहा।

अथाह ज्ञानसागर

वन्धुओ! यही वात मैं आपसे कह रहा था। व्यक्ति के पास थोड़ा-सा धन हुआ कि उसके पैर जमीन पर टिकने मुश्किल हो जाते है। थोड़ा-सा ज्ञान हुआ कि उसका दिमाग सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। सामान्य लोगों से सीधे मुंह वात करने में वह अपना अपमान समझता है। पर मैं नही समझता, यह अभिमान किस वात का है? केवलाज्ञानी के ज्ञान के सामने उसका ज्ञान एक विन्दु भी नही होता। केवलज्ञानी अपने ज्ञान का गर्व करे तो कर सकते हैं। पर वे कभी ऐसा करते नहीं। और जिसके पास अभिमान करने जैसा कुछ भी नही, वह झूठा अभिमान करता है। युवक लोग सोचें इस वात को। क्या यह वास्तविकता नही है? सामान्य-सा पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करके क्या वे अपने आपको विद्वान् तो नहीं मान वैठे हैं? कहा जाता है कि अगस्त्य ऋषि ने तीन चलु में सारे सागर का पानी पी लिया था। कही युवक लोग भी ऐसा तो नही सोचते कि दो-चार पुस्तकें पढकर उन्होने समग्र/अथाह ज्ञान प्राप्त कर लिया है। यदि ऐसा सोचते हैं तो वे सचमुच भयंकर भूल करते है। ज्ञान अनन्त है। वह दो-चार पुस्तकों के पढने से कदापि प्राप्त होनेवाला नही है। उसके लिए वहुत लम्वी साधना अपेक्षित है।

हां, तो मैं अव अपने मूल विषय पर लौटता हूं। सवसे पहले हम जीव को समझे। जैसा कि कल मैंने वताया था, जिसमें उपयोग होता है, वह जीव है। उपयोग, चेतना की ज्ञान-दर्शनमय प्रवृत्ति का नाम है। प्रश्न पूछा जा सकता है कि उपयोग के कितने प्रकार हैं?

साकारोऽनाकारश्च।

उपयोग के दो प्रकार हैं—

१. साकार।

२. अनाकार।

साकार और अनाकार उपयोग की विस्तृत चर्चा मैं आज नही करूंगा। उसे आगे के लिए छोड़ता हूं। फिर भी आप संक्षेप में इतना-सा समझ लें कि ज्ञान को साकार उपयोग और दर्शन को अनाकार उपयोग कहा गया है।

साकार और अनाकार शब्द आप लोगो के लिए नए नही है।

क्योंकि व्यवहार में इनका काफी प्रयोग होता है। हम देखते हैं, कुछ लोग भगवान के साकार रूप के उपासक होते हैं तो कुछ लोग अनाकार रूप के। आप पूछ सकते है कि जैन दर्शन इन दोनो में से किस रूप को स्वीकार करता है ? जैन दर्शन अपेक्षाभेद से साकार और अनाकार दोनों ही रूपों में भगवान को स्वीकार करता है। अरहन्त/तीर्थंकर सशरीर होते है। उनको स्पष्ट देखा जाता है। वे साकार भगवान है। अशरीर यानी जो आत्माएं सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाती है, वे निराकार भगवान है।

आप इन तथ्यो को गहराई से समझे। मैं एक ही वात को वार-वार इसलिए कहता हूं कि जिससे शिक्षित, कम शिक्षित और अशिक्षित सभी प्रकार के लोग इन तत्त्वो की वातो के गहराई से समझ सके। मैं अपना प्रयास कर रहा हू। पर इस प्रयत्न की बहुत वडी सफलता आप लोगो पर निर्भर है। मुझे आशा है कि आप तत्त्व-ज्ञान को हृदयंगम कर इस प्रयास को अवश्य सफल वनाएगे।

गंगाशहर
१२ अगस्त, १९७८

परिवर्तन का प्रारम्भ कहां से ?

साकार और अनाकार उपयोग की चर्चा कल मैंने प्रारम्भ की थी। जिस जानकारी में पदार्थ का स्पष्ट चित्र व्यक्ति के सामने आ जाए, वह साकार उपयोग है। जिस जानकारी मे स्पष्ट चित्र सामने न आए, वह अनाकार उपयोग है। उदाहरणार्थ—एक व्यक्ति ने दरवाजे मे प्रवेश किया। प्रवेश करते ही प्रथम क्षण मे उसने देखा कि कुछ है। पर क्या है ? कौन है ? कौन प्रवचन कर रहा है ? किस विषय पर प्रवचन हो रहा ?—इन बातों की जानकारी उस प्रथम क्षण मे उसे नही होती। यह अनाकार उपयोग है। अब दूसरे क्षण मे वह जानता है, साधु बैठे है, साध्वियां बैठी है……यह सारी जानकारी साकार उपयोग है। साकार उपयोग को ज्ञान और अनाकार उपयोग को दर्शन कहते है।

चक्षु दर्शन : अचक्षु दर्शन

लोग सामान्यतः दर्शन का अर्थ आंखो से देखना और ज्ञान का अर्थ दिमाग से जानना समझते है। पर वास्तव मे केवल आंखों से देखना दर्शन नही है। जब तक दिमाग का सहयोग नही मिलता, तब तक चाहे कोई व्यक्ति कितनी ही आंखें फाड़-फाड़ कर क्यों न देखे, उसे दिखाई नही देगा। दर्शन नही होगा। दर्शन तभी होगा, जब आंखों को दिमाग का सहयोग प्राप्त होगा। यह दर्शन चक्षु दर्शन कहलाता है।

आंखों की तरह ही दिमाग के सहयोग से कान, नाक, जीभ और स्पर्श से भी देखा जाता है। यह भी दर्शन है। पर यह दर्शन चक्षु दर्शन नही, अचक्षु दर्शन कहलाता है। जैसे—आपके कानो मे कोई ध्वनि पड़ी। आपने आंखों से कुछ नही देखा। पर कानो मे ध्वनि पडते ही आपने देखा कि कुछ है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों तथा मन के द्वारा जो प्रथम क्षण का दर्शन होता है, वह अचक्षु दर्शन कहलाता है।

ज्ञान : अज्ञान

प्रथम क्षण के दर्शन के पश्चात् जब व्यक्ति अवग्रह, ईहा, अवाय और

धारणा मे जाता है तो 'कुछ है' इस अस्पष्ट चित्र को क्रमश. स्पष्ट बना लेता है। यह ज्ञान कहलाता है।

ज्ञान के सम्बन्ध में एक बात जान लेनी बहुत जरूरी है। ज्ञान के साथ सम्यक् और असम्यक् दृष्टिकोण का बहुत गहरा सम्बन्ध है। यदि ज्ञान के साथ व्यक्ति का दृष्टिकोण सही नही है, यानी गलत है तो उसका ज्ञान ज्ञान न कहलाकर, अज्ञान कहलाएगा। अयथार्थ दृष्टिकोणवाले की विद्या विद्या नही, अविद्या कहलाएगी। जैन दर्शन मे जिसे ज्ञान कहा गया है, उसे वेदात मे विद्या बतलाया गया है। आप इस बात पर गहराई से ध्यान दे कि अज्ञान का अर्थ मात्र ज्ञान का अभाव नही है, अपितु मिथ्या दृष्टिकोणयुत ज्ञान भी अज्ञान ही है।

हम देखते हैं, ज्ञान तो छोटी-छोटी चीटियो को भी होता है और किसी अपेक्षा से तो उन्हे हम से भी अधिक होता है। मान लीजिए, यहा पर कही जरा-सी चिकनाहट है। आपको सभवत: उसका पता नही लगेगा। पर चीटियो को तुरन्त पता लग जाएगा। वे सैकडो की सख्या मे वहा आकर इकट्ठी हो जाएगी। हम जहा भोजन करते हैं, उस स्थान को साधु लोग हाथ से साफ करते है। मै उनसे कहता हूं, सफाई ठीक से करना, कही असावधानी से कुछ रह न जाए। तुम्हारी सफाई की परीक्षा चीटिया और मक्खियां करेगी। सफाई करने के बावजूद भी जब कभी कुछ रह जाता है तो तत्काल चीटिया और मक्खिया वहा आकर बैठने लगती है। तब मैं साधुओ से कहता हू, यहा दुबारा सफाई करो। यहां कुछ-न-कुछ रह गया है। कहने का साराश यह है कि चीटियो, मक्खियो आदि को भी कोई अपेक्षा से हमारे से अधिक ज्ञान हो सकता है। पर सम्यग् दृष्टिकोण के अभाव मे उनका ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है।

प्राथमिक अपेक्षा

हम प्रतिक्रमण मे प्रतिदिन कहते है—'**मिच्छत्त परियाणामि, सम्मत्तं उवसपवज्जामि।**' अर्थात् मैं मिथ्यात्व को छोड़ता हू और समयक्त्व को स्वीकार करता हू। यह मिथ्यात्व क्या है ? यह सम्यक्त्व क्या है ? मिथ्यात्व का अर्थ है—दृष्टिकोण की अयथार्थता। सम्यक्त्व का अर्थ है—दृष्टिकोण की यथार्थता। आप गृहस्थ हैं। गृहस्थ को जीवनयापन के लिए अनेक प्रकार की हिंसा करनी पड़ती है। क्योकि उसके बिना उसका काम नही चलता। पर काम नही चलता या अनिवार्य है, इसलिए हिंसा अहिंसा नहीं हो सकती। हिंसा को हिंसा ही समझा जाए और अहिंसा को अहिंसा—यह दृष्टिकोण की यथार्थता सम्यक्त्व है। अर्थात् हिंसा को हिंसा, अहिंसा को अहिंसा, अधर्म को अधर्म और धर्म को धर्म मानना सम्यक्त्व है। पर हिंसा को यदि अहिंसा

माना जाता है तो दृष्टिकोण अयथार्थ हो जाता है। मिथ्यात्व आ जाता है। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा यह है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ बने। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो जाता है तो फिर बुराई से मुक्त होने मे समय नही लगता। पर जब तक दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, तब तक वह बिना मजबूरी भी बुराई को पकड़े रहता है।

दही खूब खाओ !

वैद्य के पास एक खांसी का मरीज आया। वैद्य उसकी नब्ज देखकर उसे कुछ औषध/उपचार बताता उससे पहले ही वह बोला—"वैद्यजी ! मैं कड़वी-से-कडवी दवा लेने को तैयार हूं, पर दही छोड़ने के लिए आप मुझे मत कहना। मैं अब तक जितने भी वैद्यों के पास गया, वे सभी-के-सभी न जाने क्यों दवा की बात बाद में करते है और दही छोड़ने की बात पहले ही शुरू कर देते है।"

वैद्य अनुभवी था। उसने सोचा—मनोवैज्ञानिक ढंग से बात करनी चाहिए। यदि मैं सीधा ही इसे दही छोड़ने की बात कहूंगा तो बहुत संभव है कि यह कभी भी स्वीकार नही करेगा और दूसरे-दूसरे वैद्यों की तरह मुझे भी..........। अत. उसने रोगी से कहा—"दही छोड़ने की कोई अपेक्षा नही है। तुम दही खूब खाओ। अब तक यदि दो बार खाते थे तो आज से चार बार खाना शुरू कर दो।"

मरीज वैद्य की बात सुनकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"आप ही मुझे एक अच्छे और समझदार वैद्य मिले है। शेष तो जितने वैद्य आज तक मिले, वे सारे-के-सारे मूर्ख थे। अच्छा, अब मुझे दवा क्या लेनी है ?"

"दवा की कोई जरूरत नही। दही स्वयं दवा है। कहा गया है—

'कासे दध्नो भोजनेन, लाभाः सन्ति त्रयो ध्रुवम् ।
न वार्धक्यं न वा चौर्यं, न श्वा भक्षयति क्वचित् ॥'

—खांसी में दही खानेवाले को तीन लाभ होते हैं—वह कभी बुढ़ापे को प्राप्त नही होता। (उसका शरीर इतना जर्जरित हो जाता है कि बुढ़ापा आने से पूर्व ही वह काल को प्राप्त हो जाता है।) उसके घर में कभी चोरी नहीं होती। (रात भर खांसते-खांसते निकालनी होती है। नीद हराम हो जाती है। घर का कोई सदस्य जागता हो, ऐसी स्थिति में चोर आएगा ही कैसे ?) उसे कुत्ता नही काटता। (निरंतर खांसने से उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। श्वास फूलने लगता है। अतः बिना लाठी दस कदम भी चलना उसके लिए कठिन हो जाता है। और जब हाथ में लाठी हो तो कुत्ता पास आ भी कैसे सकता है ? फिर काटने की तो बात बहुत पीछे छूट जाती है।)"

वैद्य की बात सुनकर रोगी आज पहली बार दही खाने के दुष्परिणामों से परिचित हुआ। दही के प्रति उसकी आसक्ति टूट गई। वह बोला—"तब

तो मैं दही खाना छोडूंगा।"

"तुम खुशी से दिल भर दही खा सकते हो। मैं तुम्हे दही छोड़ने के लिए बिलकुल नही कहता।"—वैद्य ने उसी लहजे मे फिर कहा।

पर रोगी का दृष्टिकोण अब परिवर्तित हो चुका था। उसने उसी क्षण दही न खाने का मानसिक संकल्प कर लिया।

सबसे बड़ा पाप

मैं मानता हूं, व्यभिचार पाप है। मदिरा-पान पाप है। मास खाना पाप है। शोषण और ब्लेक-मार्केटिंग पाप है।...पर इन सबसे भी बड़ा पाप है—दृष्टिकोण की अयथार्थता। मदिरापान को बुराई मानते हुए यदि कोई व्यक्ति अपनी मानसिक कमजोरी या मजबूरीवश शराब पीता है तो वह केवल स्वय पागल बनता है, दूसरो को पागल नही बनाता। क्योंकि दृष्टि-कोण सम्यक् होने के कारण वह दूसरो को कभी भी उसके पीने की प्रेरणा या प्रोत्साहन नही देता। पर जिस व्यक्ति का इस बारे मे दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, वह स्वयं तो शराब पीकर पागल होता ही है, साथ-ही-साथ सम्पर्क मे आनेवाले दूसरे-दूसरे लोगो को भी प्रोत्साहित और प्रेरित कर उन्हे शराबी बनाने मे सहयोगी बनता है। अर्थात् वह बुराई को आगे-से-आगे बढ़ाता है।

यथार्थ दृष्टिकोण का सबसे बड़ा लाभ यह है कि आज चाहे व्यक्ति मजबूरीवश या दुर्बलतावश बुराई करता है, पर ज्योही उसकी मजबूरी समाप्त हो जाएगी या दुर्बलता मिट जाएगी, वह तत्काल बुराई से मुक्त बन जाएगा। पर जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, वह हर स्थिति मे बुराई को बढ़ावा देगा। इसलिए मैंने कहा, सब पापो मे मिथ्या दृष्टिकोण का पाप सबसे बड़ा है।

जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि

हमारे यहा प्रसिद्ध कहावत है—जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। मै मानता हू, यह बहुत गहरी और शतशः यथार्थ उक्ति है। एक राही अपने गांव से पड़ोस के दूसरे गांव को जा रहा था। मार्ग मे सामने से आता हुआ उसे एक व्यक्ति मिला। राही ने, यह जानकर कि यह व्यक्ति उसी गाव से आ रहा है, जिस गांव मे कि मैं जा रहा हूं, प्रश्न किया—"भाई! तुम जिस गाव से आए हो, वह कैसा है? वहा के लोग कैसे है?"

उस व्यक्ति ने प्रश्न का उत्तर दिए बिना ही प्रतिप्रश्न किया—"राही! तुम जिस गांव से आ रहे हो वह कैसा है? वहा के लोग कैसे है?"

"वह गाव तो बिलकुल रद्दी है। वहा के लोगो की तो बात ही मत

पूछो, इतने निम्न-स्तर के है कि कोई भला आदमी एक दिन भी उनके साथ नही रह सकता।"—राही ने अपना मंतव्य प्रकट किया।

"जिस गाव से तुम अभी आ रहे हो, उससे भी यह गांव ज्यादा खराब है। यहा के लोग तो इतने क्रूर है कि एक दिन तो बहुत बडी बात है, एक घंटा भी किसी भले आदमी का उनके साथ रहना असंभव है।"—उस व्यक्ति ने अपने गाव और गाववासियो का चित्र प्रस्तुत किया।

दोनो का वार्तालाप अभी पूरा हुआ ही नही था कि एक दूसरा राही भी उधर पहुंच गया और सयोग से उसने भी उस व्यक्ति से वही प्रश्न किया, जो पहले राही ने किया था। उस व्यक्ति ने इस बार भी प्रश्न के जवाब देने की वही शैली अपनाई, जो पहले राही के लिए अपनाई थी। 'यह गाव कैसा है और गाव के लोग कैसे है ?' इस प्रश्न के उत्तर में उसने वही प्रतिप्रश्न कर दिया—"तुम जिस गांव से आए हो, वह कैसा है और वहां के लोग कैसे है ?"

"वह गांव तो बहुत अच्छा है। वहां के निवासी अत्यन्त भले एवं शिष्ट है।"—दूसरे राही ने गांव के प्रति अपनी अवधारणा बताई।

"यह गांव तो उससे भी अधिक अच्छा है। यहा के लोगो की भद्रता और शिष्टता का तो कहना ही क्या ! एक बार उनसे मिलने के बाद उम्र भर उनकी स्मृति बनी रहती है।..........."—छूटते ही वह व्यक्ति बोल उठा।

वह पहला राही भी उन दोनो के इस वार्तालाप को सुन रहा था। उस व्यक्ति की परस्पर विरोधी बातो को सुनकर उससे रहा नही गया। उसने उस व्यक्ति को बीच मे ही टोकते हुए कहा—"इतने जल्दी बदल गए तुम ! दो मिनिट पहले तक तो इस गाव और इसके निवासियो को तुम बिलकुल निकृष्ट बता रहे थे और अब अच्छे बताने लगे।"

"तुम समझे नही मेरी बात को। गांव या गांव के वासी अच्छे या बुरे नही होते। अच्छी या बुरी तो व्यक्ति की अपनी दृष्टि होती है। जिस व्यक्ति की दृष्टि अच्छी है, उसे हर गांव और हर व्यक्ति अच्छा लगेगा। इसके विपरीत जिसकी दृष्टि दोषदर्शी है, उसे हर गांव और हर व्यक्ति बुरा ही प्रतीत होगा।"—ऐसा कहते हुए उसने महाभारत की एक कथा सुनाई—"श्रीकृष्ण के सान्निध्य मे कौरव, पाण्डव आदि सब बैठे थे। चर्चा चल पडी कि द्वारिका नगरी मे अच्छे मनुष्य कितने है और बुरे मनुष्य कितने है ? सबने अपने-अपने ढंग से समाधान दिया। पर कोई निर्णयात्मक बात सामने नही आ सकी। आखिर श्रीकृष्ण ने सबको समझाने की एक युक्ति सोची। उन्होने दुर्योधन और धर्मपुत्र युधिष्ठिर दोनो को इस बात का पूरा-पूरा ब्यौरा लाने के लिए द्वारिका में भेजा।"

"दोनों द्वारिका मे खूब घूमे। व्यक्ति-व्यक्ति से उन्होंने सम्पर्क साधा। जानकारी प्राप्त की। आखिर पूरी द्वारिका का चक्कर लगाकर वे वापस श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुए। सभा जुड़ी हुई थी। श्रीकृष्ण ने दुर्योधन से पूछा—बोलो, द्वारिका मे अच्छे आदमी कितने और बुरे आदमी कितने ? दुर्योधन ने कहा—द्वारिका का चप्पा-चप्पा मैने छान लिया। एक-एक व्यक्ति को मैंने निकटता से देखा। पर एक भी भला आदमी मुझे वहां नही मिला। सब बुरे-ही-बुरे मिले।"

"अब धर्मपुत्र की बारी थी। धर्मपुत्र से भी वही प्रश्न किया गया। धर्मपुत्र ने कहा—द्वारिका मे मैं खूब घूमा। पर मुझे तो सब भले-ही-भले मनुष्य मिले। एक व्यक्ति भी ऐसा नही मिला, जिसे मैं बुरा कह सकूं।"

"दोनो के अध्ययन एक दूसरे को बिलकुल काटनेवाले थे। अतः समस्या का समाधान नही हुआ। किसकी बात सही मानी जाए ? श्रीकृष्ण ने दोनों को क्रमशः अपने-अपने कथन को स्पष्ट करने का निदेश दिया। दुर्योधन खडा हुआ और बोला—महाराज! मै जितने व्यक्तियो से मिला, उनमे से प्रत्येक किसी न किसी बुराई से ग्रस्त है। कोई चोरी करता है। कोई झूठ बोलता है। कोई मांस खाता है। कोई मदिरा पीता है। कोई.... सर्वथा बुराई से मुक्त कोई भी व्यक्ति मुझे नही मिला।"

"अब धर्मपुत्र खड़ा हुआ। उसने कहा—मैंने व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन को टटोला है। मुझे एक भी ऐसा आदमी नही मिला, जिसके जीवन मे किसी-न-किसी प्रकार की अच्छाई/गुण न हो। कोई सत्यवादी है। कोई शीलसम्पन्न है, कोई ईमानदार है। कोई......सर्वथा गुणहीन व्यक्ति मुझे पूरी द्वारिका मे एक भी नही मिला।"

"श्रीकृष्ण ने मर्म का उद्घाटन करते हुए कहा—द्वारिका नगरी वही है, जनता वही है। पर दृष्टि अपनी-अपनी है। जहा गुणग्राही दृष्टि है, वहां सब अच्छे-ही-अच्छे है। इसके विपरीत जहां दोषग्राही दृष्टि है वहा सब बुरे-ही-बुरे है।"

इस कथा को सुनकर वह राही तत्त्व को समझ गया। बन्धुओ! आप भी समझ गए होगे तत्त्व को। ज्ञान से पहले अपने दृष्टिकोण को सही बनाने की अपेक्षा है। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही है तो बुराई से ग्रसित होने के बावजूद भी उस व्यक्ति से बहुत अच्छा है, जो बुराई न करता हुआ भी बुराई को अच्छा समझता है। जैसा कि मैने अभी कहा था, दृष्टिकोण सम्यग् बनने के पश्चात् व्यक्ति बुराई को छोडने की दिशा मे बहुत आसानी से गतिशील हो जाता है, जबकि दृष्टिकोण अयथार्थ/मिथ्या बनने के पश्चात् व्यक्ति बुराई को छोड़ सकने की स्थिति मे होने के बावजूद भी उससे मुक्त नही हो पाता।

यों तो हम गृहस्थ हैं!

मैं यात्रा पर था। एक गांव मे मैने प्रवचन किया। धर्म-प्रवचन सुनने का अधिकार हर व्यक्ति को है, इसलिए मेरे प्रवचन मे केवल जैन या तेरापन्थी ही नही, अपितु विभिन्न वर्गों के लोग उपस्थित थे। एक सेना के अफसर ने भी प्रवचन सुना। प्रवचनोपरांत मैं अपने स्थान पर गया। वह अफसर भी वहा पर आया और मेरे सामने आकर बैठ गया। मैंने उससे बातचीत करनी शुरू की। मेरे पीछे कुछ जैन बन्धु भी बैठे थे। उस व्यक्ति से मुझे वार्तालाप करते देख उन्होंने संकेतों के द्वारा मुझे कुछ समझाने की चेष्टा की। पर मैने उनके संकेतों की तरफ कुछ भी ध्यान दिए बिना वार्ता चालू रखी। परिणामतः उन्होंने फिर प्रयत्न किया मुझे कुछ समझाने का। एक भाई ने आकर मेरे पट्ट को पीछे से खटखटाया। पर उनका यह प्रयत्न भी असफल रहा। इस बार उनका प्रयत्न और तीव्र था। एक भाई ने मेरे कान के समीप आकर धीमे से कहा—"आचार्यजी! आप किससे बात कर रहे है? यह व्यक्ति बात करने के काबिल नहीं है।" मैं उसके कथन के आशय को पूरा समझ नही पाया। आपने आशय को स्पष्ट करता हुआ बोला—"यह आदमी बहुत बड़ा शराबी है, इसलिए आप इससे बात न करे।"

मैंने उस भाई की बात सुन ली और पुनः वार्ता प्रारम्भ कर दी। मैंने बात-ही-बात मे अफसर से पूछ लिया—"तुम्हारा जीवन कैसा है?"

"मत पूछिए महाराज! शराब पीने की लत पड़ गई थी। बहुत शराब पीता था मैं।"—बड़ी सरलता से अपनी कमजोरी स्वीकार करते हुए उसने कहा।

"अब क्या स्थिति है?"—मेरा अगला प्रश्न था।

"अब तो काफी कम कर दी है।"—उसने अपनी स्थिति स्पष्ट की।

मैंने उसके मानस को पढा। इस बुराई के प्रति उसके मन मे गहरी आत्म-ग्लानि थी। मैंने अवसर को समझा और कहा—"अब थोड़ी शेष क्यो रखी है?"

"आपकी कृपा और आशीर्वाद होगा तो वह भी छूट जाएगी।"—उसने आत्म-विश्वास के साथ कहा।

"ऐसे कार्य के लिए मेरी कृपा और आशीर्वाद सदा है और सदा रहेगा।"—मैंने उसके आत्म-विश्वास को बढ़ाते हुए कहा।

बस, वह तत्काल खड़ा हो गया और उसने जीवन भर के लिए शराब न पीने का सकल्प स्वीकार कर लिया।

उसके चले जाने के पश्चात् मैंने उन जैन बन्धुओ की ओर अपनी दृष्टि घुमाते हुए प्रश्न की भाषा मे कहा—"आप लोग क्या करते है?"

मेरे प्रश्न के उत्तर मे सवने अपने-अपने धन्धों के वारे मे वताया। पता लगा कि उनमे से अधिकांश किराना, गल्ला, कपड़ा आदि के व्यापारी है। मैंने उनसे पूछा—"क्यो भाइयो! आप अपने धंधों में नकली को असली वताकर तो नही वेचते है?"

"महाराज! यों तो हम गृहस्थ है। गृहस्थी में सव कुछ चलता है।" —उनका उत्तर था।

"खैर, अव तक आपने जो कुछ किया सो किया, पर आज से तो इस वुराई को छोड़ दें।"—मैंने उन्हे प्रेरित करते हुए कहा।

"नही महाराज! यह छोड़ दें तो हमारा व्यापार कैसे चले?"—उन्होने अपनी असमर्थता व्यक्त की।

"आप लोग तोल-माप मे कमी-वेसी तो नही करते है?"—मैंने उनसे दूसरा प्रश्न किया।

"यो तो हम गृहस्थ है, वाल-वच्चेदार है। हमे सव कुछ करना पडता है।"—उनका लगभग वही पहलेवाला उत्तर था।

"अव तो छोड़ दें इसे।"—मैंने उन्हे वुराई से मुक्त करने का फिर प्रयास किया।

"इसे छोड दे तो हम भूखे मर जाए।"—उन्होने फिर अपनी असमर्थता प्रकट की।

मैंने यो एक-एक वुराई के वारे में पूछा और उनको छोड़ने के लिये प्रेरित किया। पर उनका वही रट-रटाया उत्तर था—"हम गृहस्थ है। गृहस्थ को सव कुछ करना पड़ता है। इसके विना हमारा काम नही चलता।"

मैंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, उन्हे समझाने के लिए। पर मेरा सारा प्रयास असफल रहा। वे अपने आचरण और व्यवहार मे तनिक भी परिवर्तन करने के लिए तैयार नही हुए। तव दो क्षण रुककर मैंने कहा—"एक शरावी व्यक्ति से आपके गुरु वातचीत करें, इसमे तो आपको इतनी आपत्ति है, जवकि उसने मेरा उपदेश मानकर शराव को सदा के लिए छोड दिया। दूसरी तरफ अपने आपको भक्त मानते हुए भी आप लोग वुराइयों से गहरे चिपके हुए हैं, उन्हे छोडने के लिए विलकुल भी तैयार नही है—इस वात का आपके मन मे किंचित् भी विचार नही है। जरा भी चिन्ता नही है। मैं पूछना चाहता हू, मेरा उस शरावी व्यक्ति से वात करना ज्यादा सार्थक था या आपसे? यदि मैं उससे वात नही करता तो उसे शराव से मुक्त वनने की प्रेरणा कैसे देता और वह शराव से इतना जल्दी छुटकारा कैसे पाता? शरावी होने के वावजूद भी मैं उसको आप लोगो की अपेक्षा अधिक ठीक समझता हूं, क्योंकि उसका दृष्टिकोण सही है। वह

बुराई को बुराई समझता है । आप लोग बुराई करते हुए भी उसे बुराई नही मान रहे है ।"

बन्धुओ ! यह दृष्टिकोण का मिथ्यात्व सचमुच बड़ा खतरनाक है । इस गलत दृष्टिकोण के कारण ही व्यक्ति बड़े-बड़े पाप करता है । जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् बन जाता है, वह फिर ग्राहको को धोखा नही दे सकता । झूठा तोल-माप नही कर सकता । शोषण व भ्रष्टाचार के सहारे धन का उपार्जन नही कर सकता ।.....

दृष्टिकोण की अस्पष्टता

दृष्टिकोण की अयथार्थता की तरह दृष्टिकोण की अस्पष्टता के कारण भी कभी-कभी नुकसान हो जाता है । इस बात को मैं एक दो उदाहरणो से स्पष्ट करना चाहूगा । महात्मा बुद्ध ने अपने शिष्यो से कहा—"भिक्षुओ ! तुम्हे भिक्षा में सहजरूप से चिकना-चुपडा, रूखा-सूखा, गर्म या ठडा-बासी, सुगंधित या दुर्गन्धित जैसा भी भोजन प्राप्त हो, उससे अपना काम चलाओ । पर कभी भी किसी वस्तु की गृहस्थ से याचना मत करो ।" भिक्षुओं ने महात्मा बुद्ध की बात सहज रूप मे स्वीकार की । एक दिन एक भिक्षु भिक्षा के लिए जा रहा था । रास्ते मे एक चील के मुह से छूटकर एक मास का टुकड़ा उसके भिक्षा पात्र मे गिर पड़ा । वह बहुत दुविधा मे फंस गया । एक तरफ भिक्षुचर्या मे मांस खाने का कोई विधान नही और दूसरी तरफ शास्ता बुद्ध का यह आदेश कि जो भी भिक्षा-पात्र मे सहजरूप में आ जाए उसे खा लेना चाहिए । उसने काफी चिन्तन किया, पर कोई निर्णयात्मक स्थिति प्राप्त नही हुई । अतः वह महात्मा बुद्ध के पास आया और उनसे सारी बात निवेदित की । गौतम बुद्ध ने सोचा—चील कोई रोज थोड़े आती है । यह तो कोई सयोग था । अतः इसे खाने मे कोई आपत्ति नही । अपने चिन्तन के अनुसार उन्होने भिक्षु को उस मांस के टुकड़े को खाने की आज्ञा दे दी । महात्मा बुद्ध ने उस मास के टुकड़े को खाने की आज्ञा क्या दी, मांस-भक्षण शुरू हो गया । अब प्रतिदिन भिक्षा मे मांस आने लगा । महात्मा बुद्ध ने यह तो सोच लिया कि चील रोज कहा आने को है, पर दृष्टिकोण की अस्पष्टता के कारण यह नही सोच पाए कि मास आने के दूसरे रास्ते बहुत है । इस छूट से बौद्ध भिक्षुक मांसाहारी बन जाएगे ।

इसी संदर्भ मे दूसरा उदाहरण और देखे । महात्मा बुद्ध से पूछा गया—"प्राण-वध करना चाहिए या नही ?" उन्होने उत्तर दिया—"प्राण-वध सर्वथा त्याज्य है, खाने के लिए भी वध नही करना चाहिए ।" लोगो ने इसका अर्थ यह लिया कि वध करके मांस नही खाना चाहिए । सहजरूप से मरे हुए पशु-पक्षियों का मास खाने मे कोई आपत्ति नही है । इसका परिणाम

हमारे सामने प्रत्यक्ष है। आज लगभग सारा बौद्ध समाज मांसाहारी है। बौद्ध धर्मावलम्बी देशों में जाकर आप देखें, वहां होटलों के बाहर लिखा मिलेगा—यहां बिना प्राण-वध का मांस मिलता है। (यद्यपि उसमें अधिकांश पशु-पक्षियों का वध करके ही बनाया जाता है।)

मेरे मन में गौतम बुद्ध के प्रति तनिक भी असम्मान की भावना नहीं है। वे एक महापुरुष थे, इसमें मुझे किंचित् भी संदेह नहीं। मैं कभी नहीं मानता कि उन्होंने मांसाहार का समर्थन किया था। पर इतना अवश्य कहता हूं कि दृष्टिकोण की अस्पष्टता के कारण वे इस बात को गहराई से नहीं सोच सके। इसीलिए यह स्थिति बनी। यदि उस समय गौतम बुद्ध इस बात पर गहराई से चिन्तन कर लेते तो मुझे विश्वास है कि वे स्पष्ट रूप से मांसाहार का निषेध कर देते और उसका बहुत संभावित सुपरिणाम यह होता कि आज बौद्ध समाज मांसाहारी नहीं होता।

इतना तो अवश्य करें

बन्धुओ ! सम्यग् दृष्टिकोण के महत्त्व को आप भलीभांति समझ गए होंगे। मैं मानता हूं, जो व्यक्ति सम्यग् दृष्टि को प्राप्त हो जाता है, वह कभी भी दूसरे के गुणों को देखकर ईर्ष्या नहीं कर सकता। वह स्वयं कोई अच्छा कार्य चाहे न भी कर सके पर सत्क्रिया करनेवालों की सदा प्रशंसा करेगा। मैं मानता हूं, यह भी एक बहुत ऊंची बात है। उपाध्याय विनय-विजयजी की वे पंक्तियां मेरी स्मृति में आ रही हैं—

'दिष्ट्याऽयं वितरति बहुदानं, वरमयमिह लभते बहुमानम्।
किमिति न विमृशसि परपरभागं, यद्विभजसि तत्सुकृतविभागम्॥
येषां मन इह विगतविकारं, ये विदधति भुवि जगदुपकारम्।
तेषां वयमुचिताचरितानां, नाम जपामो वारं वारम्॥
तात्त्विक-सात्त्विक-सुजन-वतंसा, केचन युक्तिविवेचनहंसाः।
अलमकृषत किल भुवनाऽऽभोगं, स्मरणममीषां कृतशुभयोगम्॥'

इन पद्यों का सारांश यही है कि व्यक्ति चाहे त्याग व तपस्या नहीं कर सकता, धर्माराधना नहीं कर सकता, पर कम-से-कम इतना तो अवश्य करे कि जो लोग त्याग-तपस्या करते हैं, धर्म की आराधना करते हैं, उनको अच्छा समझे, उनका गुणोत्कीर्तन करे। गुणी के गुणगान करने से भी व्यक्ति बहुत कुछ लाभ प्राप्त कर सकता है। पर जैसा कि मैंने पहले ही कहा, यह तभी संभव है जब व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव में यह कभी भी संभव नहीं है। इसलिए सबसे पहली अपेक्षा यही है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण सही बने। सही दृष्टिकोणयुक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।

गंगाशहर
१३ अगस्त, १९७८

३१

मतिज्ञान के प्रकार

साकार और अनाकार उपयोग की संक्षिप्त चर्चा मैंने पिछले प्रवचनों मे की। अब हम विस्तार में उनको समझें।

विशेषग्राहित्वाज्ज्ञानं साकारः।[1]

सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनः सामान्यधर्मान् गौणीकृत्य विशेषाणां ग्राहकं ज्ञानं आकारेण—विशेषेण सहितत्वात् साकार उपयोग इत्युच्यते।

भेद और अभेद हर वस्तु में

ज्ञान पदार्थ के विशेष धर्मों का ज्ञाता होता है, अतः उसे साकार उपयोग कहते है। प्रश्न होगा, विशेष किसे कहते है? व्यवहार मे जो सामान्य नही है, उसे विशेष कहा जाता है। इसी प्रकार जो विशेष नही है, उसे

---

१. जैन सिद्धांत दीपिका के तृतीय संशोधित संस्करण (सन् १९८२) मे कुछ सूत्रों को परिवर्तित किया गया है। उसी क्रम मे अमुक सूत्र के स्थान पर निम्न सूत्र रखा गया है—

पर्यायग्राहित्वाज्ज्ञानं साकारः।

उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्य द्रव्यस्य ध्रौव्यं गौणीकृत्य उत्पादव्ययो ग्राहकं ज्ञानं साकार उपयोग इत्युच्यते। अयं आकारेण पर्यायेण सहितत्वात् साकारः। सविकल्प उपयोग इत्यस्य पर्यायः।

ज्ञान द्रव्य की पर्यायों को ग्रहण करता है, अतः उसे साकार उपयोग कहा जाता है।

द्रव्य के तीन धर्म होते हैं—उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। इनमे ध्रौव्य-धर्म को गौणकर उत्पाद और व्यय को ग्रहण करने वाला ज्ञान साकार उपयोग कहलाता है। वह आकार—पर्याय-सहित होने के कारण साकार है। यह इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। इसका दूसरा नाम है—सविकल्प उपयोग।

साकार उपयोग की पूर्व व्याख्या और इस नई व्याख्या मे कोई मौलिक अन्तर नही है। मात्र विवक्षा भेद ही है। इस विवक्षा मे विशेषग्राही अर्थात् भेदात्मक ज्ञान के स्थान पर पर्यायात्मक ज्ञान के रूप मे साकार उपयोग को व्याख्यायित किया गया है।

सामान्य कहा जाता है। पर प्रस्तुत संदर्भ में विशेष और सामान्य दोनो ही शब्द इनसे भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए है। विशेष का अर्थ है—भेदात्मक। सामान्य का अर्थ है—अभेदात्मक।

हम जानते है कि हर वस्तु मे सामान्य और विशेष दो प्रकार के धर्म होते है। उदाहरणार्थ – हाथ मे पांच अगुलिया होती हैं। अभेदात्मक दृष्टि से सब अगुलियां है। पर जहा हम उन्हे कनिष्ठा, अनामिका, मध्यमा, तर्जनी और अंगुष्ठ—इन पाच अलग-अलग भागो मे विभक्त करते है, वहां हमारी दृष्टि भेदात्मक हो जाती है। संसार मे अरबो मनुष्य हैं। यह अभेदात्मक दृष्टि है। पर जब हम उन्हे भेदात्मक दृष्टि से देखते है तो ये पुरुष है, ये महिलाएं है, ये लड़के है, ये लड़कियां है, ये जवान है, ये वृद्ध है, ये भारतवर्ष के वासी हैं, ये विदेशी है.........इस प्रकार भेद होते ही जाएगे। इनका कोई अन्त आनेवाला नही है। यह भेद और अभेद सभी पदार्थो मे पाया जाता है।

भेद और अभेद दोनों उपयोगी हैं

आप कहेगे, हम तो समन्वय के सिद्धात को माननेवाले हैं, इसलिए हमे तो अभेद की बात करनी चाहिए। भेद की बात ही क्यो करें ? मैं मानता हूं, अभेदात्मक दृष्टि बहुत अच्छी है, पर इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि भेदात्मक दृष्टि सर्वथा बुरी है। वस्तुतः अपने-अपने स्थान पर अपेक्षाभेद से दोनों ही दृष्टियां उपयोगी और आवश्यक है। भेद भी उतना ही आवश्यक है, जितना अभेद। हां, इतना अवश्य है कि यह भेदात्मक दृष्टि केवल तत्त्व को सूक्ष्मता मे समझने-समझाने के लिए ही होनी चाहिए, लड़ने-झगड़ने के लिए नही।

भेदात्मक गुण का महत्त्व और उपयोग हम व्यवहार मे भी स्पष्ट देखते हैं। जहां इसका अभाव होता है, वहां कई बार बड़ी समस्या खड़ी हो जाती है। दूध गाय का भी होता है, भैस का भी होता है, आक और थोर का भी होता है। यदि अभेदात्मक दृष्टि न हो तो बहुत सभव है कि व्यक्ति गाय के दूध के स्थान पर आक का दूध ले आए। थोर का दूध ले आए। दो सगी बहिनों की एक साथ शादी हुई। बराते रवाना होने के समय दोनो के वर परस्पर बदल गए। ऐसा क्यो हुआ ? यह इसीलिए हुआ कि भेदात्मक दृष्टि नही थी। भेदात्मक दृष्टि होती तो कभी भी ऐसा नही होता कि लडकी की शादी किसी के साथ हुई हो और वह जाए किसी दूसरे के साथ। यह कोई कल्पित कहानी नही, अपितु घटित घटना है। इस प्रकार की अनेक बाते आए दिन हमारे सामने आती रहती है। इन सबके पीछे मूलभूत कारण भेदात्मक दृष्टि का अभाव ही होता है। इसी प्रकार अभेदात्मक दृष्टि भी व्यवहार मे बहुत उपयोगी है। उसके अभाव में भी व्यक्ति के सामने नाना प्रकार की समस्याए उपस्थित हो जाती है।

ज्ञान के प्रकार

दर्शन की भाषा में इस भेदात्मक प्रतीति को ज्ञान और अभेदात्मक प्रतीति को दर्शन कहा गया है। ज्ञान के पांच प्रकार हैं—

मतिश्रुतावधिमनःपर्यवकेवलानि।

१. मतिज्ञान
२. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान
४. मनःपर्यवज्ञान
५ केवलज्ञान।

मतिज्ञान

इन्द्रियमनोनिबन्धनं मतिः।

मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिंता, अभिनिवोध इति एकार्थाः।

मनन या मस्तिष्क का ज्ञान मतिज्ञान कहलाता है। दूसरे शब्दों मे इन्द्रियों और मन के द्वारा होनेवाला ज्ञान मतिज्ञान है। आप पूछेंगे, मतिज्ञान किस-किस मे होता है ? मैं पूछता हूं, मतिज्ञान किस-किस मे नही होता है ? और यही पूर्व प्रश्न का उत्तर है। अर्थात् संसार के समस्त प्राणियों में, चाहे वे सूक्ष्म हों या वादर, त्रस हों या स्थावर, समनस्क हो या अमनस्क······· यह ज्ञान होता है। यह दूसरी वात है कि किन्ही-किन्ही प्राणियों का ज्ञान प्रकट होता है और किन्ही-किन्ही प्राणियों का अप्रकट। मति, स्मृति, सज्ञा, चिन्ता और अभिनिवोध ये सभी मतिज्ञान के ही पर्यायवाची नाम हैं।

मतिज्ञान के प्रकार

अवग्रहेहावायधारणास्तद्भेदाः।

मतिज्ञान के चार प्रकार हैं—

१. अवग्रह
२. ईहा
३ अवाय
४ धारणा

प्रश्न है, अवग्रह किसे कहते हैं ?

इन्द्रियार्थयोगे दर्शनानन्तरं सामान्यग्रहणमवग्रहः।

इन्द्रियार्थयोरुचितदेशाद्यवस्थानरूपे योगे सति दर्शनम्—अनुल्लिखित-विशेषस्य सन्मात्रस्य प्रतिपत्तिः, तदनन्तरं अनिर्देश्यसामान्यस्य (वस्तुन.) ग्रहणमवग्रहः।

इन्द्रिय और पदार्थ का जव योग होता है, तव प्रथम क्षण में हमें दर्शन होता है। उसे हम छोड़ दें। उसके पश्चात् पदार्थ का जो प्रारम्भिक

भेदात्मक ज्ञान होता है, वह अवग्रह है।

अवग्रह के प्रकार

व्यञ्जनार्थयो ।

व्यञ्जनेन इन्द्रियार्थसम्बन्धरूपेण, व्यञ्जनस्य—शब्दादेरर्थस्य ग्रहणम् —अव्यक्तः परिच्छेदः व्यञ्जनावग्रहः ।

ततो मनाग् व्यक्तं जातिद्रव्यगुणकल्पनारहितमर्थग्रहणं अर्थावग्रहः, यथा एतत् किञ्चिद् अस्ति ।

अवग्रह के दो प्रकार हैं—

१. व्यञ्जनावग्रह ।

२. अर्थावग्रह ।

व्यञ्जनावग्रह

अव्यक्त ज्ञान अवग्रह है। आप इसे और स्पष्टता मे समझें। इन्द्रिय और पदार्थ के सम्बन्ध होने पर दर्शन के पश्चात् जो प्रारम्भिक भेदात्मक ज्ञान होता है, वह अवग्रह है। इस ज्ञान मे पदार्थ (व्यजन) और इन्द्रिय (व्यजन) का जो मिलन होता है या इन्द्रिय (व्यजन) द्वारा पदार्थ (व्यजन) का जो ग्रहण होता है, वह व्यंजनावग्रह है।

अर्थावग्रह

अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रह से कुछ अधिक स्पष्ट है। पदार्थ का इन्द्रिय द्वारा ग्रहण के पश्चात् 'यह कुछ है' ऐसी प्रतीति होना अर्थावग्रह है।

ईहा

अमुकेन भाव्यमिति प्रत्यय ईहा ।

अमुकस्तदितरो वा इति सशयादूर्ध्वं अन्वयव्यतिरेकपूर्वकम् 'अमुकेन भाव्यम्, इति प्रत्यय ईहा, यथा—शब्देन भाव्यम् ।

अवग्रह के पश्चात् संशयात्मक ज्ञान होता है। वह पदार्थ अमुक है या दूसरा ? इसके अनन्तर यह विकल्प उठता है—यह कान का विषय है, इसलिए यह शब्द होना चाहिए, स्पर्श नही। इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाले ज्ञान का नाम ईहा है।

अवाय

अमुक एवेत्यवायः ।

यथा अयं शब्द एव ।

यह पदार्थ अमुक ही है, यह निर्णयात्मक ज्ञान अवाय कहलाता है। जैसे—यह शब्द ही है, स्पर्श नही। अवाय ईहा के द्वारा किए गए ज्ञान

का समर्थन ही नही करता, अपितु उसका विशेष अध्ययनपूर्वक निर्णय भी करता है।

धारणा

तस्यावस्थितिर्धारणा।

वासना, संस्कार इत्यस्याः पर्यायः। प्रत्येकमिन्द्रियमनसाऽवग्रहादीनां संयोगात् नयनमनसोर्व्यञ्जनावग्रहाभावाच्च मतिज्ञानमष्टाविंशतिभेदं भवति।

निर्णयात्मक ज्ञान की अवस्थिति को धारणा कहते हैं। जैसे—यह लालटेन का प्रकाश है, ऐसा आज हमने निर्णय किया। हम सदा के लिए निर्णय करते हैं कि ऐसा प्रकाश लालटेन का ही होता है। यह निर्णयात्मक अवस्थित ज्ञान धारणा है। अवाय मे भी निर्णयात्मक स्थिति होती है परन्तु उसके द्वारा किया गया निर्णय अधिक समय तक टिकता नही। मन के विपयान्तरित होते ही वह चला जाता है। केवल अपना संस्कार पीछे छोड़ जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

गंगाशहर
१४ अगस्त, १९७८

श्रुतज्ञान : एक विश्लेषण

ज्ञान हमारी चेतना है। उसका जितना अधिक उपयोग हम करते हैं, उतने ही अधिक लाभान्वित होते है। कल के प्रवचन मे मैंने ज्ञान के पांच प्रकार और उसके अनन्तर मतिज्ञान का विवेचन किया था। आज मैं श्रुतज्ञान पर कुछ कहना चाहूंगा।

द्रव्यश्रुतानुसारि परप्रत्यायनक्षमं श्रुतम्।

द्रव्यश्रुतम्—शब्दसंकेतादिरूपम्, तदनुसारेण परप्रत्यायनक्षमं ज्ञानं श्रुतमभिधीयते।

श्रुत के सहयोग से मन और इन्द्रियां जो ज्ञान करती है—वह श्रुत-ज्ञान है। जो सुना जाता है, वह श्रुत है। स्वत: सुनने के लिए या दूसरो को सुनाने-समझाने के लिए श्रुत की अनिवार्य अपेक्षा है। दूसरे शब्दो मे श्रुतज्ञान की यह परिभाषा भी की जा सकती है—द्रव्यश्रुत के अनुसार दूसरो को समझाने में समर्थ ज्ञान।

द्रव्य-श्रुत

शब्द, संकेत आदि का नाम द्रव्यश्रुत है। मैं बोल रहा हूं और आप समझ रहे हैं—इसमे शब्दो का प्रमुखतम हाथ है। यदि मैं नही बोलू तो आप कैसे समझेंगे ? पर बहुत-सी स्थितियो मे बिना शब्द भी समझाया जा सकता है और समझा जाता है, जैसे—मा ने आंख से जरा-सा सकेत किया और बच्चा समझ गया कि मां मुझे यहां से उठकर चले जाने के लिए कह रही है।

मति और श्रुत का अन्तर

आप पूछ सकते है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान मे क्या अन्तर है ? मति-ज्ञान केवल स्वय के लिए ही होता है, जबकि श्रुतज्ञान स्वय और पर दोनों के लिए होता है। यद्यपि स्वयं को जानने के लिए श्रुत की कोई जरूरत नही, पर जहां हमे किसी दूसरे व्यक्ति को कुछ समझाना है, वहा श्रुत का सहारा लेना ही होगा। वास्तव में वहां मतिज्ञान ही श्रुतज्ञान के रूप मे परिणत होता है। दूध मे चावल और चीनी डाली कि खीर बन गई। श्रुतज्ञान खीर के सदृश है और मतिज्ञान दूध के समान।

प्रश्न हो सकता है, श्रुतज्ञान किस-किसके पास होता है ? श्रुतज्ञान मतिज्ञान की ही तरह समस्त प्राणी जगत् मे पाया जाता है। ऐसा कोई प्राणी नहीं कि जिसमें श्रुतज्ञान न हो। यह एक अलग वात है कि कुछ प्राणियों का श्रुतज्ञान अधिक विकसित होता है, कुछ का अल्प विकसित और कुछ का अति अल्प विकसित। प्रायः मनुष्यों का श्रुतज्ञान विकसित होता है। पर कुछ लोगों का वहुत कम विकसित भी होता है। इसीलिए वे अपनी वात को दूसरो को समझाने मे असफल रहते हैं। पशु-पक्षियों का ज्ञान अल्प विकसित होता है। भूख लगती है तो वे आवाज करने लगते हैं। उनकी आवाज को हम साधारणतया न भी समझ पाएं, पर वे तो समझाने का प्रयास करते ही हैं। यह श्रुतज्ञान के ही कारण होता है। वस्तुतः दूसरो को समझाने के लिए वहुत विकसित श्रुतज्ञान की अपेक्षा होती है। आपने तीन-चार दिन पूर्व यहां विद्वानो को सुना। सारी सभा को हिला दिया उन्होने। यह श्रुतज्ञान का ही प्रभाव था। वे इस वात को समझाने मे सफल रहे कि 'जैनआगमकोप' एवं 'जैनविश्वकोप' का काम हाथ में लेकर वे सचमुच एक वडी आवश्यकता की पूर्ति कर रहे है।

मैं प्रतिदिन प्रवचन करता हूं और उसके माध्यम से जन-जन को तत्त्व समझाने का प्रयास करता हूं। यह दूसरी वात है कि सव श्रोता समान रूप से सारी वातें नही समझ पाते। पर मेरा प्रयास तो सदा यही रहता है कि सब समानरूप से तत्त्व को समझ पाएं। पूज्य कालूगणी वहुधा फरमाया करते थे—"मेरी भावना है कि हमारे संघ का प्रत्येक साधु आचार्य-पद के योग्य वने। यह ठीक है कि एक समय में संघ मे एक ही आचार्य हो सकेगा, पर योग्यता तो सव प्राप्त कर ही सकते हैं।" यद्यपि हम जानते हैं कि ऐसा कभी भी सभव नही होता, पर गुरु की भावना तो अपने शिष्यो को समान रूप से विकसित देखने की होती है। यही वात मैं कह रहा हूं। यद्यपि सवको समान रूप से समझाने के वावजूद भी सव समानरूप से तत्त्वज्ञ नही वन सकेंगे, फिर भी मेरी भावना और प्रयास तो सदा सवको समानरूप से तत्त्व-वेत्ता वनाने का ही रहेगा।

पूजनीय शास्त्र नहीं, ज्ञान है

आज हमारे सामने ग्रन्थ, शास्त्र, पुस्तकें आदि उपलब्ध है। वे श्रुतज्ञान ही है। प्रश्न होगा, वे ज्ञान कैसे ? क्या ज्ञान जड़ है ? वस्तुतः पुस्तकें, शास्त्र आदि स्वय ज्ञान नही, अपितु उनके अन्दर ज्ञान है। उनके सहारे ज्ञान किया जाता है। दूसरो को ज्ञान कराने मे वे निमित्त वनते है। इस दृष्टि से उन्हे व्यवहार मे श्रुतज्ञान कह दिया जाता है। आजकल स्थान-स्थान पर ज्ञान-मन्दिर वन रहे हैं। पूरे भवन की दीवारों पर धर्म-ग्रंथों को खुदवाकर या लिखवाकर उन्हे सज्जित किया जाता है। कुछ लोग धर्म

ग्रंथों की पूजा भी करते है। ऐसा करनेवाले स्वतंत्र हैं। मैं उनके कार्य मे हस्तक्षेप नहीं करता। पर इतना अवश्य कहना चाहता हूं कि ग्रन्थ और मन्दिर पूजने की वस्तुएं नही, पूजने की वस्तु है—ज्ञान। पर ज्ञान की पूजा धूप, दीप और चदन से नही हो सकती। उसकी पूजा का तो एकमात्र तरीका यही है कि सच्चे दिल से उसकी आराधना की जाए। यानी धर्मग्रन्थो के आदर्शो को जीवन-व्यवहार मे लाया जाए। पर धर्मग्रथो के आदर्शो को जीवन मे उतारना कठिन होता है और उनकी धूप, दीप आदि से पूजा करना वहुत सरल। इसलिए लोगों ने आदर्शो को अपनाना तो छोड़ दिया और उनकी धूप, दीप आदि से पूजा करनी प्रारम्भ कर दी।

सेठ का वम्वई, कलकत्ता, मद्रास आदि वडे-वड़े शहरों मे तेल का व्यवसाय था। सेठ मद्रास मे था। उसे खवर मिली कि कलकत्ता मे तेल का वाजार वहुत मंदा हो गया है और वम्वई मे काफी तेज। उसने तत्काल दोनों स्थानों पर मुनिमो को अलग-अलग चिट्ठियां लिखी। कलकत्ता के मुनीम को लिखा कि वाजार काफी मदा है, इसलिए जितना तेल खरीद सको, खरीद लो। वम्वई वाले मुनीम की चिट्ठी मे लिखा कि वाजार काफी तेज है, इसलिए जितना तेल वेच सको, वेच दो।

कलकत्ता चिट्ठी पहुची। मुनीम ने चिट्ठी पढी। सेठ के निदेशानुसार उसने तत्काल तेल खरीदना शुरू कर दिया और चिट्ठी रद्दी की टोकरी मे डाल दी।

चिट्ठी वम्वई भी पहुची। चिट्ठी मुनीम को मिली। सेठ के हाथ की चिट्ठी पाकर वह वहुत खुश हुआ। उसे अपने मस्तक पर लगाया। एक ऊंचे पट्ट पर ससम्मान रखा और प्रतिदिन धूप-दीप से उसकी पूजा प्रारम्भ कर दी। पर चिट्ठी मे क्या लिखा है, यह कभी पढने का प्रयास नही किया।

कुछ समय पश्चात् सेठ कलकत्ता गया। मुनीम ने सेठ का स्वागत किया। औपचारिक वार्ता के पश्चात् सेठ ने मुनीम से पूछा—"मैंने तुम्हे एक पत्र दिया था, वह मिला या नही ?"

"मिला।"—मुनीम ने कहा।

"कहां है वह ?"—सेठ ने अगला प्रश्न किया।

"वह तो अव नहीं है, मैंने फाड कर फेक दिया।"

"उसको पढ़ा या नही ?"—सेठ की प्रश्न-शृखला जारी थी।

"हां, पढा।"—मुनीम ने सामान्यभाव से कहा।

"तो वताओ, क्या किया तुमने ?"—सेठ के शब्दो मे व्यग्रता थी।

मुनीम ने तत्काल वही लाकर सेठ के सामने रख दी। सेठ को यह जानकर वड़ी प्रसन्नता हुई कि मुनीम ने मेरे निदेश का पूरा-पूरा पालन

किया है। उसने हजारों टीन तेल खरीद लिया है। इसमें काफी मुनाफा होने की संभावना है। सेठ ने मुनीम की तनख्वाह दुगुनी कर उसके इस कार्य का अंकन किया।

अब सेठ बम्बई पहुंचा। बम्बई वाले मुनीम से भी उसने खत के बारे में पूछा। मुनीम ने झट ऊंचे पट्ट से पत्र उतार कर सेठ के सामने हाजिर किया।

"पत्र पढ़ा या नही ?"—सेठ प्रश्नायित मुद्रा मे मुखर हुआ।

"पढा तो नही।"—मुनीम का संक्षिप्त-सा उत्तर था।

"फिर क्या किया ?"—सेठ ने झुंझलाते हुए पूछा।

"क्या क्या किया, मैं इसकी प्रतिदिन पूजा करता हूं। आपका पत्र हमारे पास कब-कब आता है ?"—बड़ी उत्फुल्लता के साथ मुनीम बोला।

सेठ को मुनीम की मूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। उसकी नासमझी के कारण वह एक बहुत बड़े लाभ से वंचित रह गया। यदि वह चिट्ठी को पढ़कर उसमे दिए गए निदेशानुसार गोदाम में पड़े हजारो तेल के टीन बेच देता तो वह मालामाल हो जाता।

सेठ ने तत्काल मुनीम को छुट्टी कर दी।

बन्धुओ ! जो लोग धर्मग्रन्थों के आदर्शों को जीवन मे न उतारकर केवल उनकी पूजा करते है, वे बम्बईवाले मुनीम के साथी है। आज ऐसे लोगो की कोई कमी नहीं है। और बहुत सही बात तो यह है कि अधिकांश लोग इसी कोटि के है। पर कुछ लोग कलकत्ता वाले मुनीम जैसे भी मिलते हैं। वे धर्मग्रन्थो की पूजा तो नही करते, पर उनकी बातो को जीवन मे उतारते हैं। सारांश यही है कि पुस्तकें, धर्मग्रंथ आदि पूजनीय नही, उनमें निहित ज्ञान ही पूजनीय है।

श्रुतज्ञान का माहात्म्य

श्रुतज्ञान हमारा परम उपकारी है। क्योंकि पांच ज्ञानों मे यही एक ऐसा ज्ञान है, जो ज्ञान-दान का साधन बनता है। शास्त्रों मे कहा गया है कि गुरु द्वारा शिष्यों को जो ज्ञान मिलता है, वह श्रुतज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। और तो क्या, केवलज्ञानी भी यदि किसी को ज्ञान-दान करते हैं तो श्रुतज्ञान के द्वारा ही करते है। दूसरों को बोध देने में उनका केवलज्ञान काम नही आता। केवलज्ञान तो दर्पण के समान है। उसमें सब कुछ प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। पर जहा दूसरो को बताने का प्रश्न है, वहां तो श्रुतज्ञान का ही एकमात्र सहारा लेना होता है। इसलिए श्रुतज्ञान के महत्त्व को हम समझें और इसे अधिकाधिक विकसित करने का प्रयास करें।

कच्छ मे तेरापन्थ के प्रथम प्रचारक

हमारे धर्मसंघ के साधु-साध्वियां तो श्रुतज्ञानी होते ही है, कुछ-कुछ

श्रावक भी वहुत विशिष्ट श्रुतज्ञानी होते है। श्रावक श्री गेरूलालजी व्यास का नाम आपने सुना होगा। आचार्य भिक्षु के चार प्रमुख श्रावको मे उनका नाम आता है। वे महान् श्रुतज्ञानी थे। आपको ख्याल रहना चाहिए कि कच्छ प्रदेश में सवसे पहले तेरापन्थ के प्रचार-प्रसार के लिए वे ही गए थे। साधु-साध्वियां वाद मे गए हैं। वहां जाकर उन्होंने अनेक व्यक्तियो को सत्य धर्म का तत्त्व समझाया। उनके समझाए हुए लोगो की पीढियां आज भी मौजूद है। इस शृंखला में और भी अनेक श्रावको के नाम गिनाए जा सकते हैं।

एक नई योजना

इस वार एक नई योजना वनी है। समाज के कुछ लोग श्रुत की उपासना करते हुए उपासक वनें। जिन क्षेत्रों मे साधु-साध्वियों के चातुर्मास नही है, उन क्षेत्रो में जाकर वे लोगो को धार्मिक आराधना में सहयोग और प्रेरणा दे सकेंगे। पिछले वर्ष पारमार्थिक शिक्षण संस्था का एक ग्रुप पर्युषण के अवसर पर रायपुर (मध्यप्रदेश) गया था। उसके माध्यम से वहां अच्छी धर्म जागरणा हुई। उस प्रयोग की सफलता के आधार पर इस वार एक से अधिक क्षेत्रो मे ऐसे ग्रुपो को भेजने की योजना वनी है। इसमे कुछ ग्रुप पारमार्थिक शिक्षण संस्था की वहनो के होगे और कुछ उपासक साधको के। इस योजना के सफल होने का दोहरा लाभ होगा। एक तरफ तो समाज में विशिष्ट साधनानिष्ठ, चरित्रनिष्ठ व्यक्तियो को आगे आने का मौका मिलेगा और दूसरी तरफ साधु-साध्वियो के चातुर्मास न होने के वावजूद भी श्रावक-समाज पर्युषण महापर्व को अच्छे ढग से मना सकेगा।

गगाशहर
१५ अगस्त, १९७८

श्रुतज्ञान के भेद

श्रुतज्ञान की संक्षिप्त चर्चा कल मैंने अपने प्रवचन में की। आज उसी चर्चा को मैं आगे बढ़ाऊंगा।

अक्षर-संज्ञि-सम्यक्-सादि-सपर्यवसित-गमिकाङ्गप्रविष्टानि सप्रतिपक्षाणि।

श्रुतज्ञान के चौदह भेद है—

१. अक्षरश्रुत	८. अनादिश्रुत
२. अनक्षरश्रुत	९. सपर्यवसितश्रुत
३. संज्ञिश्रुत	१०. अपर्यवसितश्रुत
४. असंज्ञिश्रुत	११. गमिकश्रुत
५. सम्यक्श्रुत	१२. अगमिकश्रुत
६. असम्यक्श्रुत	१३. अङ्गप्रविष्टश्रुत
७. सादिश्रुत	१४. अनङ्गप्रविष्टश्रुत

अक्षरों द्वारा कथन योग्य भाव की प्ररूपणा करना अक्षरश्रुत है। अंगुली, आंख, मुंह आदि के संकेतों से भावो को समझाना अनक्षरश्रुत है। यहां साधन को साध्य माना गया है। अक्षर और अनक्षर दोनो ही श्रुतज्ञान के साधन है। इनके माध्यम से लेखक, संकेतक और वक्ता के भावो को जाना जाता है।

समनस्क प्राणियों का श्रुत संज्ञिश्रुत है। इसी प्रकार अमनस्क प्राणियों का श्रुत असंज्ञिश्रुत है। ये दोनों भेद ज्ञान के अधिकारी की अपेक्षा से किए गए है। इस संदर्भ मे यह समझ लेना आवश्यक है कि समनस्क कौन है और अमनस्क कौन? जो प्राणी मानसिक चिन्तन करने में सक्षम है, वे समनस्क कहलाते है। इसके विपरीत जो मानसिक चिन्तन करने में असमर्थ है, वे अमनस्क कहलाते है। देव और नैरयिक सब समनस्क हैं। मनुष्य (लगभग) और पशु-पक्षी भी समनस्क है। यह अलग बात है कि पशु-पक्षियों का मानसिक चिन्तन मनुष्य के मानसिक चिन्तन की तुलना मे बहुत कम विकसित होता है। फिर भी उनमे मानसिक चिन्तन है, यह तो हमे स्वीकार करना ही होगा। आप देखे, गाय चरती है। पर वह खाएगी, वे ही चीजें, जो उसके खाने के योग्य हैं। अखाद्य को वह कभी नही खाएगी।

खाद्य-अखाद्य का विवेक वह मानसिक चिन्तन से ही करती है। पशु-पक्षी अपने-अपने बच्चों की सुरक्षा करते है। यह तभी संभव है, जब मानसिक चिंतन हो। एक इन्द्रियवाले प्राणियों से लेकर चार इन्द्रियों तक के सभी प्राणी अमनस्क हैं। यानी सारे स्थावर जीव—पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय प्राणी तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय प्राणी अमनस्क है।

प्रश्न पूछा जा सकता है, मक्खी (चतुरिन्द्रिय) के जब मन है ही नही, तब फिर वह मिठाई को छोड़ गंदगी पर आकर कैसे बैठती है? इस प्रश्न को गहराई से समझ लेना चाहिए। यह तो निश्चित ही है कि जब पांचो इन्द्रियां ही नही हैं, तब मन कभी नही हो सकता। वस्तुतः मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय प्राणी आंखों से देखकर वासना के कारण क्रियाएं करते है। इसी प्रकार चीटी आदि त्रीन्द्रिय प्राणी अपनी घ्राण से सूघ कर कहा-से-कहां चले जाते हैं। आप कहेंगे, मक्खी बहुत दूर की वस्तु को आंखो से कैसे देख लेती है? चींटी बहुत दूर पड़ी वस्तु को कैसे सूंघ लेती है? इसका समाधान यह है कि जब प्राणी के एक-दो-तीन-चार इन्द्रियां नही होती तो शेष इन्द्रियां बहुत अधिक शक्तिशाली हो जाती है। जिन इन्द्रियो का उसके अभाव होता है, उन इंद्रियों का बहुत कुछ काम वह दूसरी इन्द्रियो से कर लेता है। आपने प्रायः अनुभव किया होगा कि जो व्यक्ति अचक्षु होते है, उनकी श्रोत्रेन्द्रिय तीव्र हो जाती है, स्पर्शनेन्द्रिय अत्यन्त सवेदनशील हो जाती है। वे शब्द, स्पर्श आदि के द्वारा इतना ज्ञान कर लेते हैं, जितना बहुत से आंखवाले भी संभवतः नही कर पाते। मैंने अपने जीवन मे अनेक अचक्षु विद्वानो को देखा है।

अभी-अभी सरदारशहर में एक अचक्षु व्यक्ति ने एम. ए. की परीक्षा अच्छे अङ्कों से पास की है। वह अब पी-एच० डी० करना करना चाहता है। इसके लिए उसने हमसे विषय का सुझाव मांगा है। मुझे आश्चर्य होता है कि अचक्षु व्यक्ति तो इतना उच्च स्तर का अध्ययन कर लेते है और जिन्हें आंखें प्राप्त हैं, जो मेधासम्पन्न है, वे अपनी शक्ति का पूरा-पूर उपयोग नही करते। वे बहुत जल्दी अपने आपको अध्ययन के लिए अपात्र मान बैठते है और निराश हो जाते है। वे सोचते हैं—पढने की उम्र तो बीस-पचीस वर्ष तक ही है। उसके बाद पढ़ने की उम्र नही है। पर मैं उनसे कहना चाहता हूं कि यह मिथ्या धारणा और निराशा की बात बहुत अहितकारी है। इससे वे बहुत बड़े लाभ से वचित रह जाते हैं।

साक्षरता अभियान

आपको शायद मालूम नही होगा कि आजकल राष्ट्र मे साक्षरता का आन्दोलन चल रहा है। इस आन्दोलन का उद्देश्य है कि राष्ट्र मे कोई भी

व्यक्ति निरक्षर न रहे। मैं आप लोगों से पूछना चाहता हूं, क्या आपने भी सामाजिक स्तर पर इस विषय पर कभी चिंतन किया? क्या आप नही जानते कि आज भी आपके समाज का कुछ प्रतिशत भाग निरक्षर है? क्या यह निरक्षरता आपके समाज के लिए अशोभनीय नही है? मै सोचता हूं, यदि समाज का प्रबुद्ध व चिंतनशील वर्ग इस विषय पर थोड़ा गंभीरता से चिंतन कर कुछ ठोस प्रयास करे तो कोई कारण नही कि समाज से निरक्षरता जैसी अशोभनीय चीज बहुत जल्दी समाप्त न हो सके। आपको संभवतः पता नही होगा कि ऋजुमना मातुश्री वदनांजी ने सत्तर वर्ष की अवस्था मे अक्षर-ज्ञान किया था। हमारी वृद्ध महिलाए, जो निरक्षर है, इस बात से प्रेरणा लें कि हम भी निरक्षरता जैसे अभिशाप से मुक्त होंगी। इसके लिए उनकी शिक्षित बहुए, बेटियां, पोतियां बहुत सहजतया सहयोग दे सकती हैं। आपको इस सन्दर्भ में शायद ख्याल नहीं होगा कि सरकार निरक्षरता मिटाने के लिए करोड़ों-करोड़ों रुपयों का सहयोग दे रही है। मुझे बताया गया कि केवल एक संस्था—राष्ट्रीय स्वयंसेवक सघ ने इस अभियान को चलाने के लिए कई करोड़ रुपये प्राप्त किए है। रुपये लेने और देने की बात तो मैंने प्रसंगवश कह दी। यह कोई बहुत महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस कलंक को धोने के लिए सरकार भी बहुत सचेष्ट है।

कल ही मेरे पास मेवाड़ के एक कार्यकर्त्ता का पत्र आया। उसने मुझे यह सुझाव दिया है कि मै घोषणा करूं कि हमारे समाज में कोई भी निरक्षर नही रहेगा। पर जैसा कि आप जानते ही है कि मैं आदेश-निदेश तो दे नही सकता, केवल अपनी सीमा में रहकर प्रेरणा ही दे सकता हूं और वह दे भी रहा हूं। फिर भी उस भाई का सुझाव अच्छा है, यह कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं। समाज सोचे और कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय ले। गंगाशहर से इसकी शुभ शुरुआत हो सकती है।

बन्धुओ! मैं पूछना चाहता हूं, क्या आपको यह बात आवश्यक नही लगती है कि समाज मे कोई भी निरक्षर नही रहना चाहिए? यदि वास्तव मे आप इसकी आवश्यकता और उपयोगिता समझते है तो इतना विश्वास मैं दिला सकता हूं कि यह कार्य कठिन नही है। पर मुझे पता नही कि हमारे यहां क्यो ऐसी पद्धति-सी पड़ गई है कि लोग सुनना तो बहुत पसन्द करते है पर उसके अनुसार कुछ करने की आवश्यकता नही समझते। वस्तुतः सुनने का अर्थ यही है कि करणीय कार्य में अपने पुरुषार्थ का नियोजन किया जाए। अन्यथा वही बात होगी—घर से चोर सारा सामान ले गए और घर का मालिक कहता रहा कि मैं सब कुछ जानता हूं।

घर मे चोर घुस आए। उनकी आहट से सेठानी नीद से जग गई। उसने निद्राधीन सेठ को जगाते हुए कहा—"जल्दी उठो, घर में चोर आ गए है।"

"तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हूं।"—सेठानी को आश्वस्त कर सेठ पुनः खर्राटे भरने लगा।

थोड़ी देर पश्चात् सेठानी ने सेठ को पुन. जगाते हुए सूचित किया—

"चोरो ने तिजोरियों के ताले तोड़ लिए है। अब तो जल्दी करो।"

"तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हूं।"—सेठ ने पुनः उसी शब्दावली में सेठानी को आश्वस्त किया।

चोर तिजोरियों से सारा नगद, जेवरात आदि निकालकर उनकी गठरियां बांधने लगे। सेठानी ने ताजा स्थिति से अवगत करते हुए सेठ को तीसरी बार फिर जगाने का प्रयास किया। पर सेठ इस बार भी वही शब्दावली 'तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हू'—दोहराते हुए करवट बदलकर सो गया।

अब चोर सारा धन-माल लेकर चलने की तैयारी मे थे। सेठानी ने एक प्रयत्न और किया सेठ को जगाने का। परन्तु उसे सफलता नही मिली। उसे सेठ का वही रटा-रटाया उत्तर मिला—"तू चिंता मत कर, मैं सब कुछ जानता हू।"

चोर सारा धन लेकर चलते बने। सेठानी के धैर्य का बांध टूट गया। उसने सेठ को झकझोर कर जगाते हुए तेज स्वर में कहा—"मै समझ नही पाई, आपके इस जानने का क्या अर्थ है ? चोर तो सारा घर खाली कर चले गए हैं।"

अब सेठ की नीद टूटी। खाली तिजोरियो को देखकर सहसा उसका होश-सा उड़ गया। फिर जरा स्वस्थ हुआ तो सेठानी से बोला—"चोर सारा धन ले गए और तूने मुझे तो जगाया................"

"मैंने तो आपको बार-बार जगाने की चेष्टा की थी, पर किसी की नीद भी तो टूटे।"—सेठ का कथन पूर्ण होने से पूर्व ही सेठानी झल्ला उठी।

बन्धुओ ! सचमुच जानना तभी सार्थक है, जब उसके अनुसार करणीय कार्य के प्रति आदमी सजग हो जाए। मैंने साक्षरता और निरक्षरता की बात प्रसंगवश कह दी है। यदि इस बात पर ध्यान देकर आप इस दिशा मे कुछ सक्रिय कदम उठाते है और निरक्षरता को मिटा देते हैं तो आपके समाज का गौरव है, अन्यथा मैंने तो अपना कर्त्तव्य निभा दिया।

अब मैं पुनः अपने मूल विषय पर लौटता हूं। सम्यग्दृष्टि प्राणी का श्रुत या मोक्ष साधना में सहयोगी श्रुत सम्यक्श्रुत कहलाता है। इसके ठीक विपरीत मिथ्यादृष्टि प्राणी का श्रुत या मोक्षसाधना मे बाधक श्रुत मिथ्याश्रुत है। आदिसहित श्रुत सादिश्रुत हैं। आदिरहित श्रुत अनादिश्रुत कहलाता है।

तत्त्व रूप मे सारा श्रुत अनादि ही है। पर किसी तत्त्व को हम

अहिंसा के नाम से पुकारने लगे, किसी को तत्त्व सत्य के नाम से, किसी तत्त्व को ब्रह्मचर्य के नाम से, किसी तत्त्व को ....। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि शब्द सादि है पर तत्त्व अनादि है।

सान्त—अन्तसहित श्रुत सपर्यवसितश्रुत है। अनन्त—अन्तरहित श्रुत अपर्यवसितश्रुत है।

बारहवां अंग—दृष्टिवाद गमिकश्रुत है। इसमे एक समान पाठ होते हैं। कुछ वर्णन किया जाता है और फिर कह दिया जाता है कि शेष पूर्वोक्त पाठ की तरह समझना चाहिए। इस प्रकार एक पाठ का सम्बन्ध दूसरे पाठ से जुड़ा रहता है। जिसमें एक समान पाठ न हों, वह अगमिकश्रुत है।

गणधरो द्वारा रचित द्वादशांगी—आचाराग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, भगवती..............अंगप्रविष्ट श्रुत है।

गणधरो के अतिरिक्त अन्य आचार्यो द्वारा रचे गए ग्रन्थ अनंगप्रविष्ट श्रुत है।

कई वार प्रश्न पूछा जाता है, आगम कितने मान्य है? इसका समाधान यही है कि द्वादशांगी मान्य है। और जो ग्रंथ द्वादशांगी से मिलते है, वे भी मान्य हैं। जो द्वादशांगी से नही मिलते, वे मान्य नही हैं।

अवधिज्ञान

मति और श्रुत ज्ञान के विवेचन के पश्चात् अव मैं अवधिज्ञान के वारे में वताना चाहूंगा।

आत्ममात्रापेक्षं रूपिद्रव्यगोचरमवधिः।

अवधानं अवधिः।

अवधानपूर्वक किए जानेवाले ज्ञान को अवधिज्ञान माना जाता है। यानी एकाग्रचित्त होने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह अवधिज्ञान है। क्योंकि जव भी किसी अवधिज्ञानी को किसी वात का ज्ञान करना होगा तो उसे तत्काल उस विषय पर अपना चित्त एकाग्र करना होगा। एकाग्र हुए विना वह ज्ञान प्राप्त नही कर सकेगा।

आप देखे, गौतम स्वामी अवधिज्ञानी थे। वे चाहते तो वहुत सारे प्रश्न, जिनका कि समाधान उन्होंने भगवान महावीर से प्राप्त किया, स्वयं ही समाहित कर सकते थे। पर उन प्रश्नों का स्वयं समाधान प्राप्त करने के लिए चूंकि उन्हें वहुत अधिक एकाग्र होना पड़ता, वहुत अधिक शक्ति व्यय करनी पड़ती, इसलिए उन्होंने उन प्रश्नों को सीधे भगवान के सामने प्रस्तुत कर अपनी जिज्ञासाओं को शांत किया।

अवधिज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है। यानी इसमे इन्द्रियो तथा मन

की अपेक्षा नही होती। 'अतीन्द्रिय' शब्द किसी समय बहुत अपरिचित-सा लगता था। पर आजकल वैसी बात नही है। क्योकि आज इस शब्द की वैज्ञानिक जगत् में काफी चर्चा है। इस अतीन्द्रिय ज्ञान में व्यक्ति वे सारी बातें केवल आत्मा के सहारे जान सकता है, जिन्हे हम इन्द्रियो एवं मन के सहारे जानते है। पर इस सम्बन्ध मे इतना अवश्य है कि वह (अवधिज्ञानी) समस्त पदार्थ-जगत् को नही जान सकता। मात्र रूपी पदार्थों को ही जान सकता है। अरूपी पदार्थों को जानना उसकी ज्ञान-सीमा से परे है।

इस प्रकार अवधिज्ञान की परिभाषा हम यह कर सकते है—इंद्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्मा के सहारे जो रूपी द्रव्यों का ज्ञान होता है, वह अवधिज्ञान है।

अवधिज्ञान के विभिन्न स्तर और विभिन्न स्थितिया है। मान लीजिए, किसी को हथेली मे अवधिज्ञान हुआ। इस स्थिति मे वह हथेली से ही देख सकेगा। इसी प्रकार किसी को पांव मे अवधिज्ञान हुआ तो वही से देख सकेगा। यह कभी सम्भव नही कि जिसे हथेली मे अवधिज्ञान हुआ है, वह पांव से देख सके। एक स्थिति यह भी है कि जो व्यक्ति जितनी अधिक शक्ति खर्च करता है, एकाग्र होता है, उसको उतना ही अधिक अवधिज्ञान प्राप्त होता है।

प्रश्न पूछा जा सकता है, क्या सभी प्राणियों को अवधिज्ञान हो सकता है ? हा, हो सकता है पर सबको समानरूप से नही होता।

भवप्रत्ययो देवनारकाणाम्।

देवो और नारको का अवधिज्ञान भवहेतुक होता है। अर्थात् देव गति और नरकगति में पैदा होनेवाले प्राणियो को यह ज्ञान जन्म से ही प्राप्त होता है।

क्षयोपशमनिमित्तश्च शेषाणाम्।

मनुष्यों और तिर्यञ्चों के लिए यह ज्ञान क्षयोपशमसापेक्ष है।

इस सन्दर्भ में एक बात समझ लेने की है। मनुष्यो एवं तिर्यञ्चो का अवधिज्ञान क्षयोपशमजन्य है—इसका अर्थ यह नही कि देवो और नारको का यह ज्ञान क्षयोपशमजन्य नही है। अवधिज्ञान तो सभी का क्षयोपशमजन्य ही होता है। हां, इतना अन्तर अवश्य है कि देवो और नारको का अवधिज्ञान पुरुषार्थसापेक्ष नही है। भवस्थिति के कारण उन्हे यह ज्ञान सहजरूप से प्राप्त होता है, जबकि मनुष्यो एव तिर्यञ्चो को यह ज्ञान पुरुषार्थ/प्रयत्न के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है।

अवधिज्ञान के सम्बन्ध मे एक बात और बताकर मैं आज का प्रवचन समाप्त करता हूं। आज भी अवधिज्ञान हो सकता है। उसकी कोई नास्ति

नहीं है। पर उसके लिए तीव्र पुरुषार्थ अपेक्षित है। इसके साथ ही यह भी संभव है कि किसी को अवधिज्ञान प्राप्त हो जाए और उसे मालूम ही न पड़े।

गंगाशहर
१६ अगस्त, १९७८

अवधिज्ञान के प्रकार

अवधिज्ञान की चर्चा कल मैंने प्रारम्भ की थी। हमारी आत्मा मे अनन्त ज्ञान है। पर ज्ञानावरणीय कर्म ने उस ज्ञान को आच्छादित कर रखा है। जब ज्ञानावरणीय कर्म दूर हट जाता है तो वह ज्ञान उसी प्रकार प्रकट होता है, जिस प्रकार बादलों के दूर होने पर सूर्य।

अवधिज्ञान के प्रकार

अनुगामि-अननुगामि-वर्धमान-हीयमान-प्रतिपाति-अप्रतिपाति भेदादसौ षोढा।

अवधिज्ञान के छह प्रकार हैं—

१. अनुगामी
२. अननुगामी
३. वर्धमान
४. हीयमान
५. प्रतिपाति
६ अप्रतिपाति

अनुगामी—अवधिज्ञानी के साथ-साथ चलनेवाला अवधिज्ञान अनुगामी अवधिज्ञान है। जिस प्रकार व्यक्ति की आत्मा सदैव उसके साथ-साथ ही रहती है, उसी प्रकार अनुगामी अवधिज्ञान भी अवधिज्ञानप्राप्त व्यक्ति के साथ-साथ चलता है।

अननुगामी—अवधिज्ञानी के साथ-साथ न चलनेवाला अवधिज्ञान अननुगामी अवधिज्ञान है। उदाहरणार्थ, किसी व्यक्ति को इस क्षेत्र मे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। पर ज्यो ही वह इस क्षेत्र को छोड़कर दूसरे क्षेत्र में चला जाता है, उसका अवधिज्ञान समाप्त हो जाता है। पुनः जब वह इसी क्षेत्र मे आएगा तो उसे अवधिज्ञान प्राप्त होगा।

वर्धमान—जो अवधिज्ञान क्रमश. बढता रहता है, वह वर्धमान अवधिज्ञान कहलाता है। पैदा होते समय किसी का अवधिज्ञान बहुत सूक्ष्म

रूप मे हो सकता है, पर वढते-वढते वह इतना वढ सकता है कि संसार के सभी रूपी द्रव्यों को जान सकना है।

हीयमान—प्राप्त होने के समय किसी को अवधिज्ञान वहुत वड़े रूप में प्राप्त हो सकता है। पर क्रमशः वह यदि हीन होता जाता है तो उसे हीयमान अवधिज्ञान कहा जाता है।

प्रतिपाति—उत्पन्न होकर वापस चला जानेवाला अवधिज्ञान प्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है। इस सदर्भ में आप पूछ सकते हैं, एक वार प्राप्त हुआ अवधिज्ञान वापस कैसे चला जाता है ? एक व्यक्ति को मोहरों से भरा एक कलश मिला। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ कि सहजरूप से ही लाखों का धन मिल गया। उसने उन मोहरों को वाहर निकाला। वे मिट्टी से गंदी हो रही थी। उसने सोचा—पास में ही नाले में पानी वह रहा है, वहां इन्हे धो लूं। इस चिन्तन के साथ वह मोहरो को धोने लिए वहा आया। नाले मे पानी वहुत थोड़ा-सा था। उसका प्रवाह भी अत्यन्त मंद था। उसने मोहरों को धोने के लिए उन्हे पानी में डाला। मोहरों को डालते ही पीछे से पानी का तेज प्रवाह आया और सारी मोहरें उसमें वह गई। वह ज्यो-का-त्यों हाथ मलता रह गया। इसी प्रकार कल्पना कीजिए, किसी व्यक्ति को अवधिज्ञान प्राप्त हुआ है। उस ज्ञान के द्वारा वह समस्त लोक के पुद्गलों को जगमगाते हुए देखता है। सहसा इस दृश्य को देखकर वह हक्का-वक्का-सा रह जाता है। यानी उस ज्ञान को पचा नही पाता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अवधिज्ञान वापस चला जाता है।

अप्रतिपाति—एक वार प्राप्त होने के पश्चात् कभी भी वापस न जानेवाला अवधिज्ञान अप्रतिपाति अवधिज्ञान कहलाता है।

मन:पर्यायज्ञान

अवधिज्ञान की चर्चा के पश्चात् अव मैं मनःप्रर्यायज्ञान का विवेचन करूगा।

मनोद्रव्यपर्यायप्रकाशि मनःपर्यायः।

मनोवर्गणा के अनुसार मानसिक अवस्थाओं का जो ज्ञान होता है, उसे मन-पर्यायज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर व्यक्ति दूसरों के मनोगत भावों को जान लेने मे सफल होता है। यह भी अतीन्द्रिय/इन्द्रियातीत ज्ञान है। इस संदर्भ मे इतना स्पष्ट कर लेना आवश्यक है कि वस्तुतः मन:पर्यायज्ञानी मनोवर्गणा को ही जानता है, मनोगत भावों को नही। मनोवर्गणा की विभिन्न पर्यायों के आधार पर अनुमान के द्वारा वह व्यक्ति के भावो को पकड़ता है। सीधे मनोभावो को पकड़ने की शक्ति इस ज्ञान मे नही होती।

प्रश्न हो सकता है, मनोवर्गणा की पर्यायों को अवधिज्ञान से भी जाना जाता है, फिर मन पर्यायज्ञान की विशेषता क्या है ? इसका समाधान इतना-सा ही है कि अवधिज्ञान से मनोवर्गणा के अतिरिक्त समस्त लोक के पुद्गलो को जाना जाता है, जबकि मन:पर्यायज्ञानी सिर्फ मनोवर्गणा को ही जानता है। वह मनोवर्गणा का विशेषज्ञ होता है। आजकल आपको शरीर के विभिन्न अंगों के विशेषज्ञ डॉक्टर मिलते हैं। और तो क्या, दाहिनी और बांयी आंख के भी अलग-अलग विशेषज्ञ होने लगे हैं। अब आप ध्यान दें, आंख के बारे मे शरीर के सभी अवयवों की चिकित्सा करनेवाला डॉक्टर भी जानता है और वह उसकी चिकित्सा भी करता है तथा एक नेत्र-विशेषज्ञ भी जानता है और वह उसकी चिकित्सा भी करता है। पर दोनो के जानने और चिकित्सा करने मे काफी अन्तर रहता है। आंख के बारे में जितना सूक्ष्म ज्ञान नेत्र-विशेषज्ञ को होता है, उतना सूक्ष्म ज्ञान सामान्य डॉक्टर को नही हो सकता। इसलिए आंख की जैसी सफल चिकित्सा नेत्र-विशेषज्ञ कर पाता है, वैसी सफल चिकित्सा सामान्य डॉक्टर नही कर पाता। अवधिज्ञान और मन पर्यायज्ञान को भी हमें इसी परिप्रेक्ष्य मे देखना चाहिए।

आप पूछेंगे, इन दोनों ज्ञानो में बड़ा कौन-सा है ? इस प्रश्न का समाधान सापेक्ष है। अवधिज्ञान समस्त लोक के रूपी द्रव्यों को जान पाता है, पर मन.पर्यायज्ञान केवल मनोवर्गणा को ही जान पाता है, इस दृष्टि से अवधिज्ञान को बड़ा माना जा सकता है। पर मन:पर्यायज्ञान मनोवर्गणा को जितनी सूक्ष्मता से जान पाता है, उतनी सूक्ष्मता से अवधिज्ञान नही जान पाता, इस अपेक्षा से मन.पर्यायज्ञान बड़ा है।

किसी व्यक्ति का अवधिज्ञान बहुत अधिक विकसित है और किसी व्यक्ति का मन:पर्यायज्ञान बहुत अल्प विकसित है। इसके विपरीत किसी व्यक्ति का मन पर्यायज्ञान बहुत अधिक विकसित है और दूसरे व्यक्ति का अवधिज्ञान बहुत अल्प विकसित है। इस स्थिति में मन:पर्यायज्ञान बड़ा होगा।

तरतमता कितनी ?

पूछा जा सकता है, ज्ञान-ज्ञान मे भी क्या अन्तर है ? हां, एक व्यक्ति के ज्ञान मे तथा दूसरे व्यक्ति के ज्ञान मे बहुत बड़ी तरतमता रह सकती है। शास्त्रो मे कहा गया है कि व्यक्ति-व्यक्ति के ज्ञान मे उत्कृष्ट रूप मे अनन्तगुणा फर्क पड़ सकता है। यानी एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के ज्ञान से अनन्त गुण भाग हीन और अनन्त गुण भाग अधिक हो सकता है। आप ज्ञान की बात करते हैं, पर मैं कहता हूं कि साधु-साधु मे अनन्त गुणा फर्क हो सकता है।

एक साधु पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसा होता है और दूसरा द्वितीया के चन्द्रमा जैसा। एक साधु अत्यंत पापभीरु होता है, एक-एक कदम जागरूकता से रखता है, वही दूसरा साधु प्रमादी भी हो सकता है। वार-वार स्खलना कर सकता है। फिर भी दोनों साधु ही हैं। आप कहेंगे, इसका अर्थ तो यह हुआ कि प्रमाद किया जा सकता है। नही, प्रमाद करने का मैं किंचित् भी अनुमोदन नही कर रहा हूं। पर छद्मस्थता के कारण वह हो सकता है और होता है—इस तथ्य को भी नकार नही सकता।

प्रसंग अतिमुक्तक मुनि का

शैक्ष अतिमुक्तक मुनि की वात आपने सुनी होगी। देह-चिंता से निवृत्त होने के लिए जंगल में गए। वहां नाला वह रहा था। साधुचर्या के कल्प्य-अकल्प्य की विस्मृति हो गई। अपनी पात्रिका को कच्चे पानी में तैराने लगे। कुछ देर वाद स्थविर मुनि आए। अतिमुक्तक मुनि को पात्रिका कच्चे पानी में तैराते देखकर उन्होंने मन ही मन सोचा—भगवान ने कैसे अवोध वालक को दीक्षित कर लिया! इसे अभी तक साधुत्व का जरा भी भान नहीं है!! वे उपालंभ की भाषा मे बोले—"यह क्या कर रहे हो? तुम्हे कल्प्य-अकल्प्य का जरा भी ख्याल नही है?........" अतिमुक्तक मुनि तत्काल संभले। उन्हें अपनी भूल का अहसास हुआ। स्थविर मुनि उन्हें अपने साथ लेकर भगवान महावीर के श्रीचरणो में उपस्थित हुए और व्यंग्य की भाषा में वोले—"भन्ते! आपका यह छोटा शिष्य अतिमुक्तककुमार कितने भवों मे मुक्त होगा?" भगवान सर्वज्ञ थे। अतः सारी घटना से परिचित थे और स्थविर मुनियों के व्यग्यात्मक भावो से भी। भगवान ने कहा—"स्थविरो! तुम लोग छोटे मुनि की इस प्रकार आशातना मत करो, सेवा-शुश्रूषा करो। यह इसी भव में मुक्ति जानेवाला हे।"

भगवान की वात सुनकर स्थविरों को अपने अशिष्ट व्यवहार के लिए घोर पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने अतिमुक्तक मुनि से तत्काल क्षमायाचना की। अपनी आत्मा को शुद्ध बनाने का प्रयास किया।

अधीर न बनें

वन्धुओ! आप लोग भी हमारे छोटे-छोटे साधु-साध्वियों की स्खलना देखकर यह सोच सकते है कि आचार्यश्री ने इन्हे कैसे दीक्षित कर लिया! मैं मानता हूं, हमारे साधु-साध्वियां स्खलना कर सकते है। छोटी गलती भी कर सकते हैं और वडी गलती भी कर सकते हैं। पर मैं आपसे कहना चाहता हूं कि आप इनकी त्रुटियो को देखकर अधीर न वनें। आपको ख्याल रहना चाहिए कि साधना की अपरिक्वता में त्रुटियां होना अस्वाभाविक नही

है। पर इसका अर्थ यह नही कि मैं प्रमाद को प्रोत्साहन दे रहा हूं। प्रमाद को मेरा कोई प्रोत्साहन नहीं है। मेरा प्रोत्साहन तो सदा अप्रमाद को ही है। और इस दृष्टि से प्रमाद करनेवाले साधु साध्वियों को समय-समय पर सजग भी करता रहता हू। क्योंकि मैं जानता हू कि आज जो स्खलना कर रहे है, वे कल ठीक भी हो सकते है। अनेक ऐसे साधु-साध्विया मेरे ख्याल मे है, जिनका प्रारम्भिक साधना-काल बहुत सन्तोषप्रद नही था, पर धीरे-धीरे वे बहुत ही तेजस्वी और आत्मस्थ बन गए।

गंगाशहर
१७ अगस्त, १९७८

मन:पर्यायज्ञान के प्रकार

मन:पर्यायज्ञान की बात कल मैने प्रारम्भ की थी। आज हम उसके भेदों को समझे।

ऋजु-विपुलमती।

साधारणमनोद्रव्यग्राहिणी मतिः ऋजुमति.। तद्विशेषग्राहिणी मतिः विपुलमति:।

मन.पर्यायज्ञान के दो प्रकार है—

१. ऋजुमति

२ विपुलमति

सामान्यरूप से मानसिक पुद्गलो को ग्रहण करनेवाली मति को ऋजु-मति कहा जाता है। उनकी विशेष पर्यायों को जाननेवाली मति विपुलमति कहलाती है।

एक व्यक्ति ने मन मे चिंतन किया कि मैं अमुक-अमुक व्यापार करूंगा। मुझे इतना लाभ होगा।..........अब ऋजुमति केवल इतना जाना पाता है कि अमुक व्यक्ति सोच रहा है—उसे व्यापार मे लाभ होगा। पर वह किस चीज का व्यापार करेगा ? किस व्यापारी के साथ करेगा ? कब करेगा ? उसे कितना लाभ होने की आशा है ? आदि-आदि बातो को वह नही जान सकता। ये सब बाते जानना विपुलमति की सीमा मे है। विपुलमति इन सब विशेष पर्यायो को ग्रहण कर सकता है।

दूसरा उदाहरण और देखें—एक व्यक्ति ने घडे का चिन्तन किया। ऋजुमति जानेगा कि अमुक व्यक्ति ने घड़े के बारे मे चिंतन किया है। पर कितना बडा घडा ? किस रग का घड़ा ?......ये सब बाते विपुलमति ही जान पाता है, ऋजुमति नही।

निर्मल मेधा

हम मन.पर्यायज्ञान की बात एक बार छोड दे। मति और श्रुत ज्ञान को ही ले। किन्ही-किन्ही व्यक्तियो का मति व श्रुत ज्ञान इतना विकसित होता है कि वे बहुत जल्दी दूसरे के मनोभावो का काफी हद तक सही-सही

अनुमान लगा लेते हैं। इसके विपरीत बहुत-से लोग ऐसे भी होते है, जिनका ज्ञान दूसरो के भावों को समझने मे सर्वथा असफल रहता है।

घोड़े के पैर कितने होते हैं?

हमारे धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन हम पढते है। उनकी मेधा बहुत निर्मल थी। दूसरो के मनोगत भावो को पढने मे वे बहुत ही दक्ष थे। एक बार एक भाई उनके पास आया और प्रश्न की भाषा मे बोला—"स्वामीजी! घोडे के पैर कितने होते है?"

स्वामीजी ने प्रश्नकर्ता के मन मे छुपी दुर्भावना को तत्काल भांप लिया। वे कुछ क्षण के लिए चिंतन की मुद्रा मे मौन रहे और फिर गिनती करते हुए बोले—"दो आगे के और दो पीछे के, कुल चार।"

स्वामीजी द्वारा उत्तर दिए जाने के इस असामान्य ढग को देखकर वह भाई बोला—"महाराज! यह तो सामान्य-सा प्रश्न है। एक छोटा बच्चा भी इसका उत्तर दे सकता है। फिर इसमें इतना सोचने और पैर गिनने की क्या जरूरत थी?"

"यह ठीक है कि तुम्हारा प्रश्न सामान्य-सा है। छोटा-सा बच्चा भी इसको उत्तरित कर सकता है। इसलिए इस प्रश्न के उत्तर देने मे मैं चिन्तन न भी करता तो कोई कठिनाई नही थी। पर इस प्रश्न का उत्तर मैंने सोच-कर और पैर गिनकर इसलिए दिया कि यदि तुम इसके साथ ही दूसरा प्रश्न यह कर लो कि कनखजूरे के पैर कितने होते है, तो मुझे सोचना और गिनना पड़ेगा। इस स्थिति मे इस प्रश्न का उत्तर तो झट से दे दू और दूसरे प्रश्न के उत्तर देने मे अटक जाऊं, यह उचित नही लगेगा। किन्तु जब मैं पहले प्रश्न का उत्तर भी सोचकर और पैर गिनकर दूं, तब दूसरे प्रश्न का उत्तर भी सोच कर और पैर गिनकर देने मे कोई अनुचित बात नही होगी। उस प्रश्न का उत्तर सोचने और पैर गिनने का भी मेरे सामने अवकाश रह जाएगा।" —स्वामीजी ने अपना अभिप्राय स्पष्ट किया।

वह भाई स्वामीजी की बात सुनकर चकित रह गया। शर्मिन्दा होता हुआ-सा धीरे से बोला—"वस्तुत. कनखजूरे के पैर पूछकर आपको पराजित और अपमानित करने के अभिप्राय से ही मैंने घोडे के पूछे थे। पर आपने तो मेरे मन की भावना पहले ही भांप ली।"

वस्तुत' आचार्य भिक्षु केवल दूसरों के मनोगत भावो को जानने की कला मे ही नही, अपितु द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव की सारी स्थितियो को समझने की कला मे बहुत ही माहिर थे। मैं मानता हू, जीवन की सफलता का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण पक्ष है। जो व्यक्ति इस कला को नही जानता, वह कभी भी सफलता का वरण नही कर सकता। प्रवचनकार प्रवचन करता है तो

उसे इस बात का विवेक रखना बहुत जरूरी है कि मेरे सामने परिषद् कैसी है ? अर्थात् सुननेवाले कौन-कौन से मत को माननेवाले है ? परिषद् विद्वानो की है या सामान्य लोगो की ? जो प्रवचनकार ऐसी बातो की ओर ध्यान दिए बिना प्रवचन करता है, वह चाहे कितना भी बडा विद्वान् और शास्त्रज्ञ क्यो न हो, सफल नही हो सकता।

मन से जुड़ी है बुराई और अच्छाई

कुछ लोगों का चिन्तन है कि प्रवचनकार को प्रवचन करते समय आखो को बन्द रखना चाहिए। क्योकि आंखें खुली रहने से विकार आ सकता है। चिन्तन के लिए हर व्यक्ति स्वतंत्र है। किसी को रोका नही जा सकता। पर मैं इस चिन्तन से सहमत नहीं हूं। वस्तुतः विकार का कारण आंखें नही, मन है। यदि आंखें ही विकार का कारण हों तो फिर वे सबके प्रति विकार की दृष्टि से देख सकती हैं। पर आप ध्यान दें, उन्ही आंखो से लोग अपनी माता को देखते है, साध्वियों को देखते है और उन्ही आंखों से अपनी पत्नी को देखते है, वेश्या को देखते हैं। अब समझना यह है कि यदि आखे ही बुरी है तो माता और साध्वियो को तथा पत्नी और वेश्या को देखने की एक ही दृष्टि होती। पर क्या मजाल है कि माता और साध्वियो के प्रति कभी कोई विकार की भावना आ जाए। लेकिन उन्हीं आंखों से पत्नी या वेश्या को देखा जाता है तो विकार भी आ सकता है। उन्ही दांतों से बिल्ली अपने बच्चे को पकडती है और उन्ही दांतो से चूहे को। पर अपने बच्चे को पकडे तब उसे दांत लग तो क्यो जाए और चूहे को पकड़े तब चूहा उसके दांतों से बच तो क्यों जाए।

वस्तुतः आंख, कान आदि इंद्रिया अपने आप मे न बुरी हैं न अच्छी। उनका काम तो अपने-अपने विषय को ग्रहण करना है। बुराई और अच्छाई तो मन मे छुपी रहती है। यदि मन मे राग-द्वेष है, विकार है तो आंख की दृष्टि विकृत बन जाती है। कान विकृत सुनने लगते है। जीभ लोलुप हो जाती है।............इसके विपरीत यदि मन मे विकार या राग-द्वेष नही है तो आखें सम्यक् देखती है, कान सम्यक् सुनते हैं।............कुछ लोग कह देते है कि यह जीभ बहुत बुरी है, क्योकि बहुत सारे पाप इसके द्वारा ही होते हैं। यह खाकर भी नुकसान करती है और बोलकर भी। यह ठीक है कि खाने के असयम और बोलने के असंयम से आदमी बहुत बडा नुकसान उठाता है। पर वस्तुतः इसमें जीभ का दोष नही है। दोष मन के विकार का ही है। यदि मन में विकार/आसक्ति/लोलुपता न हो तो जीभ कोई भी गलत कार्य नही करेगी। वह अप्रिय/कर्कश/अश्लील नहीं बोलेगी। अच्छी-से-अच्छी वस्तु सामने आने पर भी उसे विकृत रूप में नहीं खाएगी।

मिश्री गिली कैसे हो ?

एक व्यक्ति ने संत को एक मिश्री का टुकड़ा दिया और कहा—"इसे मुह मे रख ले।"

संत ने उसे मुंह मे रख लिया। दो मिनट के वाद उस व्यक्ति ने उसे वापस निकालने के लिए कहा। संत ने तत्काल वह मिश्री का टुकड़ा मुह से निकाल कर उसके हाथ मे थमा दिया। वह भाई यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि मिश्री का टुकड़ा थूक से गीला नही हुआ है। उसने सन्त से पूछा—"यह क्या ! मुंह मे रखी हुई मिश्री गीली क्यो नही हुई ?"

"मुह मे रखने से मिश्री गीली कैसे हो, वह तो खाने से गीली होती। तुमने मात्र मुझे मिश्री मुह मे रखने के लिए कहा था, खाने के लिए नही। जव मेरे मन मे खाने की भावना ही नही थी तो लार कैसे लगे ?"—सन्त का समाधान था।

वन्धुओ ! यह वात शायद आपकी समझ मे न आए, पर कोई असभव नही है। जव मन विकाररहित होता है तो जीभ की क्या ताकत है कि वह किसी वस्तु के प्रति आसक्ति करे।

आप परम ज्ञानी हैं

आप देखें, इसी जीभ से एक आदमी मीठा वोलता है और दूसरा कर्कश। यदि जीभ ही बुरी हो तो यह कैसे सभव हो सकता है ? बुढिया का इकलौता वेटा वर्षो से घर नही लौटा। वह वडी चिन्तित थी। एक दिन जव वह पानी भरने के लिए गई तो उसने तालाव की पाल पर दो ज्योतिषियों को वैठे देखा। वह उनके समीप गई और विनम्रतापूर्वक वोली—"पण्डितजी महाराज ! मेरा इकलौता पुत्र वर्षो पहले परदेश गया था। अव तक वापस घर नही आया। कृपया वताएं कि वह मुझसे कव मिलेगा ?"

इस प्रश्न के साथ ही उसके माथे पर रखा पानी से भरा घडा नीचे गिर कर चूर-चूर हो गया। ऐसा हुआ कि नही हुआ उन दोनो ज्योतिषियों मे से एक ज्योतिषी वोल उठा—"तेरा वेटा मर गया।"

सुनते ही बुढ़िया के शरीर मे आग-आग लग गई। उस ज्योतिषी को दुत्कारती हुई वोली—"मूर्ख ! हट जा मेरी आखों के सामने से। मै नही सुनना चाहती तेरे मुह का एक भी शब्द। नही देखना चाहती एक क्षण के लिए भी तेरा मुह।"

दूसरे ज्योतिषी ने भी अपना फलित किया। बुढिया को आश्वस्त करता हुआ मधुर शब्दो मे वह वोला—"मां ! तू अधीर मत वन। तेरा वेटा अभी-अभी तुझे घर पर आया मिलेगा।"

यह सुनते ही बुढ़िया वाग-वाग हो गई। उसी भावमुद्रा मे वह वोली

—"पण्डितजी ! आप परमज्ञानी है। आपकी वाणी में अमृत है। मेरा बेटा मुझे अवश्य घर पर मिलेगा।"

वह उन्हीं पैरो अपने घर पहुंची। सचमुच उसका बेटा घर के बाहर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था।

बन्धुओ ! यह कहानी लम्बी है। मै इसे अभी लम्बाना नही चाहता। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि जीभ कोई बुरी नही है। बुरा है मन मे छुपा अज्ञान, वासना और राग-द्वेष।

इन्द्रियां सावद्य हैं या निरवद्य ?

कुछ लोग तत्त्व-दृष्टि से इन्द्रियो को सावद्य मानते है। परन्तु आचार्य भिक्षु का अभिमत इससे सर्वथा भिन्न है। उनके पास जब यह प्रश्न आया तो उन्होने स्पष्ट शब्दों मे कहा, इन्द्रिया सावद्य नही, निरवद्य है। इन्द्रिया क्षयोपशम भाव है, उदय भाव नही। (यह कथन मात्र भाव इन्द्रियो की अपेक्षा से है।) क्षयोपशम भाव अर्थात् आत्मा की उज्ज्वलता से हमे जो कुछ प्राप्त होता है, वह कभी भी सावद्य नही हो सकता। उदय भाव यानी कर्मोदय से मिलनेवाली चीज सावद्य होती है। उन्होने इस विषय पर 'इन्द्रियवादी की चौपी' नाम से एक पूरे ग्रन्थ की रचना कर दी। इस ग्रन्थ मे उन्होने सटीक तर्कों के द्वारा अपनी बात को प्रमाणित किया है। आप यदि इस ग्रन्थ को पढें तो महसूस करेगे कि स्वामीजी का तात्त्विक ज्ञान कितना तलस्पर्शी और यथार्थता से परिपूर्ण था।

हा, तो मैं इस बात को पुनः दोहराता हूं कि इन्द्रिया स्वयं बुरी नही है, बुरी है—मन की वासना/राग-द्वेप। इसलिए यदि बुराई से मुक्त होना है तो इन्द्रियो को निष्क्रिय करने से कोई उद्देश्य फलित नही होगा। उद्देश्य फलित होने का एकमात्र रास्ता है कि व्यक्ति अपने अन्तर् का शोधन करे। अन्तर्-शोधन की प्रक्रिया का नाम है—धर्म। धर्म में वह शक्ति है, जो व्यक्ति के अन्तर् को धोकर उसे बिलकुल निर्मल बना सकती है। यदि धर्म मे यह शक्ति न हो तो फिर उसकी कोई उपयोगिता या उपादेयता भी नही है। जैसाकि आप सब अनुभव करते हैं, धर्म इस दृष्टि से शत-प्रतिशत सफल रहा है। अतीत मे उसने आत्मशोधन का कार्य किया है, वर्तमान मे कर रहा है और अनागतकाल मे करता रहेगा।

धर्म का शाश्वत मूल्य

मानव जाति के लम्बे इतिहास में धर्म को समाप्त करने के अनेकानेक प्रयत्न हुए। पर धर्म कभी समाप्त नही हुआ। हा, धर्म को समाप्त करनेवाले अवश्य धार्मिक बन गए या स्वयं समाप्त हो गए। मैं मानता हू, यह एक वास्तविकता है। इसे कभी भी झुठलाया नही जा सकता। आप निश्चित मानें,

जब तक धर्म अपने मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति करता रहेगा, तब तक अनन्त काल मे भी उसके अस्तित्व को कोई खतरा नही है। हां, एक स्थिति मे खतरा अवश्य है और वह समाप्त भी हो सकता है। वह स्थिति है—जब व्यक्ति स्वयं अपने धर्म को छोड़ने लगे। जब स्वय धार्मिक भी अपने आत्म-गुणो को छोड़ कर वैभाविक गुणो मे चला जाता है, दुराचरण करने लगता है तो स्वयं उसका धर्म समाप्त हो जाता है। पर ससार के किसी भी दूसरे व्यक्ति की यह ताकत नही कि वह किसी के धर्म को समाप्त कर सके। दूसरा व्यक्ति अधिक-से-अधिक कुछ करे तो किसी को पीट सकता है। उसके हाथ-पैर तोड़ सकता है। उसे गोली मे उड़ा सकता है।....पर उसके आत्म-गुणो को छीन सके, यह उसके सामर्थ्य से सर्वथा परे की बात है। इसलिए मैने कहा कि धर्म शाश्वत है, धर्म की उपयोगिता शाश्वत है। संसार की कोई भी हस्ती उसके अस्तित्व को कभी मिटा नही सकती।

भेद रेखा

मैने प्रासगिकतौर पर कुछ दूसरी-दूसरी बाते कह दी। अब मै पुनः मनःपर्यायज्ञान की चर्चा पर आता हू। मन.पर्यायज्ञान के दोनो प्रकारो को हमने समझ लिया। इसके अनन्तर हमे इस बात को जानना है कि मनः-पर्यायज्ञान और अवधिज्ञान मे क्या अन्तर है ?

विशुद्धि-क्षेत्र-स्वामि-विषयभेदादवधेर्भिन्नः।

विशुद्धि, क्षेत्र, स्वामी और विषय—इन चार भेदो के द्वारा अवधि-ज्ञान और मन.पर्यायज्ञान के अन्तर को समझना चाहिए।

विशुद्धिकृत भेद—अवधिज्ञानी जिन मनोद्रव्यो को जानता है, उन्ही मनोद्रव्यो को मनःपर्यायज्ञानी विशुद्धता से जानता है।

क्षेत्रकृत भेद—अवधिज्ञानी अगुली के असख्यातवे भाग से लेकर समस्त लोक को जानता है। मन.पर्यायज्ञान केवल मनुष्य क्षेत्र तक ही सीमित है।

स्वामिकृत भेद—अवधिज्ञान नारक, तिर्यञ्च, देव और मनुष्य सभी को होता है। जबकि मन.पर्यायज्ञान केवल मनुष्य को होता है। मनुष्य मे भी केवल पूर्ण सयमी मनुष्य यानी साधु को ही होता है।

आप कहेगे, यह क्या पक्षपात ? नही, यह पक्षपात की बात नही है। यह पात्रता और अपात्रता के कारण है। मन.पर्यायज्ञान की स्थिति ही कुछ ऐसी है कि वह पूर्ण सयम के बिना प्राप्त नही होता। इसलिए जो प्राणी पूर्ण सयमी नही होते, उनके लिए यह ज्ञान अलभ्य है।

साधु पूर्ण सयमी होता है इसलिए वह मनःपर्यवज्ञान को प्राप्त करने का पात्र है। यद्यपि सयम गृहस्थ के जीवन मे भी हो सकता है पर उसका संयम अपूर्ण होता है; पूर्ण नही। हमारे यहा कहा गया है कि एक गृहस्थ

हरदम एकांतर तप करता है, पौषध करता है, सामायिक करता है तथा एक साधु प्रतिदिन आहार करता है, फिर भी दोनों में तुलनात्मक दृष्टि से साधु बड़ा है। आप पूछेगे, क्यो? इसका समाधान यही है कि गृहस्थ चाहे कितनी भी तपस्या, साधना क्यो न करता हो, फिर भी उसके पापकर्म आने का रास्ता—आश्रव द्वार सदा खुला रहता है। वही उपवास न करते हुए भी साधु के वह रास्ता बन्द रहता है।

गृहस्थ सामायिक करता है। सामायिक में सावद्य प्रवृत्ति करने का त्याग होता है। आप कहेगे, तब तो वह एक प्रकार से साधु—पूर्ण संयमी बन गया। नही, ऐसा नही होता। साधु और उसमे काफी अन्तर है। सामायिक करने के बाद भी अर्थात् सावद्य योग का त्याग करने के बावजूद भी उसके अप्रत्यक्षरूप से पापकारी प्रवृत्ति चालू रहती है। उदाहरणार्थ —कोई व्यक्ति सामायिक करने के लिए धर्मस्थान पर आता है। घर से चलने से पूर्व वह रसोइए को आदेश देकर आता है कि मेरे लिए अमुक-अमुक भोजन बनाकर तैयार रखना। अब उसने आकर सामायिक कर ली। पर भोजन के निमित्त होनेवाली सावद्य क्रिया उसके अप्रत्यक्ष रूप से चालू रहती है। दूसरा उदाहरण देखे—किसी ने आज पौषध किया। पौषध मे पूरे दिन की सामायिक होती है। एक दिन के लिए व्यक्ति साधुवत् बन जाता है। मैं पूछना चाहता हूं, यदि उस व्यक्ति के एक लाख रुपये ब्याज मे दिए हुए है तो क्या वह उस दिन का ब्याज छोड़ देता है? नही छोड़ता। कहने का साराश यही है कि गृहस्थ के आश्रव द्वार सदा खुला रहता है। इसलिए वह कभी पूर्ण संयमी नही हो सकता। पूर्ण संयमी साधु ही होता है।

आप कहेंगे, तब तो मनःपर्यवज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें साधु बनना होगा। हा, निश्चित ही बनना होगा। जब तक आप साधु नही बनेंगे, तब तक मनःपर्यायज्ञान आपके लिए अप्राप्य है।

लोग कहते है, हमारे धर्म मे तो गृहस्थ को भी मुक्ति है, पर जैनधर्म में उसके लिए साधु बनना जरूरी है। मैं मानता हूं, यह एक प्रकार की भ्राति है। इस भ्राति को मिटाना चाहिए। यह ठीक है कि मुक्ति प्राप्त करने के लिए साधु बनना अनिवार्य है। पर साधु बनने का अर्थ केवल साधु वेष धारण करना नही है। यह तो साधु का ऊपरी चिह्न है। हालांकि इसका भी कई दृष्टियो से महत्त्व है। पर निश्चय दृष्टि से तो साधुत्व का सम्बन्ध अन्तर् के भावों से है। जिस दिन अन्तर् मे साधुवृत्ति आ जाती है, उस दिन निश्चय नय की दृष्टि से साधुत्व आ जाता है, भले व्यक्ति का ऊपरी वेष गृहस्थ का भी क्यो न हो। इसके विपरीत यदि किसी ने साधु का वेष स्वीकार भी कर लिया पर अन्तर् के भावो मे साधुवृत्ति नही आई, यानी पूर्ण

उसने अपने अतीत मे कुछ सुकृत करके शुभ कर्मो का सचय किया था और अब वे उदय मे आए हैं। इसी प्रकार चरित्रसम्पन्न या धर्मनिष्ठ व्यक्ति यदि आज कष्ट प्राप्त करता है तो इसका अर्थ यही समझना चाहिए कि उसने अपने पूर्व जन्मो मे अवश्य कुछ ऐसे दुष्कृत किए थे, जिनके कारण अशुभ कर्मो का बंधन हो गया और अब वे काल-परिपाक के साथ उदय मे आए है।

जब दवा रोग से अधिक शक्तिशाली हो

प्रस्तुत सन्दर्भ मे एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि अतीत मे सचित अशुभ कर्म क्या सुकृत से समाप्त नही हो जाते ? हा, हो सकते है। पर होंगे उसी अवस्था मे जब व्यक्ति का सुकृत दुष्कृत से तेज हो। यदि सुकृत दुष्कृत से क्षीण है तो उस स्थिति मे दुष्कृत द्वारा संचित अशुभ कर्म नष्ट नही होगे। दवा से रोग शान्त होता है, पर उसी स्थिति मे जब दवा रोग से अधिक शक्तिशाली हो। साधारण दवा तीव्र रोग को शान्त नहीं कर पाती।

निकाचित कर्म तपस्या से नहीं टूटते

कुछ कर्म ऐसे भी होते है, जिन्हे भोगना ही होता है। उन्हे निकाचित कर्म कहा जाता है। यदि ऐसा नही हो तो फिर हमारे त्यागी-तपस्वी साधु, आचार्य, उपाध्याय, केवली, तीर्थङ्कर आदि को कष्ट क्यो भुगतना पड़े। क्या उनकी तपस्या—साधना सामान्य होती है ? वस्तुत उनके भी कुछ ऐसे निकाचित कर्म होते है, जो तीव्र तपस्या से भी नही टूटते। आप अपने व्यावहारिक जीवन मे भी इस बात को अनुभव कर सकते है। क्या आपने नही देखा कि कुछ-कुछ व्यक्तियो को ऐसा रोग हो जाता है, जिस पर सारे उपचार निरर्थक साबित होते हैं। उसे उस बीमारी को भुगतना ही पड़ता है। यही स्थिति निकाचित कर्मों की जाननी चाहिए।

कर्म-बंधन और मनोभाव

एक बात यहां और स्पष्ट कर देना मैं आवश्यक समझता हू। कर्म-बन्धन मे व्यक्ति की हर अच्छी या बुरी प्रवृत्ति के साथ-साथ उसके मनोभावो का भी बहुत गहरा सम्बन्ध है। ऊपर के व्यवहार या आचरण से जो व्यक्ति हमे तपस्वी, ध्यानी, मौनी, साधक प्रतीत होता है, वह भी अपने मनोभावो की मलिनता के कारण प्रगाढ अशुभ कर्मो का बन्धन कर लेता है। ठीक इसके विपरीत एक व्यक्ति जो सामान्य लोगो की दृष्टि मे बहुत बुरा कार्य करता है, पापाचरण करता है, वह अपने आत्म-भावो की विशुद्धि के कारण प्रगाढ अशुभ कर्म-बंधन से बच जाता है।

वेश्या स्वर्ग में !

मैने एक कहानी पढी थी। शहर के बाहरी भाग मे एक वेश्या रहती थी। उसके मकान के ठीक सामने एक सन्यासी की कुटिया थी। वर्षो तक

वे आमने-सामने रहे और संयोग से उन दोनों की मृत्यु भी एक ही समय में हुई। दोनों साथ-साथ ही धर्मराज के दरवार में पहुंचे। सवको यह सुनकर वडा आश्चर्य हुआ कि धर्मराज ने संन्यासी को नरक और व्यभिचारिणी वेश्या को स्वर्ग भेजने का आदेश दिया। वावा ने धर्मराज से कहा— "महाराज ! लगता है खाता देखने मे कोई भूल रह गई है। मैंने उम्रभर तपस्या की, साधना की, ब्रह्मचर्य का पालन किया""इसलिए मुझे स्वर्ग मिलना चाहिए। नरक तो इस वेश्या को मिलना चाहिए, जो उम्रभर पापाचरण में आकंठ डूबी रही।" वेश्या को भी वावा की वात न्यायोचित लगी। पर धर्मराज ने कहा—"मेरा निर्णय अटल है। उसमे कोई भी परिवर्तन होनेवाला नही है।" उपस्थित लोगों ने पूछा—"महाराज ! आखिर इस निर्णय का आधार क्या है ?" धर्मराज ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा—"यह ठीक है कि वावा उग्र तपस्या करता था, उम्रभर ब्रह्मचारी भी रहा, पर इसका मन साफ नही था। वेश्या के पास अच्छे-अच्छे आदमियों को जाते देख इसके मन में ईर्ष्या की आग सुलगती रहती। यह सदा वेश्या के ऊपर कुढता रहता—यह कैसी पापिनी है, जो सव लोगों को भ्रष्ट करती है ! इस मानसिक मलिनता के कारण इसकी सारी तपस्या, ब्रह्मचर्य-साधना निस्तेज हो गई इसके अशुभ कर्मो का प्रगाढ वंधन हो गया। अतः इसे नरक मे जाना पड़ेगा।"

वेश्या को स्वर्ग मे भेजने का आधार वताते हुए धर्मराज ने कहा— "यद्यपि यह उम्र भर पापाचरण करती रही, नारकीय जिन्दगी जीती रही, फिर भी इसकी भावना बड़ी ऊची थी। यह सदा अपने वुरे आचरण के लिए अपनी आत्मा की निन्दा करती रहती। वावा को देखकर वरावर सोचती कि यह वावा कितनी त्याग-तपस्या की जिन्दगी विताता है ! वह दिन मेरे लिए धन्य होगा, जिस दिन मै भी इस गन्दगी से निकलकर ब्रह्मचर्य मे उपस्थित होऊंगी और त्याग-तपस्या से आत्मा को भावित करूगी। अपनी इस ऊंची और शुद्ध भावना के कारण पापाचरण मे रत रहती हुई भी यह प्रगाढ अशुभ वंधन से वच गई। परिणामतः यह स्वर्ग मे जाने की अधिकारिणी है।"

इस कहानी का सार आप समझ गए होगे। कर्मो के वंधन मे केवल दीखनेवाली अच्छी या वुरी प्रवृत्ति ही एकमात्र कारण नही है, भावना का भी वहुत निकट का सम्बन्ध है। इसलिए मै आप लोगो से यह विशेप वलपूर्वक कहना चाहता हूं कि आप हर प्रवृत्ति करने मे अपने भावो को यथासभव शुद्ध रखने का प्रयास करे।

अव मैं पुनः अपनी उसी वात पर आता हू, कर्म सदा काल का परिपाक पाकर ही फल देने मे समर्थ होते है। अतीत मे व्यक्ति ने जो कर्म-बंधन

किया है, वह काल-परिपाक से सुख-दु.ख के रूप मे आज फल दे रहा है और वर्तमान मे जो कर्म-वन्धन कर रहा है, उसका परिणाम उसके परिपाक होने पर मिलेगा। इसलिए धार्मिक व्यक्ति को कभी भी वर्तमान मे आने वाले कष्टों को देखकर अपने धैर्य को नहीं खोना चाहिए।

संतुलन की एक नजीर

मै तो यह भी मानता हू कि परीक्षा सदा धार्मिको, धीरो और वीरों की होती है। अधार्मिको, अधीरों और कायर-कमजोरों की कैसी परीक्षा! कैसी कसौटी!! क्या आपने कभी कांच और कोयले को कसौटी पर चढते देखा है? कसौटी पर तो हीरा या हेम ही चढ सकता है। इतिहास इस वात का साक्षी है, कि संसार मे जितने भी महापुरुष हुए है, उन सवको कठिन परिस्थितियो से होकर गुजरना पड़ा है। कठिन परिस्थितियो से निकलने पर उनके व्यक्तित्व मे शतगुणित निखार आया है।

वन्धुओ! मुसीवतें और कठिन परिस्थितियां तो ससार के हर मनुष्य के जीवन मे आती हैं। यह दूसरी वात है कि किसी व्यक्ति के जीवन में उनकी मात्रा अल्प होती है और किसी व्यक्ति के जीवन में उनकी मात्रा अधिक। पर ऐसा व्यक्ति खोजना असमव है, जिसके जीवन मे सर्वथा उतार-चढाव न आया हो। सामान्य व्यक्ति इन उतार-चढावो मे अपने संतुलन को खो देता है और वहुत जल्दी अधीर वन जाता है। इसके सामानान्तर महान् व्यक्ति दृढता के साथ हर अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति से मुकावला करते है और अपने संतुलन को वनाये रखते हैं। दूसरे शव्दो मे हम इस वात को यो भी कह सकते है कि अनुकूलता एवं प्रतिकूलता—दोनो ही परिस्थितियो मे एक समान—मध्यस्थ वने रहने के कारण ही वे महान् हैं! कवि ने कितना सुन्दर कहा है—

'उदये सविता रक्तो, रक्तश्चास्तमये तथा।
संपत्तौ च विपत्तौ च, महतामेकरूपता॥'

जिस प्रकार सूर्य उदय एवं अस्त दोनो ही समय मे अग्नि-पिंड की तरह लाल होता है, उसी प्रकार महापुरुष भी सपत्ति और विपत्ति—लाभ और अलाभ दोनों ही स्थितियो मे एकरूप रहते हैं।

दशरथ कहते है—

'आहूतस्याभिषेकाय, विसृष्टस्य वनाय च।
न लक्षितो मया तस्य, स्वल्पोप्याकारविभ्रमः॥'

—राम को मैने राज्याभिपेक के लिये आमन्त्रित किया या वन मे जाने के लिए—इन दोनो ही परिस्थितियों में उसके चेहरे पर वही सहजता पाई, जो सदा रहती है। राज्याभिपेक के प्रिय आमत्रण पर उसके चेहरे पर कोई

अतिरिक्त प्रसन्नता नही और वन जाने के अप्रिय आमंत्रण पर उसके चेहरे पर कोई विषाद की रेखा नही। अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही स्थितियों मे वह बिलकुल मध्यस्थ रहा।"

आप कहेगे, यह समता बहुत कठिन है। मैं मानता हूं, यह कोई सरल काम नही है। पर इसके साथ ही यह भी मानता हूं कि यदि व्यक्ति को महान् बनना है तो उसे इस तत्त्व को स्वीकार करना ही होगा। अन्यथा वह महान् की कोटि में नही आ सकता। आप टटोले अपने आपको। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियो मे आप अपने आपको किस सीमा तक संतुलित रख पाते है ?

कुछ लोग कहते है, सन्तो का जीवन बड़ा कष्टमय है। उनके भोजन का ठिकाना नही, पानी का ठिकाना नही, रहने के स्थान का ठिकाना नहीं...। ठीक है, संतो का जीवन कठिनाइयो का जीवन है। पर उन्हें सदा अभाव मे ही रहना होता है, ऐसी कोई बात नहीं है। जीवन-निर्वाह की आवश्यक सामग्री उन्हें भी मिलती है। और मुझे तो ऐसा लगता है कि कई बार तो आप लोगो से भी अच्छी सामग्री उन्हे प्राप्त होती है। क्योकि आप लोगों के मन में सन्तो के प्रति अपार श्रद्धा/भक्ति है। इस श्रद्धा/भक्ति के कारण आप अपनी अच्छी-से-अच्छी वस्तु सन्तो को देकर प्रसन्नता की अनुभूति करते है। हां, कभी-कभी ऐसे प्रसंग भी उपस्थित होते है, जब उनकी साधना की पूरी-पूरी कसौटी भी होती है। ऐसा भोजन और ऐसा पानी खा-पीकर भी उन्हे काम चलाना पड़ता है, जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते।

मैं अपने जीवन का एक घटना-प्रसंग सुनाऊं। मै यात्रा पर था। रास्ते में मुझे भयंकर प्यास लग गई। मैने सन्तों से कहा—"पानी की खोज करो।" सन्तों ने इधर-उधर काफी प्रयास किया पर कही भी प्रासुक पानी प्राप्त नही हुआ। आखिर एक साधु घूमता-घूमता एक प्रजापत के घर पहुंचा। वहा उसने एक घड़े में थोडा प्रासुक पानी पाया। पर वह भी पीने योग्य नही था। क्योंकि घडे में पानी कम और मिट्टी ज्यादा थी। मुझे सूचित किया गया। मैने कहा—"जैसा मिले, वैसा ही ले आओ।" वह साधु उस मिट्टीमिश्रित पानी को लेकर आया और मैंने वह पानी पिया। आज तक भी मुझे उस दिन की वह प्यास याद है।

बन्धुओ ! ऐसे प्रसंग मेरे जीवन में कई बार उपस्थित हुए है। यद्यपि मैं साधक हूं और साधनाकाल में कठिन परिस्थितियो मे विषमता आनी कोई अस्वाभाविक बात नही है, तथापि मुझे इस बात का संतोष है कि मैं कठिन परिस्थितियों मे अपने संतुलन को बनाए रख सका हूं। उन क्षणों में मेरे मन में बराबर यह चिंतन रहा है कि हम साधक हैं। हमारा

संकल्प है —भाव और अभाव—दोनों ही स्थितियों मे हम अपनी मानसिक समाधि बनाए रखेंगे। उसे खण्डित नही होने देंगे। खाने-पीने को मिलेगा तो समभावपूर्वक खाएंगे और नही मिलेगा तो समभावपूर्वक भूख-प्यास सहन करेंगे।

मैं तो इस बात का भी समर्थक हूं कि व्यक्ति के जीवन में कठिन परिस्थितियां अवश्यमेव आनी चाहिए। क्योंकि तभी उसके धैर्य और तितिक्षा का पता चलता है। अनुकूलता मे शांत रहना कोई बड़ी बात नही है, बड़ी बात तब है, जब मन के प्रतिकूल परिस्थिति पैदा होने पर भी व्यक्ति शांत बना रहे। आचार्य भिक्षु ने इस संदर्भ में एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

अल्लाह की गाय

सास अपने दामाद की बड़ाई करते-करते नही अघाती। जब कभी प्रसंग चल पड़ता, वह बोल उठती—"मेरा दामाद तो अल्लाह की गाय है। कुछ भी खिला दो, वह कभी भी एक शब्द नही बोलता।"

एक दिन कुछ लोगो ने पूछा—"बुढ़िया! आखिर तू अपने दामाद को खिलाती क्या है?"

"कभी हलुआ, कभी रबड़ी, कभी बर्फी, कभी कलाकन्द……।"—बुढिया मिठाइयो के नाम गिनाने लगी।

"प्रतिदिन मनोनुकूल भोजन मिलता है, तब तेरा दामाद क्यो बोले? एक दिन ठंडी रोटी और ठंडी घाट खिला, तब परीक्षा होगी कि वह कितना शांत है?"—बुढिया की बात को बीच में ही काटते हुए लोग मुखर हुए।

"उसे कुछ भी खिलाओ, कोई फर्क पड़नेवाला नही है।"—बुढिया ने अपनी अवधारणा दुहराई।

"अच्छी बात है, कुछ भी फर्क न पड़े, पर एक दिन हमारे कहने से यह प्रयोग करके तो देख।"—लोगो ने उसे प्रेरित करते हुए कहा।

बुढिया ने दूसरे दिन वैसा ही किया। दामाद ने ज्योंही ठंडी रोटी और ठंडी घाट देखी, आगबबूला हो उठा। थाली को ठोकर मारकर तत्काल वहां से उठ गया और सास को गालियां बकने लगा।

सायं लोग मिले। बुढिया का चेहरा उदास था। लोगो ने पूछा—"क्यो बुढिया! क्या हाल-चाल है?"

"तुम लोग बिलकुल ठीक कह रहे थे। एक दिन में ही उसकी पूरी परीक्षा हो गई। आज एक दिन थोड़ा-सा मन के प्रतिकूल भोजन दिया कि दामाद तो बिलकुल आपे से बाहर हो गया और इतने दिनो से लगातार खा रहे पकवानो और मनोनुकूल भोजन को भूल गया।"—बुढ़िया ने अपनी पूर्वधारणा मे संशोधन करते हुए कहा।

बन्धुओ ! सचमुच यह बडी विचित्र स्थिति है कि आदमी साल में तीन सौ चौसठ दिन सुखी रहता है और एक दिन दुःखी होता है तो तीन सौ चौसठ दिनो के सुख को भूल जाता है। ऐसा क्यो होता है ? इसका कारण स्पष्ट है। जीवन मे समता का अभ्यास नही है। अपेक्षा है, व्यक्ति समता का अभ्यास करे। समता ही हमे अपनी मजिल तक पहुचानेवाला सही राजपथ है। राजपथ को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति कटकाकीर्ण और टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियो मे भटक जाता है, वह अपनी मजिल तक नही पहुंच पाता। जीवन के सही आनन्द को प्राप्त नही कर पाता। मंजिल तक पहुचने के लिए, जीवन के सही आनन्द को प्राप्त करने के लिए आप लोगो को आज से ही सजग होना है, इसी क्षण से सजग होना है। इसी मे मानव-जीवन की सार्थकता है।

गंगाशहर
२७ अगस्त, १९७८

भाव और उनके प्रकार

औदयिक भाव की चर्चा कल के प्रवचन मे मैने प्रारम्भ की थी। प्रायः कहा जाता है—'**अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाऽशुभम्**'—कृत कर्म चाहे शुभ हो या अशुभ उसे अवश्य ही भोगना पडता है। यानी जिन कर्मों का जीव बधन करता है, वे निश्चित ही कभी-न-कभी उदय मे आते है। पर इस सबध मे एक दो बाते समझ लेनी आवश्यक है। सभी कर्म उदय मे आते है, पर फल देने की शक्ति सबमे नही होती। फल वे ही कर्म देते है, जो विपाकोदय मे आते है। प्रदेशोदय मे समाप्त हो जानेवाले कर्म निष्फल हो जाते है। दूसरी बात—जिन कर्मों का जीव आज बन्धन करता है, वे उसी समय उदय मे आ जाए—यह कोई निश्चित सिद्धांत नही है। सभी कर्मों के उदय होने का एक नियत काल होता है और उसी नियत काल के अनुसार वे उदय मे आते है। पर प्रक्रियाविशेष के द्वारा हम नियत समय के अनुसार बाद मे उदय मे आनेवाले कर्मों को खीचकर पहले उदय मे ला सकते है। इसे जैन दर्शन में 'उदीरणा' की सज्ञा दी गई है। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। प्राचीन काल मे आम्रवृक्ष बारह वर्षो से फलवान होते थे। पर आज कलमी आम्रवृक्ष बहुत कम समय मे ही फल देने लगे है। यह कलम का प्रयोग काल की उदीरणा मे एक सहकारी कारण बना है। अभी एक व्यक्ति आराम मे जी रहा है। पर उदीरणा के द्वारा बाद मे उदय होने वाले असातवेदनीय कर्मो को अभी उदय मे ला सकता है। वस्तुत उदीरणा एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इसके सहारे हम अपने पूर्वसचित कर्मो को बहुत अल्पकाल मे नष्ट कर सकते है। त्याग, तपस्या, साधना आदि उसी के लिए तो है। केशलुचन, पदयात्रा, रात्रि भोजन-परित्याग आदि साधु जीवन की बहुत-सी क्रियाओ से भी कर्मो की उदीरणा होती है। प्रायश्चित्त और शुभ-अध्यवसाय भी उदीरणा के साधन है। अशुभ मन परिणाम से जीव जहा सातवी नरक मे जाने के योग्य कर्मो का बन्धन कर लेता है, वही शुभ अध्यवसाय के द्वारा वह तत्काल उन्हे नष्ट भी कर सकता है।

पारिणामिक भाव

स्वस्वभावे परिणमनं परिणामः। तेन निर्वृत्तः स एव वा भावः पारि-

णामिकः ।

भावों के क्रम मे अंतिम भाव है—पारिणामिक भाव । अपने-अपने स्वभाव मे परिणत होना परिणाम कहलाता है । परिणाम से होनेवाली आत्मा की अवस्था या परिणाम को ही पारिणामिक भाव कहा जाता है । बैठना, सोना, खाना, पीना, रोना, हंसना आदि-आदि जीव के परिणाम हैं । इस प्रकार एक ही जीव के अनन्त-अनन्त पारिणामिक भाव होते है । एक व्यक्ति जब वह बालक होता है तो उसमे बालकपन प्राप्त होता है । इसी प्रकार जब वह युवक होता है तो यौवन और बूढा होता है तो बुढापा आता है । ये विभिन्न अवस्थाएं पारिमाणिक भाव है ।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक—इन पाच भावो को आपने समझा । पूछा जा सकता है, हमारे मे कितने भाव है ? औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक—ये तीन भाव तो निश्चित ही हैं । औदयिक भाव इसलिए है कि अभी हमारे ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि आठो कर्मो का उदय है । मन, बुद्धि, इंद्रिया, ज्ञान, साधुपन, श्रावकपन आदि है, इसलिए क्षायोपशमिक भाव है । हम अनेक अवस्थाओ मे परिणमन कर रहे है, इसलिए पारिणामिक भाव है । औपशमिक और क्षायिक भाव भी हो सकते है । पर उनके विषय मे निश्चित नही कहा जा सकता । औपशमिक और क्षायिक भाव उसी स्थिति मे हो सकते है, जब औपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व हो ।

प्रसंग विजयचंदजी पटवा का

पाली के विजयचंदजी पटवा आचार्य भिक्षु के अनन्य भक्त थे । आचार्य भिक्षु के प्रमुख चार श्रावकों मे उनका अग्रणी स्थान है । पर स्वामीजी के भक्त बनने से पूर्व वे उनके कट्टर विरोधी भी थे । धर्म के सही तत्त्व को प्राप्त करने के लिए उन्होने स्वामीजी से काफी लम्बी चर्चा की थी । स्वामीजी के समय चन्द्रभानजी, तिलोकचंदजी आदि कुछ साधुओ का तेरापथ सघ से सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था । एकबार वे घूमते-फिरते पाली आए । वहां ये काफी दिन ठहरे । अपने प्रवास-काल मे उन्होने इधर-उधर की गलत बाते कह-कहकर विजयचंदजी को तेरापंथ एव आचार्य भिक्षु से विमुख करने का हर संभव प्रयास किया । लगता है, विजयचंदजी बड़े ही भद्र प्रकृति के व्यक्ति थे । किसी को कड़ा कहना शायद वे जानते ही नही थे । अतः चन्द्रभानजी, तिलोकचन्दजी आदि की बाते सर्वथा गलत जानते हुए भी उन्होने उनका कोई प्रतिकार नही किया । परिणामस्वरूप वहां के दूसरे-दूसरे श्रावको ने यह अनुमान लगाया कि विजयचन्दजी गण-पृथक् साधुओ (टालोकरों) के बहकावे मे आ गए है । उनकी श्रद्धा कमजोर हो गई है ।

चन्द्रभानजी आदि के पाली से विहार करने के कुछ ही दिनो पश्चात आचार्य भिक्षु का पाली मे पदार्पण हुआ। स्थानीय लोगो ने विजयचन्दजी के प्रति अपने आनुमानिक सशय को स्वामीजी के सामने रखा। स्वामीजी को यद्यपि विजयचन्दजी की श्रद्धा पर किंचित् भी सदेह नही था, फिर भी लोगो के सदेह-निवारण के लिए वे विजयचन्दजी से इस विषय मे वात कर लेना उचित समझते थे। पर कठिनाई यह हो गई कि एक महीने के प्रवास मे विजयचदजी ने स्वामीजी की उपासना तो वहुत की, लेकिन इस सम्वन्ध मे कोई भी वात ही नही की। इस स्थिति मे एक दिन स्वामीजी ने स्वयं ही इस सदर्भ को छेडते हुए पूछा—"विजयचदजी! इस वार यहा चन्द्रभानजी, तिलोकचदजी आदि टालोकर आए थे?"

"हा, महाराज! आए थे।"—पटवाजी ने स्वीकृतिसूचक सिर हिलाते हुए कहा।

"तुम्हारे से उनका सम्पर्क हुआ?"

"हा, महाराज! हुआ था।"

"उन्होने मेरे तथा तेरापथ के वारे मे काफी आलोचनात्मक वाते कही होगी।"

"हां, महाराज! कही थी।"

"तुमने मुझसे कुछ पूछा तो नही।"

"क्या पूछू महाराज! मेरे मन मे दो वातो का दृढ विश्वास है—आप इतने आत्मार्थी है कि स्वप्न मे भी कभी अपने न्याय-पथ को छोड़ नही सकते और अनन्त सिद्धो की साक्षी से किए गए त्यागो को तोडकर गण से पृथक् होनेवाले साधु (टालोकर) कभी झूठ वोले विना रह नही सकते।"

विजयचदजी के इस उत्तर को सुनकर स्वामीजी ने उपस्थित साधुओ और श्रावकों को लक्ष्य कर कहा—"लगता है, विजयचदजी क्षायिक सम्यक्त्व के धनी हैं।"

बन्धुओ! क्षायिक सम्यक्त्व आज भी हो सकता है। उसकी कोई नास्ति नही है। पर चाहिए उसके लिए दृढ आत्मवल और घनीभूत श्रद्धा।

पांच भावों के विभिन्न प्रकार

पाच भावो की सक्षिप्त चर्चा के पश्चात् अव हम उनके विभिन्न प्रकारो को भी समझें।

औपशमिकस्य सम्यक्त्व चारित्रे।

औपशमिक भाव के दो प्रकार है—

१. औपशमिक सम्यक्त्व।

२. औपशमिक चारित्र।

औपशमिक सम्यक्त्व—तत्त्व के प्रति अल्पकालीन (अंतर्मुहूर्त्त) यथार्थ श्रद्धा। यह स्थिति दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम से प्राप्त होती है। चौथे गुणस्थान से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक यह स्थिति प्राप्त हो सकती है।

औपशमिक चारित्र—अल्पकालीन (अंतर्मुहूर्त्त) वीतरागता। चारित्र-मोहनीय कर्म के उपशम से यह स्थिति उपलब्ध होती है। ग्यारहवें गुणस्थान में यह स्थिति प्राप्त होती है।

क्षायिकस्य ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्व-चारित्र-अप्रतिहतवीर्यादयः।

क्षायिक भाव के आठ प्रकार है—

१. केवलज्ञान
२. केवलदर्शन
३. आत्मिक सुख/असवेदन
४. क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र
५. अटल अवगाहन
६. अमूर्तित्व
७. अगुरुलघुत्व
८. अप्रतिहत शक्ति।

क्षय आठों कर्मों का ही होता है, इसलिए क्षायिक भाव आठों ही कर्मों के नष्ट होने से प्राप्त होता है। ज्ञानावरणीय कर्म के विलय से केवलज्ञान, दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से केवलदर्शन, वेदनीय कर्म के टूटने से आत्मिक सुख/असवेदन, मोहनीय कर्म के टूटने से क्षायिक सम्यक्त्व और वीतरागता (क्षायिक चारित्र), आयुष्य कर्म के क्षय से अटल अवगाहन, नाम कर्म के विलय से अमूर्तित्व, गोत्र कर्म के नष्ट होने से अगुरुलघुत्व एव अंतराय कर्म के विलय से अनन्त आत्म-ऊर्जा की प्राप्ति होती है।

क्षायोपशमिकस्य ज्ञानाऽज्ञान-दर्शन-दृष्टि-चारित्र-संयमासंयमवीर्यादयः।

क्षायोपशमिक भाव के प्रकार है—

ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, दृष्टि, चारित्र, संयमासंयम, शक्ति आदि।

ज्ञान—केवलज्ञान को छोड़कर शेष चारो ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। हमारा, आपका और वैज्ञानिकों का भी ज्ञान क्षयोपशमजन्य ही है।

अज्ञान—मति, श्रुत और विभंग—तीनो प्रकार के अज्ञान भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होते है। पर यहां अज्ञान ज्ञान के अभाव का नाम नही, अपितु मिथ्यात्वी के ज्ञान का सूचक है। ज्ञान जब मिथ्यात्वी के पास होता है तो वह अज्ञान कहलाता है।

दर्शन—केवलदर्शन को छोड़कर शेष तीनों दर्शन—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उपलब्ध होते है।

दृष्टि—तत्त्व-श्रद्धा का नाम दृष्टि है। दृष्टिया तीन हैं—सम्यग्-दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि। ये तीनो क्षायोपशमिक भाव है। पर इस संदर्भ मे एक-दो बातें और समझ लेनी चाहिए।

सम्यग्दृष्टि औपशमिक एवं क्षायिक भाव भी है, जिसका सक्षिप्त विश्लेपण मैं पहले कर चुका हूं। पर यहां जिस सम्यग्दृष्टि की चर्चा है, वह इनसे भिन्न है, अर्थात् वह सम्यग्दृष्टि दर्शनमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। वर्तमान मे जो सम्यग्दृष्टि है, वह अधिकतर क्षायोपशमिक ही है। अनन्तानुबंधी कषाय-चतुष्क—क्रोध, मान, माया व लोभ तथा दर्शन-मोहनीयत्रिक—मिथ्यात्वमोहनीय, सम्यक्त्वमोहनीय एवं मिश्रमोहनीय के क्षयोपशम से प्राप्त होती है।

आप लोग इस बात पर गहराई से ध्यान दें कि प्राणी अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया व लोभ की विद्यमानता मे कभी भी सम्यग्दृष्टि को प्राप्त नही कर सकता। अर्थात् जिन लोगों का क्रोध पेट्रोल की आग की तरह भड़कता है, मान अमरबेल की तरह वृद्धिगत होता है, माया प्रत्येक प्राणी को अपने चगुल मे फसा उसका अस्तित्व समाप्त करना चाहती है और लोभ सपूर्ण ससार के धन को बटोरना चाहता है, वे सम्यक्त्व के लिए अपात्र है।

मिथ्यादृष्टि के भी दो प्रकार है—विपरीत श्रद्धा एवं यत्किंचित् यथार्थ तत्त्व-श्रद्धा। विपरीत श्रद्धा औदयिक भाव है। वह दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से प्राप्त होती है।

मिथ्यात्वी की यत्किंचित् यथार्थ श्रद्धा क्षायोपशमिक भाव है। मिथ्यात्वी के पास होने के कारण वह मिथ्यादृष्टि कहलाती है। प्रस्तुत संदर्भ मे इसी मिथ्यादृष्टि का उल्लेख है।

कुछ यथार्थ और कुछ अयथार्थ तत्त्व-श्रद्धा मिश्रदृष्टि कहलाती है। इसमें अयथार्थ श्रद्धा तो औदयिक भाव ही है, पर यथार्थ श्रद्धा क्षायोपशमिक भाव है। प्रस्तुत सदर्भ मे यथार्थ श्रद्धा की अपेक्षा से इसे क्षायोपशमिक भाव माना गया है।

चारित्र—छठे से दसवें गुणस्थान तक का चारित्र (साधुत्व) भी क्षयोपशमजन्य है। चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम के विना यह प्राप्त नही हो सकता।

संयमासंयम—सयमासयम का तात्पर्य है—श्रावकपन। श्रावक न पूर्णतः व्रती/सयमी होता है और न पूर्णतः अव्रती/असयमी। अर्थात् वह कुछ व्रती/संयमी और कुछ अव्रती/असयमी होता है। इसलिए उसे व्रताव्रती या सयमासयमी कहा गया है [illegible] संयमासंयम या श्रावकपन भी चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम [illegible]

शक्ति—ह [illegible] ांशिक आत्म-ऊर्जा प्रगट है, वह अन्तराय कर्म के क्षयोपशम [illegible]

बन्धुओ [illegible] भाव संसार के प्रत्येक प्राणी [illegible]

गुणस्थान तक) को प्राप्त है। आप पूछेंगे, क्या मिथ्यात्वी में भी क्षायोपशमिक भाव है? मैं पूछता हूं, क्या मिथ्यात्वी जीव नही होता? आप निश्चित मानें, ससार का प्रत्येक प्राणी, चाहे वह देव हो या नारक, मनुष्य हो तिर्यंच त्रस हो या स्थावर, सूक्ष्म हो या बादर, सज्ञी हो या असंज्ञी, हिंदु हो या मुसलमान, स्त्री हो या पुरुष, मिथ्यात्वी हो या सम्यक्त्वी……… ज्ञान, दर्शन आदि आत्मगुणो के न्यूनतम अश से अवश्य सपन्न होता है। आत्मगुणो के आंशिक विकास के अभाव मे जीव का अस्तित्व ही नही है। यह आत्मगुणो का आशिक विकास क्षायोपशमिक भाव के बिना हो नही सकता।

गंगाशहर
२८ अगस्त, १९७८

उत्थान व पतन का आधार : भावधारा

भावो का विवेचन पिछले तीन-चार दिनो से आप वरावर सुन रहे है। मैं मानता हू, भावो का ज्ञान अत्यत महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि उस ज्ञान के माध्यम से हमारी वहुत-सी वैचारिक समस्याओं का समाधान प्राप्त होता है। वहुधा यह प्रश्न सामने आता है कि मनुष्य का उत्थान या ह्रास क्यो होता है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर हर व्यक्ति अपने-अपने ढग से सोच सकता है। पर मैं मानता हू, इसका वास्तविक समाधान भावो को समझने से प्राप्त होगा। व्यक्ति के उत्थान-पतन मे दूसरी-दूसरी अनेक चीजें निमित्त वन सकती है, पर मूल कारण व्यक्ति की स्वयं की आत्मा या उसके भाव ही है। यदि व्यक्ति अपने भावो पर अपना नियन्त्रण कर लेता है तो मानना चाहिए कि विकास व ह्रास पर उसका नियन्त्रण हो गया।

भगवान महावीर ने कहा—

'अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुपट्ठिय सुपट्ठियो।।'

स्वय की आत्मा ही सुख और दुःख की कर्ता और विकर्ता है। वही अपनी मित्र है और वही शत्रु। दुष्प्रवृत्तियो—पापाचरण मे सलग्न आत्मा शत्रु और सत्प्रवृत्तियो—धर्म मे सलग्न आत्मा मित्र है।

जिस समय हमारी आत्मा औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भावो मे होती है, तव वह हमारी मित्र होती है और वही आत्मा जव औदयिक भाव मे होती है तो हमारी शत्रु वन जाती है। दूसरे शब्दो मे कर्मो का उपशमन, हलकापन और क्षय हमारे सुख का उपादान कारण है और कर्मो का उदय दु.ख का। हमारी साधना का उद्देश्य कर्मो के उपशमन, हलकापन और क्षय की स्थिति को प्राप्त करना है। इसी तथ्य को दूसरे शब्दों मे इस प्रकार कहा जा सकता है कि औदयिक भाव का निरोध ही हमारी समग्र साधना-पद्धति का चरम ध्येय है। इस उद्देश्य को लेकर यदि व्यक्ति चलता रहे तो उसके सामने किसी प्रकार की कठिनाई नही आ सकती। कठिनाई तभी आती है, जव व्यक्ति इस मूलभूत उद्देश्य को भूलकर ख्याति, प्रतिष्ठा, नाम आदि वैभाविक तत्त्वो मे उलझ जाता है।

साधना की वात हम दो क्षण के लिए छोड़ भी दे, सामान्यरूप मे भी आदमी कोई प्रवृत्ति करता है तो उसमें नाम की भावना ज्यादा रखता है। काम करके नाम की आकांक्षा करे—यहा तक तो व्यावहारिक भूमिका में चल सकता है, पर काम के बिना नाम या थोड़ा काम और अधिक नाम—यह भावना सचमुच वड़ी खतरनाक है। हम देखे, काम पशु भी करता है, पर वह कभी नाम या प्रतिष्ठा की भावना नहीं रखता।

शक्ति का सदुपयोग या दुरुपयोग ?

मैं मानता हूं, मनुष्य एक विवेकशील और चिन्तनशील प्राणी है। उसके पास वह शक्ति है, जिससे वह अपने जीवन को वहुत ऊंचा उठा सकता है। आत्मा से महात्मा और महात्मा से परमात्मा वन सकता है। किन्तु कठिनाई यह है कि वह अपनी शक्ति का सदुपयोग कम करता है, दुरुपयोग ही अधिक करता है। इसलिए वह शक्ति उसे अमानवीय वृत्तियों की ओर ले जा रही है। पर यह शक्ति का कोई दोप नही है। शक्ति अपने आप मे सर्वथा निर्दोप है। दोप है—व्यक्ति के गलत उपयोग का। अच्छी-से-अच्छी वस्तु भी गलत उपयोग से मनुष्य के लिए अहितकारी सिद्ध होती है। विकास के जितने साधन है, वे ही ह्रास के साधन भी वन जाते है, जव उनका असम्यक् प्रयोग किया जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि आदमी जव स्वय चिन्तनशील एवं विवेकशील प्राणी है, फिर उसे पथ-दर्शन की क्या अपेक्षा है ? यह ठीक है कि आदमी में चिन्तन है, विवेक करने की शक्ति है, पर साथ ही यह भी मानना होगा कि खतरा भी आदमी से ही सवसे अधिक है। हिंसक-से-हिंसक पशु भी आपवादिक स्थिति को छोड़कर विना भूख या विना प्रयोजन दूसरों के लिए खतरा नहीं वनते। पर मनुष्य से हरदम खतरा वना रहता है। वह ऊपर-से-ऊपर उठ सकता है तो नीचे-से-नीचे भी जा सकता है। इसलिए उसको पथ-दर्शन की सदा अपेक्षा रहती है।

मनुष्य के इस विकास और ह्रास को समझने के लिए भावो का ज्ञान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हम सूत्र रूप में इस तथ्य को स्वीकार करें कि हमे आत्मोत्थान या धार्मिक विकास की जो भी स्थिति प्राप्त होती है, वह औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावों से प्राप्त होती है। इसके विपरीत आत्म-पतन या धार्मिक-ह्रास की जो भी स्थिति वनती है, वह औदयिक भाव के कारण ही वनती है। कुछ लोग अज्ञानवश कह दिया करते है कि पुण्योदय से हमें संतों के दर्शन प्राप्त हुए, प्रवचन सुनने को मिला……। उनको ख्याल रखना चाहिए कि पुण्योदय से धन, सपत्ति, सतान आदि भौतिक सुख-सुविधाएं प्राप्त हो सकती है, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि

तत्त्व पुण्योदय से कभी भी प्राप्त नही हो सकते। ये सव चीजें तो कर्मो के उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय से ही उपलब्ध हो सकती हैं।

जैन दर्शन मे पाच भावों का वहुत विस्तृत वर्णन प्राप्त है। ये पांच भाव जैन दर्शन के मूल है। इनको समझे विना हम जैन दृष्टिकोण के अनुसार आत्मा और धर्म को भी नही समझ सकते। क्योंकि दूसरे-दूसरे दर्शनो मे उत्थान-पतन, लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख आदि वातें ईश्वर द्वारा प्राप्त हैं। वे इनके लिए व्यक्ति को जिम्मेवार नही मानते। पर जैन दर्शन तो इन सव वातो के लिए पग-पग पर व्यक्ति के पुरुषार्थ व चिन्तन को ही जिम्मेवार मानता है। सक्षेप मे जैन दर्शन आत्म-कर्तृत्ववादी दर्शन है, ईश्वर-कर्तृत्ववादी दर्शन नही। इसलिए मैंने कहा, भावो को समझना वहुत आवश्यक है।

पांच भावों मे औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भावो के प्रकारों का विवेचन मैं पिछले प्रवचनो मे कर चुका हू। अव हम यह भी जाने कि औदयिक भाव के कितने प्रकार हैं—

औदयिकस्य अज्ञान-निद्रा-सुखदुःख-आश्रव-वेद-आयुर्गति-जाति-शरीर-लेश्या-गोत्र-प्रतिहतवीर्यत्व-छद्मस्थ-असिद्धत्वादयः।

अज्ञान, निद्रा, सुख-दुःख, आश्रव, वेद, आयु, गति, जाति, शरीर, लेश्या, गोत्र, प्रतिहत शक्ति, छद्मस्थता, असिद्धता आदि औदयिक भाव के प्रकार है।

अज्ञान—जैसाकि पहले एक-दो वार स्पष्ट कर चुका हूं, अज्ञान के दो प्रकार है—कुत्सित ज्ञान (मिथ्यात्वी का ज्ञान) और ज्ञान का अभाव। इनमे प्रथम प्रकार का अज्ञान (मिथ्यात्वी का ज्ञान) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मिलता है। पर यहां जिस अज्ञान की वात कही गई है, वह ज्ञान के अभाव का नाम है। यह ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम से नही, उदय से पैदा होता है। आप पूछेंगे, यह अज्ञान किसमे है? मैं पूछता हू, किसमें नही है? जव तक व्यक्ति केवलज्ञान को उपलब्ध नही हो जाता, तव तक किसी-न-किसी सीमा मे अज्ञान हर प्राणी मे विद्यमान रहता है।

निद्रा—निद्रा दर्शनावरणीय कर्म का उदय है। जिसके दर्शनावरणीय कर्म का तीव्र उदय होता है, उसकी नीद वहुत गहरी होती है। इसके विपरीत जिसके दर्शनावरणीय कर्म का उदय मंद होता है, उसकी नीद वहुत हलकी होती है। इस तरतमता को ध्यान मे रखते हुए निद्रा के पाच प्रकार वताए गए हैं—

१. निद्रा—जो निद्रा सुख से आए और सुख से उड़ जाए।

२. निद्रा-निद्रा—जो निद्रा आए भी कठिनाई से और उड़े भी मुश्किल से।

३ प्रचला—वैठे-वैठे और खड़े-खड़े आनेवाली निद्रा।

४. प्रचला-प्रचला—चलते-चलते आनेवाली निद्रा।

५. स्त्यानर्द्धि—मौत के तुल्य गहरी निद्रा। शास्त्रों मे इस निद्रा का विवेचन करते हुए यहां तक बताया गया है कि स्त्यानर्द्धि निद्रा मे व्यक्ति नीद में अपने स्थान से उठता है। वहां से चलकर हाथी से सघर्ष करता है और उसके दांतों को निकाल कर ले आता है, फिर भी उसको कुछ पता नही चलता। इस निद्रावाला व्यक्ति नरकगामी होता है।

गंगाशहर
२९ अगस्त, १९७८

औदयिक भाव का विलय : मुक्ति-द्वार

ससार के प्रत्येक प्राणी मे औदयिक भाव (चौदहवे गुणस्थान तक) और क्षायोपशमिक भाव (बारहवें गुणस्थान तक) दोनों समान रूप से चलते है। यदि औदयिक भाव न हो तो प्राणी मुक्त हो जाता है और यदि क्षायोपशमिक भाव न हो तो प्राणी अप्राणी बन जाता है। कल से यहा पर्युषण पर्व प्रारम्भ हो गया। हजारो-हजारों लोग अपनी शक्ति के अनुसार इस पर्व की आराधना कर अपनी आत्मा को भावित कर रहे हैं। यह क्षायोपशमिक भाव का ही प्रभाव है। पर कुछ लोग ऐसे भी है, जो इस पर्व का माहात्म्य नही समझते, इसका सही अंकन नही करते, इसकी सम्यक् आराधना नही करते। यह औदयिक भाव का प्रभाव है। जब तक उदय भाव तीव्र रहता है, तब तक व्यक्ति तत्त्व का सही-सही अंकन नही कर पाता।

मुनि भिक्षा के लिए गए। गृहपति के देने की इच्छा नही है। आप पूछेंगे, क्या कभी ऐसा भी होता है, जो साधु को देने की इच्छा न हो? आप क्यो सोचते है कि सब श्रावक ही होते हैं, सब उदार ही होते है। संसार मे सभी तरह के लोग होते है। साधु-सन्तों को देकर प्रसन्न होनेवाले होते है तो साधु-सन्तों को न देने की भावना रखनेवालो की भी नास्ति नही है। पर ऐसे लोग भी लोक-निंदा के भय से मुनि को भिक्षा दे देते है। यह लोक-निंदा का भय औदयिक भाव का ही परिणाम है। यदि क्षायोपशमिक भाव हो तो व्यक्ति को त्यागी साधु-सन्तो को दान देने मे सहज प्रसन्नता की अनुभूति होगी।

प्रश्न होगा, जब औदयिक भाव और क्षायोपशमिक भाव दोनो साथ-साथ चलते है, फिर हमे क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का समाधान हर भाई बहन को गहराई से समझना चाहिए। इस स्थिति मे हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि हम क्षायोपशमिक भाव को तीव्र करें और औदयिक भाव को क्षीण। यद्यपि औदयिक भाव को चौदहवें गुणस्थान तक भी हम सर्वथा समाप्त नही कर सकते, पर उसको दुर्बल अवश्य कर सकते है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने औदयिक भाव को इतना दुर्बल बनाएं, जिससे कि वह नगण्य-सा बन जाए। यो जब तक शरीर है, तब तक थोडी-बहुत व्याधि रहती ही है।

और कोई व्याधि किसी के चाहे न भी हो, भूख-प्यास और नीद की व्याधि से कोई नही वच सकता। पर जहा स्वास्थ्य प्रबल होता है, वहा यह अस्वास्थ्य दिखाई ही नही पड़ता। ठीक यही वात है भावो के वारे में। यदि हम प्रयत्नपूर्वक क्षायोपशमिक भाव को तीव्र कर लें तो औदयिक भाव रहकर भी विलकुल नही के समान हो जाएगा।

निराशा से बचें

मुझे वहुधा पूछा जाता है कि अणुव्रत का कार्य करते आपको इतने वर्ष हो गए, क्या आपने सारे ससार को नैतिक वना दिया? ऐसा प्रश्न करने-वालों को समझना चाहिए कि कोई भी नैतिक आन्दोलन, चाहे वह अणुव्रत हो या अन्य कोई, सारे संसार को कभी भी नैतिक नही वना सकता। आप कहेगे, ऐसी स्थिति मे आन्दोलन चलाने का अर्थ ही क्या? यह सोच सम्यक् नही है। सारा संसार नैतिक चाहे न वने, पर हमें तो अपना पुरुपार्थ करना ही चाहिए। हमारे प्रयत्न से जितने लोग नैतिक वनें, उतना तो अच्छा है ही। कोई कह सकता है, यह तो निराशा की वात हो गई। नहीं, यह निराशा की वात कदापि नही है, वल्कि वास्तविकता को समझना है। मैं इस वात का पक्षपाती हूं कि व्यक्ति को आशा उतनी ही करनी चाहिए, जितनी सभव हो। अति आशा का परिणाम कभी सुखद नही होता। अप्रत्यक्ष रूप से वह निराशा को ही आमंत्रण है। इसलिए इस वास्तविकता को समझते हुए कि कुछ प्रतिशत लोग ही सुधरेंगे, सारा संसार कभी नही सुधरेगा, हम अपना कार्य अतीत मे करते रहे है और आज भी कर रहे है। इस वास्तविकता को समझने के कारण ही हमारे सामने कभी निराश होने का अवसर नही आता। हमारा एक ही प्रयत्न है कि नैतिकता का पलडा अनैतिकता के पलड़े से भारी हो जाए। वर्तमान में वह अनैतिकता के पलड़े से हलका हो गया है। यदि यह कार्य हो जाता है तो हम अपने प्रयत्न मे पूर्ण सफल है।

सफलता की कसौटी

वन्धुओ! मैं आपसे पूछना चाहता हूं कि संसार के सभी महापुरुपो ने आखिर क्या किया? क्या वे सारे संसार को नैतिक या धार्मिक वना पाए? जब वे भी सारे ससार को सुधारने में कभी सफल नही हुए, तव हम कैसे सारे संसार को सुधारने की वात सोच सकते है? पर इसमे महापुरुषों की किंचित् भी असफलता नही। लोगों को सुधारने के लिए उन्होंने पुरुपार्थ किया, प्रयत्न किया पर सारे संसार को सुधारने की जिम्मेवारी उन्होने कभी नही ली। जितने लोगों ने उनके उपदेश को स्वीकार किया, उनका सुधार हुआ। पर जिन्होंने उनके उपदेश को नही स्वीकारा, उनका सुधार वे कैसे

करें ? आखिर उपदेश देनेवाला उपदेश दे सकता है, रास्ता बता सकता है, पर किसी को जबरदस्ती धार्मिक तो नही बना सकता। इसलिए चाहे किसी भी महापुरुष का युग क्यो न रहा हो, वे अपने युग मे कुछ प्रतिशत लोगो को ही सुधार पाए है, सारे ससार को नही। पर जैसा कि मैंने कहा, यदि किन्ही महापुरुष के प्रयत्न से अच्छाई का पलडा बुराई के पलडे से भारी हो जाए तो महापुरुष अपने लक्ष्य मे पूर्ण सफल है। परन्तु ऐसा नही भी होता है तो उनके असफल होने का कोई प्रश्न नही है। क्योकि महापुरुष का मुख्य उद्देश्य अपने कर्त्तव्य का पालन करना होता है। ससार का सुधरना या न सुधरना उनकी सफलता और असफलता की कसौटी नही है।

हा, तो मैं आपसे औदयिक भाव एव क्षायोपशमिक भाव की बात कह रहा था। यदि औदयिक भाव को हम अत्यन्त कमजोर बना दे और क्षायोपशमिक भाव को तीव्र कर दे तो हमारे विकास का मार्ग प्रशस्त हो जाएगा। इस सन्दर्भ मे एक महत्त्वपूर्ण बात और है। आखिर यह कार्य हर व्यक्ति को स्वयं ही करना होगा। दूसरा केवल निमित्त बन सकता है। और वह भी उस स्थिति मे जब व्यक्ति स्वयं इसके लिए तैयार हो। सीढिया ऊपर चढने मे तभी सहयोगी बनती है जब व्यक्ति स्वय ऊपर जाने को तैयार हो। जो स्वय ऊपर चढने को तैयार नही, उसके लिए सीढिया कुछ भी नही कर सकती। मैं आपके औदयिक भाव को दुर्बल बनाना चाहता हू, समाप्त करना चाहता हू। क्षायोपशमिक भाव को तीव्र करना चाहता हू, क्षायिक भाव लाना चाहता हू। मैं इसमे निमित्त बन सकता हू। पर यह सम्भव तभी है, जब आप स्वय इसके लिए प्रस्तुत हो, अन्यथा मैं लाख प्रयत्न करू तो भी आपमे किंचित् भी परिवर्तन नही कर सकता। हमारा निश्चित सिद्धात है कि उत्थान और पतन दोनो का उपादान कारण व्यक्ति स्वय ही है। दूसरे तो मात्र निमित्त बनते है। इसलिए आप सबको इस बात की पुन-पुनः प्रेरणा करता हू कि आप अपने औदयिक भाव को जहा तक सम्भव हो सके कमजोर, अति कमजोर और समाप्त करने का प्रयास करें।

औदयिक भाव के कुछ प्रकारो की चर्चा मैं कर चुका हू। उसके अन्य प्रकारों को भी समझना है।

सुख-दुःख—प्राणी ससार मे विभिन्न रूपो मे सुख-दु ख को भोगता है। यह वेदनीय कर्म के उदय का परिणाम है। सातवेदनीय कर्म से सुख और असातवेदनीय कर्म से दुःख की प्राप्ति होती है।

आश्रव—जीव के कर्म-बन्ध का हेतु आश्रव है। आश्रव पाच है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनमे प्रथम चार आश्रव और अशुभ योग आश्रव का कारण मोहनीय कर्म का उदय है। शुभ योग आश्रव नाम कर्म के उदय की परिणति है।

वेद—वासनाजन्य विकार वेद है। यह भी मोहनीय कर्म के उदय के कारण पैदा होता है।

आयु—जीव ससार में रहता है, यह आयुष्य कर्म के उदय का परिणाम है।

गति, जाति, शरीर—प्राणी संसार में विभिन्न गतियो में और विभिन्न जातियो में पैदा होता है। वह नाना प्रकार के शरीरो को धारण करता है। यह नाम कर्म के उदय का ही प्रभाव है। शुभ नाम कर्म के उदय से ये चीजें शुभ रूप मे तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से ये चीजें अशुभ रूप मे प्राप्त होती है। किसी व्यक्ति को सुडौल शरीर मिलता है, यह शुभ नाम कर्म का प्रभाव है। किसी को वेडौल शरीर मिलता है, यह अशुभ नाम कर्म के कारण है। कोई व्यक्ति सबको प्रिय लगता है, यह शुभ नाम कर्म के उदय के कारण है। कोई सबको अप्रिय लगता है, यह अशुभ नाम कर्म के कारण है।

हम देखते है कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिनके आदेश को विना किसी ननुनच उसके परिवारवाले तत्काल स्वीकार कर लेते है। इसके विपरीत ऐसे व्यक्तियो की भी कमी नही है, जिनके आदेश पर कोई ध्यान ही नही दिया जाता। वचन की यह आदेयता और अनादेयता शुभ और अशुभ नाम कर्म के उदय से ही प्राप्त होती है। जिस व्यक्ति को आदेयता प्राप्त है तो मानना चाहिए कि उसके शुभ नाम कर्म का उदय है। इसके विपरीत जिसकी वात पर ध्यान नही दिया जाता, उसके अशुभ नाम कर्म का उदय है।

एक विशाल संयुक्त परिवार था। लगभग पचास व्यक्तियों के उस परिवार पर एक वृद्ध व्यक्ति का अनुशासन था। सब उसकी वात को सहर्ष स्वीकार करते। व्यापार-व्यवसाय अच्छा चलता था। सारा परिवार अत्यत आनन्द मे दिन गुजारता था। पर आप जानते है कि किसी के भी सब दिन एक समान नही होते। उनमे उतार-चढाव आता रहता है। इस परिवार के भी दिन बदले। व्यापार-व्यवसाय मे एकाएक इतना घाटा लगा कि सारी आर्थिक व्यवस्था लडखडा गई। पेट भरने के भी लाले पड़ गए। आखिर परिवार के सब सदस्य उस वृद्ध नायक के समक्ष उपस्थिति हुए और समस्या का समाधान पूछा। वृद्ध ने सबको अपने साथ जंगल मे चलने के लिए कहा। आदेश मिलते ही सब वृद्ध के नेतृत्व में जगल के लिए रवाना हो गए। जगल मे पहुचकर वृद्ध ने एक ऐसे स्थान पर पडाव डाला, जहां सरकण्डों के सैकड़ो-सैकडो पौधे थे। वृद्ध ने सरकण्डों को काटने और कूट-पीटकर उनकी रस्सिया बनाने का आदेश दिया। बस, आदेश मिलने की देरी थी, वहां रस्सी बनाने का एक कारखाना-सा खुल गया। कुछ ही समय मे मोटी-मोटी

रस्सियां वन कर तैयार हो गईं। परिवार वालो ने वृद्ध नायक से पूछा—"अव क्या करें ?" वृद्ध ने आदेश दिया—"सामनेवाले वृक्ष को वाधो।"

उस वृक्ष मे एक यक्ष का निवास था। वह घवगया। वृद्ध के अनुशासन और उनकी एकता को देखकर उसके मन मे विश्वास हो गया कि सचमुच ये मुझे वाव लेंगे। वह तत्काल वृद्ध के समक्ष उपस्थित हुआ और वोला—"क्या कर रहे हो तुम लोग ?"

"देखते नही ?"—वृद्ध ने प्रतिप्रश्न किया।

"ये रस्सियां क्यो वनाई है ?"—यक्ष ने घवराहट के स्वरो मे पूछा।

"तुम्हे वाधेंगे।"—वृद्ध ने उसे भयभीत करते हुए कहा।

सचमुच यक्ष भय से कापने लगा। वह तत्काल वृद्ध के चरणो मे गिरकर गिडगिड़ाता हुआ वोला—"मुझे मत वाधो।"

"वाधे नही तो खाए किसको ?"—वृद्ध ने तेज स्वरो मे कहा।

"तुम निश्चित हो घर पर जाओ। तुम्हारे किसी वात का अभाव नही रहेगा।"—यक्ष ने वृद्ध को पुन-पुन. आश्वस्त करते हुए कहा।

वृद्ध अपने पूरे परिवार सहित घर लौट आया। देखते-देखते सारी स्थितिया वदल गईं। व्यापार-व्यवसाय दिन दुगुना और रात चौगुना वढने लगा। वह मालामाल हो गया। सारा परिवार पुनः आनद से रहने लगा।

उसके पडोस मे ही एक दूसरा परिवार रहता था। वह भी काफी वड़ा था। पर एक कमी थी। परिवार के नायक के आदेश की कोई पालना नही करना चाहता था। उस परिवार के नायक को जव खवर लगी कि मेरा पड़ोसी जगल मे जाकर मालामाल हो गया है तो उसका मन भी ललचाया। उसने भी परिवार के लोगो को जगल मे चलने का आदेश दिया। पर सहर्ष चलने को कोई तैयार नही हुआ। आखिर काफी कडा कहने पर वडी मुश्किल से सव चलने के लिए तैयार हुए। इस परिवार के वृद्ध नायक ने भी वही पडाव डाला, जहां पहले परिवार के नायक ने डाला था। वहा जाकर उसने भी रस्सिया वनाने और उसी वृक्ष को वाधने का आदेश दिया। पर रस्सी कौन वनाए ? सघर्ष खडा हो गया। वड़ा भाई कहने लगा, छोटा भाई वनाएगा, और छोटा भाई कहने लगा वडा वनाएगा। जेठानी कहने लगी, देवरानी वनाएगी; देवरानी कहने लगी जेठानी वनाएगी। किसी ने तो यहा तक भी कह दिया कि यह वूढा वैठा-वैठा क्या करता है ? हमे-ही-हमे काम करने के लिए कहता है, खुद तो कुछ भी नही करता। आखिर वडी मुश्किल से पांच-सात रस्सिया वनी। यक्ष सारी स्थिति गौर से देख रहा था। वह आश्वस्त था कि ये कुछ भी नही कर सकते। वह विकराल आकृति मे उस वृद्ध

परिवार-नायक के समक्ष उपस्थित हुआ और उसने वही प्रश्न दोहराया—"ये रस्सियां क्यों बनाई है ?" वृद्ध ने पहले से रटा-रटाया उत्तर दिया—"तुम्हे बांधने के लिए।" यक्ष ने आखे लाल करते हुए कहा—"यहां से तत्काल भाग जाओ, नही तो मैं तुम्हें और तुम्हारे परिवार के एक-एक सदस्य को यही ढेर कर दूंगा। अपना परिवार तो तुमसे बन्धता ही नही और मुझे बाधने के लिए आए हो !"

वह परिवार-नायक घबराया—यहा तो लेने के देने पड गए। अब यहां एक क्षण भी रुकना खतरे से खाली नही है। वह तत्काल परिवार को लेकर घर की ओर रवाना हो गया।

बन्धुओ ! आदेयता और अनादेयता की स्थिति और परिणाम के अन्तर को आपने देखा। आदेयता और अनादेयता दोनो नाम कर्म के उदय से ही मिलती हैं। इसी प्रकार सुरूपता, कुरूपता, मधुरस्वरता, कर्कशस्वरता आदि अनेक चीजें नाम कर्म के उदय से मिलती हैं।

लेश्या—आत्मा के शुभ-अशुभ परिणामो को लेश्या कहा जाता है। लेश्या भी नाम कर्म के उदय के कारण ही प्राप्त होती है। शुभ नाम कर्म के उदय मे शुभ लेश्या—शुभ आत्म-परिणाम तथा अशुभ नाम कर्म के उदय से अशुभ लेश्या—अशुभ आत्म-परिणाम प्राप्त होते हैं। आत्म-परिणामो के अशुभ होने में मोहनीय कर्म का उदय योगभूत होता है।

गोत्र—प्राणी विभिन्न उच्च-नीच स्थितियों को प्राप्त होता है। यह गोत्र कर्म के उदय का प्रभाव है। शुभ गोत्र कर्म के उदय से उच्चता तथा अशुभ गोत्र कर्म के उदय से न्यूनता की उपलब्धि होती है।

प्रतिहत शक्ति—अन्तराय कर्म के उदय से प्राणी की आत्म-ऊर्जा मे रुकावट आती है।

छद्मस्थता—यह भी औदयिक भाव ही है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म के उदय से छद्मस्थता की स्थिति रहती है। जिस दिन इन तीनो कर्मों का उदय नही रहता, उस दिन छद्मस्थता भी नही रहती।

असिद्धत्व—अघाती कर्म—वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र के उदय से असिद्धत्व की प्राप्ति होती है। तेरहवें गुणस्थान मे घाती कर्मों के पूर्णतया नष्ट हो जाने के बाद भी अघाती कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं। इनके उदय के कारण ही चौदहवें गुणस्थान तक प्राणी सिद्धावस्था को प्राप्त नही होता। जब ये सर्वथा क्षीण हो जाते हैं यानी इनका उदय समाप्त हो जाता है, तभी जीव सिद्ध बनता है।

औदयिक भाव की लम्बी चर्चा को अब मैं सम्पन्न करता हूं। इस भाव की इतनी विस्तृत चर्चा का मूलभूत उद्देश्य यही है कि हम इस भाव

को गहराई से समझें। जब तक इसे गहराई से समझा नही जाएगा, तब तक इससे मुक्त होने का प्रयास भी कैसे हो सकेगा? और इससे मुक्त हुए बिना संसार से मुक्त होने की बात भी समाप्त हो जाएगी। चूकि हम सबका लक्ष्य इस संसार से मुक्त होना है, इसलिए यह नितात अपेक्षित है कि हम सलक्ष्य इससे मुक्त होने का प्रयास करें।

गगाशहर
३१ अगस्त, १९७८

पारिणामिक भाव : एक ध्रुव सत्य

औदयिक भाव के विभिन्न प्रकारों की चर्चा के पश्चात् आज मैं आपको पारिणामिक भाव के प्रकारों पर कुछ वताना चाहूंगा। जैसाकि मैं पहले ही स्पष्ट कर चुका हूं, अपने-अपने स्वभाव मे परिणत होने का नाम परिणाम है। उससे होनेवाली आत्मा की अवस्था या परिणाम को ही पारिणामिक भाव कहा जाता है। प्रकृति का यह निश्चित सिद्धात है कि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव को छोड़कर परभाव मे नही जाती। आप हजार प्रयास करे, फिर भी अग्नि कभी अपनी उष्णता के स्वभाव को नही छोड़ सकती।

पारिणामिकस्य जीवत्व-भव्यत्व-अभव्यत्वादयः।

पारिणामिक भाव के प्रकार है—

जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि।

जीवत्व—जीवत्व/चेतना जीव का स्वभाव है। कोई भी जीव अपने जीवत्व के स्वभाव को छोडकर कभी जीव नही रह सकता। उसकी अवस्था मे विभिन्न परिवर्तन होते है। पर उसके वावजूद भी जीवत्व का मूल स्वभाव सदा उसी रूप मे वना रहता है। प्राणी एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय वन जाते हैं, पचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय वन जाते है। द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय वन जाते है; त्रीन्द्रिय से पचेन्द्रिय वन जाते है या अतीन्द्रिय भी वन जाते हैं, फिर भी वे जीव ही रहेगे। किसी भी अवस्था को प्राप्त करके वे अजीव नही वन सकते।

इस सन्दर्भ मे पूछा जा सकता है कि प्राणी अतीन्द्रिय किस अवस्था मे वनता है? प्राणी अतीन्द्रिय दो अवस्थाओ में होता है—या तो उसकी इन्द्रियां वेकार हो जाएं या फिर वह शरीर-मुक्त—सिद्ध वन जाए। इन्द्रियां भी दो अवस्थाओ मे वेकार होती हैं—इन्द्रियों के खराव होने से या केवलज्ञान प्राप्त होने से। पहली अवस्था मे जव इन्द्रियों की पौद्गलिक आकृति या शक्ति नष्ट हो जाती है, तव वे वेकार हो जाती है। दूसरी अवस्था मे जव व्यक्ति केवलज्ञान को उपलब्ध हो जाता है, तब उनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है, इसलिए वे वेकार हैं। पर इन सव अवस्थाओ मे भी जीव का

जीवत्व कभी नष्ट नही होता। यानी प्राणी चाहे ससार की विभिन्न जातियों एवं गतियों मे रहे, चाहे ससार से मुक्त भी हो जाए, पर उसका जीवत्व अपरिवर्तनशील है।

भव्यत्व—मोक्ष जाने की योग्यता को भव्यत्व कहा जाता है।

अभव्यत्व—मोक्ष जाने की अयोग्यता या अपात्रता अभव्यत्व कहलाती है।

हम जानते हैं कि हर व्यक्ति या हर वस्तु सभी दृष्टियो से योग्य या अयोग्य नही होती। हर प्राणी या वस्तु की योग्यता सदा सापेक्ष ही होती है। आप लोग व्यापारी है। व्यापार की दृष्टि से योग्य हो सकते है। पर यदि आपको कह दिया जाए कि वायुयान चलाना है तो सम्भवतः आप सब अयोग्य सावित होगे। इसी प्रकार जो वायुयान का चालक है, वह वायुयान चलाने की दृष्टि से योग्य है। पर यदि उसे व्यापार की दृष्टि से परखा जाए तो वह सर्वथा अयोग्य सावित हो सकता है। इसलिए मैंने कहा कि योग्यता और अयोग्यता सदा सापेक्ष होती है। भव्य प्राणी मोक्ष जाने की योग्यता रखते है और अभव्य प्राणी मोक्ष जाने की दृष्टि से अयोग्य होते है। हमे यहां समझना यह है कि भव्य प्राणी कभी भी अभव्य नही वन सकते। यानी वे भव्यत्व के स्वभाव से कभी भी विलग नही होते। इसी प्रकार अभव्य प्राणी भी कभी भव्य नही वनते। यानी उन्हे त्रिकाल मे भी मोक्ष जाने की योग्यता प्राप्त नही होती।

हमारी धर्म सभा मे भव्य प्राणी ही आते होगे, क्योकि अभव्य यहां आकर करें भी क्या ? वास्तव मे धर्म और अध्यात्म के प्रति उन्हे ही अभिरुचि हो सकती है, जो मोक्षगमन की योग्यता रखते हैं। फिर भी अभव्य प्राणियो के आने की सर्वथा नास्ति नही है। पर तीर्थङ्करो की सभा मे कोई अभव्य प्राणी आ ही नही सकता। यह अनादिकालीन परम्परा है।

पूछा जा सकता है, भव्यत्व किस कर्म का क्षयोपशम है और अभव्यत्व किस कर्म का उदय है ? भव्यत्व और अभव्यत्व कर्मजन्य नही है। इसलिए भव्यत्व किसी कर्म का क्षयोपशम नही और अभव्यत्व किसी कर्म का उदय नही। यह अनादि परिणमन (प्राकृतिक स्थिति) है। इसे हम त्रिकाल मे भी वदल नही सकते। हमारी बात तो छोटी है, तीर्थङ्करदेव भी इस स्थिति को वदलने मे असक्षम है।

पूछा जा सकता है कि भव्य और अभव्य प्राणियो की अवस्था मे परिवर्तन होता है या नही ? परिवर्तन तो होता ही है। आज जो एक भव्य प्राणी एकेन्द्रिय है, वह कभी द्वीन्द्रिय वन सकता है, फिर कभी पचेन्द्रिय वन सकता है····इसी प्रकार अभव्य प्राणी की अवस्थाओ मे भी नाना परिवर्तन होते रहते है। आप सुनकर आश्चर्य करेंगे कि अभव्य प्राणी मुनि, उपाध्याय

और आचार्य भी बन सकता है। पर वह होगा द्रव्य मुनि, द्रव्य उपाध्याय और द्रव्य आचार्य ही। भाव साधुत्व उसमे कभी नही आ सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तन सभी प्राणियो मे होता है, चाहे वे भव्य हों या अभव्य। केवल भव्यत्व और अभव्यत्व की दृष्टि से उनमे कोई परिवर्तन नही होता।

बन्धुओ! परिवर्तन का यह सिद्धांत शाश्वत और महत्त्वपूर्ण है। यदि परिवर्तन न हो तो ससार का कोई भी पदार्थ टिक नही सकता। दूसरे शब्दो में इस संसार का भी कोई अस्तित्व नही रहेगा। पर आप निश्चिन्त रहे, ऐसा कभी त्रिकाल मे भी संभव नही है। परिवर्तन का क्रम हर पदार्थ मे अनवरत चालू रहता है। इस सिद्धात को आप गहराई से समझें। मेरा विश्वास है कि यदि आप इस सिद्धांत को गहराई से समझ लेंगे तो फिर प्रतिदिन होनेवाले परिवर्तन को देखकर कभी घबराएगे नही। कठिन-से-कठिन परिस्थिति को भी जीवन की अनिवार्यता समझकर हसते-हंसते पार कर जाएगे।

गगाशहर
१ सितम्बर, १९७८

परिशिष्ट

शब्दानुक्रम : विषयानुक्रम

ध

न

प

श

ष

स

ह

नामानुक्रम

नामा

पारिभाषिक शब्दकोष

अंतर्मुहूर्त—दो समय से लेकर एक मुहूर्त में एक समय कम तक का सारा काल-मान अन्तर्मुहूर्त कहलाता है। देखें—समय, मुहूर्त।

अध्यवसाय—चेतना का सूक्ष्म स्तर।

अनन्तानुबंधी—जिसके उदयकाल मे व्यक्ति को सम्यग्दर्शन न हो सके, वह मोहकर्म।

अनवस्था दोष—अप्रामाणिक नए-नए धर्मो की ऐसी कल्पनाएं करना, जिनका कही अन्त न आए। जैसे—जीव की गति के लिए गतिमान वायु की, उसकी गति के लिए किसी दूसरे गतिमान पदार्थ की, उसके लिए फिर तीसरे गतिमान पदार्थ की कल्पना करना। इस प्रकार चलते चले, आखिर हाथ कुछ न लगे—निर्णय कुछ भी न हो, वह अनवस्था दोष है।

अप्रमाद—अध्यात्म में उत्साह, जागरूकता।

अमनस्क—भूत, भविष्य एवं वर्तमानकाल सम्बन्धी विचार-विमर्श करने वाली सज्ञा से रहित प्राणी—मन-रहित प्राणी।

अयोगीकेवली—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति मात्र का निरोध करनेवाला केवली। देखें—केवली।

अर्धपुष्कर—सोलह लाख योजन विसकम्भ (व्यास) वाला द्वीप, जो कालोदधि समुद्र के बाद मे है, वह पुष्कर है। उसका आधा हिस्सा अर्धपुष्कर है। देखें—कालोदधि।

अवसर्पिणी—अवनतिकाल—सुख से दुःख की ओर जाने वाला काल। काल-चक्र का पहला चक्र। इसका कालमान दस क्रोड़ाक्रोड़ सागर का होता है। इसके छह विभाग (अर) होते है—१. एकान्त सुखमय। २. सुखमय। ३. सुखदुख मय ४. दुःखसुखमय ५. दु.खमय ६. एकान्त दुःखमय। देखें—उत्सर्पिणी, क्रोड़ाक्रोड़, सागर।

अविरति—अत्यागवृत्ति।

अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थान—चौथा गुणस्थान, जहां पर प्राणी को सम्यग्-दृष्टि की प्राप्ति हो जाती है, पर व्रत (सयम) का सर्वथा अभाव होता है। देखें—गुणस्थान।

आवलिका—सर्व-सूक्ष्मकाल को समय कहते हैं। ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है। एक मुहूर्त में १,६७,७७,२१६ आवलिकाएं होती हैं। देखें—मुहूर्त।

उत्सर्पिणी—विकास-काल—दु ख से सुख की ओर जानेवाला काल—काल-चक्र का दूसरा चक्र। इसका कालमान दस क्रोडाक्रोड सागर का होता है। इसके छह विभाग (अर) है—१. एकात दुःखमय २. दुःखमय ३. दुःखसुखमय ४. सुखदु खमय ५. सुखमय ६. एकान्त-सुखमय। देखें—अवसर्पिणी, क्रोडाक्रोड़, सागर।

कर्म—आत्मा की शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट पुद्गल।

कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ से रंजित आत्म-परिणाम।

कालचक्र—एक उत्सर्पिणी और एक अवसर्पिणी का एक कालचक्र होता है। इसकी काल अवधि बीस क्रोड़ाक्रोड़ सागर वर्ष होती है। देखें—अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, क्रोड़ाक्रोड, सागर।

कालोदधि— धातकीखंड से आगे, उससे दुगुना विसकम्भ (व्यास) वाला समुद्र। देखें—धातकीखड।

केवलिसमुद्घात—केवलज्ञानी के वेदनीय कर्म अधिक हो और आयुष्य कर्म कम हो, तब दोनों को समान करने के लिए स्वाभावतः आत्म-प्रदेश समूचे लोक मे फैलते हैं। यह केवलिसमुद्घात कहलाता है।

केवली—सम्पूर्ण निरावण ज्ञान—सर्वज्ञता—केवलज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति।

क्रोड़ाक्रोड़—१००००००० × १००००००० = १०००००००००००००० वर्ष।

क्षयोपशम—उदयावलिका मे प्रविष्ट घातिकर्म का क्षय और उदय मे न आए हुए घानिकर्म का उपशम अर्थात् विपाकरूप मे उदय नही होता है, उसे क्षयोपशम कहते हैं। वह उपशम क्षय के द्वारा उपलक्षित है, अतएव क्षयोपशम कहलाता है। देखे—घातिकर्म (घात्यकर्म)।

गति—नाम कर्म की एक प्रकृति, जिसके उदय से प्राणी ससार मे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव रूप मे जन्म धारण करता है।

गुणस्थान—आत्मा की क्रमिक विशुद्धि को गुणस्थान कहते है। गुणस्थान चवदह हैं—१. मिथ्यादृष्टि २. सास्वादनसम्यग्दृष्टि ३. मिश्रदृष्टि ४. अविरतसम्यग्दृष्टि ५. देशविरत ६. प्रमत्तसयत ७. अप्रमत्तसयत ८. निवृत्तिवादर ९. अनिवृत्तिवादर १० सूक्ष्मसपराय ११. उपशान्त-मोह १२. क्षीणमोह १३. सयोगीकेवली १४. अयोगीकेवली।

घात्य कर्म—आत्मा के मूल गुणो की घात करने वाले, उन्हे विकृत करने वाले कर्म। वे चार है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। सघन प्रयत्न से ही इनको नष्ट किया जा सकता है। इसलिए इन्हे घनघाती कर्म भी कहते है।

चारित्र—महाव्रत आदि धर्मों का आचरण करना चारित्र है।

चारित्रमोहनीयकर्म—मोहनीयकर्म की वह अवस्था, जो आत्मा के चारित्र गुण को विकृत करती है।

छद्मस्थ—जो केवली नही है। देखें, केवली।

जम्बू द्वीप—एक लाख योजन विसकम्भ (व्यास) वाला द्वीप, जो सभी द्वीप-समुद्रो के मध्य मे है।

जाति—इन्द्रियो की अपेक्षा से किया जाने वाला जीवो का वर्गीकरण।

तिर्यंच गति—एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के सारे प्राणी तथा पशु-पक्षी आदि पचेन्द्रिय प्राणी।

तीर्थंकर— ० धर्मचक्र प्रवर्तक।

० साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थों के संस्थापक।

त्रस जीव—हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के निमित्त गमनागमन करनेवाले जीव त्रस कहलाते है।

दर्शनमोहनीयकर्म—मोहनीयकर्म की वह अवस्था, जो आत्मा के श्रद्धा (दर्शन) गुण को विकृत करती है।

धातकीखड—चार लाख विसकम्भ वाला द्वीप, जो लवणसमुद्र के बाद मे है। देखे—लवणसमुद्र।

निरवद्य—पापरहित।

निर्जरा—० पूर्व सचित कर्मो का टूटना।

० कर्मो को तोड़ने के लिए किया जाने वाला तप।

पल्योपम—सख्या से ऊपर का काल—असख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोस का लम्बा-चौडा और गहरा कुआं है। उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशो को, जो मनुष्य के केश से ४०९६ हिस्से जितने सूक्ष्म होते है, असख्य खड कर ठूंस ठूस करके भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केशखड निकलते-निकलते जितने काल मे वह कुआ खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहते है।

पाप—अशुभ कर्मो का उदय।

पुण्य—शुभ कर्मो का उदय।

पुद्गलपरावर्तन—अनन्त कालचक्र का एक पुद्गलपरावर्तन होता है। देखे—कालचक्र।

प्रदेशोदय—कर्म जब उदय अवस्था को प्राप्त होता है, तो पहले प्रदेशोदय होता है, फिर विपाकोदय। प्रदेशोदय मे कर्म का नाम मात्र उदय होता है। उसका फल तो विपाकोदय मे ही मिलता है। देखे—विपाकोदय।

प्रमाद—संयम के प्रति अनुत्साह, अजागरूकता।

प्रायश्चित्त—दोष-विशुद्धि के लिए किया जाने वाला अनुष्ठान।

प्रासुक—निर्जीव।

बंध— ० आत्मा और कर्म-पुद्गलों का संबंध।
० आत्मा द्वारा कर्म-पुद्गलो का सग्रहण।

बादर जीव—स्थूल जीव—वे जीव, जो इन्द्रियगम्य वन सके।

भवोपग्राही कर्म—केवली हो जाने के पश्चात् अवशिष्ट रहने वाले चार अघात्य कर्म, जो उस भव के अन्त मे क्षय हो जाते है। देखे—केवली।

मनुष्य लोक—ढाई-द्वीप, जिसमे जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखड, कालोदधि और अर्धपुष्कर का समावेश होता है। देखे—जम्बु द्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखड, कालोदधि एव अर्धपुष्कर।

मिथ्यात्वमोहनीयकर्म—दर्शनमोहनीय कर्म की एक प्रकृति, जिसके उदय से व्यक्ति मिथ्यात्व को प्राप्त होता है।

मिश्रमोहनीय कर्म—दर्शनमोहनीय कर्म की एक प्रकृति, जिसके उदय से व्यक्ति मिश्रदृष्टि को प्राप्त होता है।

मुहूर्त—४८ मिनट का कालखड।

मोक्ष—कर्म का सर्वथा क्षय होने पर आत्म-स्वरूप की उपलब्धि।

यथाख्यात चारित्र—वीतराग का चारित्र। देखे—वीतराग।

योग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति।

योजन—दूरी मापने का प्राचीनकालीन माप। सामान्यतः एक योजन के आठ मील होते है। पर जो शाश्वतकालीन क्षेत्र आते है, उनके माप सामान्य से १००० गुने होते है। अत. इस सदर्भ मे १ योजन=८०० मील होता है।

लवणोदधि—जम्बूद्वीप के वाद, उससे दुगुना विसकम्भ (व्यास) वाला समुद्र। देखे—जम्बूद्वीप।

विपाकोदय—जव कर्म उदय मे आते है (अर्थात् भोगे जाते है), तव वे दो प्रकार से उदय मे आते है—पहले प्रदेशोदय अर्थात् सत्ता (अबाधा काल) की समाप्ति पर कर्मो का आत्म-प्रदेशो मे भोगा जाना। उसके पश्चात् वे विपाकोदय मे होते है, जिसमे वे अपना फल देते है। विशेष पुरुषार्थ के द्वारा विपाकोदय न होने दिया जाए, तो विना फल-भुक्ति भी आत्मा कर्म से मुक्त हो जाती है। क्षयोपशम मे भी यही प्रक्रिया होती है। देखे—क्षयोपशम।

वीतराग—राग-द्वेष से मुक्त आत्मा।

शुभयोग—मन, वचन और काया की सत्प्रवृत्ति।

संज्ञी—देखें—समनस्क ।

संयम—देखें—चारित्र ।

संवर—कर्म का निरोध करनेवाली आत्मा की अवस्था ।

समनस्क—भूत, भविष्य और वर्तमानकाल सम्बन्धी विचार-विमर्श करने वाली संज्ञा से सम्पन्न प्राणी—मन-सहित प्राणी ।

समय—काल का अविभाज्य अंश, सूक्ष्मतम इकाई ।

समवसरण—तीर्थंकर का प्रवचन मडप ।

समुद्घात—वेदना आदि मे तन्मय होकर आत्म-प्रदेशों के इधर-उधर प्रक्षेप करने को समुद्घात कहते हैं। समुद्घात के सात प्रकार है—१. वेदना २. कषाय ३. मारणान्तिक ४. वैक्रिय ५. आहारक ६. तैजस ७. केवली ।

सम्यक्त्वमोहनीयकर्म—दर्शनमोहनीयकर्म की एक प्रकृति, जिसके उदय से व्यक्ति क्षायिक सम्यक्त्व से वंचित रहता है ।

सयोगीकेवली—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से युक्त केवली । देखें—केवली ।

सागर—देखे—पृष्ठ ८६ ।

सावद्य—पापमय ।

सिद्धशिला—लोकान्त का वह भाग, जहां सिद्ध स्थित हैं।

सूक्ष्मप्राणी—इन्द्रियों के द्वारा जिनके अस्तित्व नही जाना जा सकता, वे प्राणी ।

स्थावर जीव—हित की प्रवृत्ति एवं अहित की निवृत्ति के निमित्त गमनागमन करने की शक्ति से रहित प्राणी ।

प्रेरक वचन

- धर्म सप्रदाय की चौखट में नही समाता। (१)
- धर्म आत्मा है, सम्प्रदाय शरीर। जिस प्रकार आत्मा शरीर मे रहती है, उसी प्रकार धर्म सम्प्रदाय मे रहता है। जिस प्रकार आत्मा-विहीन शरीर का संसार मे कोई अस्तित्व नही, उसी प्रकार धर्म के विना सम्प्रदाय की मूल्यवत्ता ही क्या ? (२)
- एक सम्प्रदाय को स्वीकार करने का तात्पर्य यह कदापि नही कि व्यक्ति दूसरे-दूसरे सम्प्रदायों के सत्य के प्रति आंखे मूंद ले। वस्तुतः सत्य/ज्ञान अनन्त है। वह किसी सम्प्रदायविशेष की वपौती नही है। हमारा काम है, जहां भी सत्य मिले, उसे सहर्ष ग्रहण करें। (२)
- जो सम्प्रदाय परस्पर लडते-झगड़ते हैं, उन्हे धर्म-सम्प्राय कहलाने का अधिकार नही मिलना चाहिए। (३)
- जहां सत्यग्राही दृष्टिकोण होता है, वहां भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय होकर भी उनमे परस्पर कोई वैमनस्य नही होता। पर जहां दृष्टिकोण साम्प्रदायिक होता है, वहा सत्य की हत्या हो जाती है और अपने-अपने अह का पोषण होने लगता है। इसकी परिणति होती है—टकराव। (३)
- मन्दिर में जाने या न जाने से धर्म का कोई सीधा सम्बन्ध नही है। धर्म तो आत्मा का तत्त्व है। वह मन्दिर मे भी किया जा सकता है, घर व दुकान में भी किया सकता है। इसके विपरीत यदि कोई न करे, तो घर पर भी नही कर सकता, मन्दिर मे भी नही कर सकता। (४)
- विधवा और सुहागिन का उतना महत्त्व नही, जितना कि जीवन की पवित्रता एवं धर्माराधान का है। (१७)
- जब तक समाज कुरूढियों एवं अन्धविश्वासो से मुक्त नही होता, तब तक उसका विकास असंभव है। (१८)

- दूसरों के दुःख को अपना दुःख समझो। जब तक ऐसा नही होगा, तब तक दूसरों को दु:ख न देने की वात को समझना कठिन ही नही, असम्भव भी है। (२५)
- दूसरो को दिया जानेवाला दु:ख स्वय का ही दु:ख बनता है। दूसरों को पहुचाई गई पीडा स्वय की ही पीड़ा बनती है। (२६)
- मनुष्य जाति के लिए सचमुच यह अत्यन्त गौरव की बात होती, यदि वह पराए दु:ख को अपना दु.ख समझना सीख जाती। (२६)
- अहिंसा व मैत्री ही धर्म की बुनियाद है। इसके बिना धर्म कहीं टिक नही सकता। (२६)
- यह बहुत महत्त्व की बात नहीं कि किस धर्म मे कितनी ऊची-ऊची बाते कही गई है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धर्म के उन आदर्शो को जीवन मे कहा तक उतारा जाता है। यदि व्यक्ति के जीवन-व्यवहार मे अपने धर्म के ऊचे-ऊचे आदर्श नही आए तो केवल उन आदर्शो के आधार पर अपने धर्म का गौरव गाना बहुत मूल्यवान् नही है। (२६)
- किसी दूसरे को शत्रु समझो ही मत। शत्रु या मित्र तुम्हारी स्वयं की आत्मा ही है। (२८)
- धर्मगुरुओं का कार्य केवल ऊचे-ऊचे आदर्शों का गुणगान करना और उनके आधार पर अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ साबित करने का प्रयास करना नही, अपितु उन आदर्शो के साचे मे अनुयायिओ को ढालना है। (२८)
- धर्म का जितना नुकसान तथाकथित धार्मिकों द्वारा हुआ है, उतना अधार्मिको व नास्तिको के द्वारा नही हुआ। (२८)
- कोई किसी को सुखी बना सके, यह किसी के हाथ की बात नही। संभाव्य यही है कि कोई किसी को दु.खी न बनाए।
- कोई किसी को जिला सके, यह सर्वथा असम्भव बात है। पर कोई किसी को मारे नही, यह अहिंसा और मैत्री का व्यावहारिक एवं सम्भावित रूप है। (३०)
- दूसरो को दु:ख न देना ही सुख-प्राप्ति का एक मात्र मार्ग है।(३०)
- धर्मक्षेत्र मे वितडावाद/लड़ाई-झगडे को कोई स्थान नही है। वहा तो एकमात्र हृदय-परिवर्तन का मार्ग ही मान्य है। (३७)
- धर्म के नाम पर कही भी किसी प्रकार का सघर्ष होता है तो वह समूचे धार्मिक जगत् के लिए बहुत बड़ा कलक सिद्ध होता है। (३७)
- विरोधी विचारो को सुनकर विवाद करना या सघर्ष करना कभी भी श्रेयस्कर नही हो सकता। (३७)

- हमारे सुख-दुःख, अनुकूलता-प्रतिकूलता मे ईश्वर को वीच में लाना उचित नही है। (४०)
- हम दुःख नही चाहते हैं तो हमे सुख-सुविधा को छोडना होगा। सुख से दुःख जुडा हुआ है। सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे सुख का क्रम उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार रात के पीछे दिन और दिन के पीछे रात। (४१)
- जो व्यक्ति प्रतिस्रोत मे वहने की तैयारी कर लेता है, वह दुःख का पार पा लेता है। (४१)
- अनुकूलता और अनुस्रोत मे तो सभी लोग वहते ही है, पर जो प्रतिकूलता मे, दुःख मे और प्रतिस्रोत मे भी अपनी समता को खडित नही होने देता, वह सचमुच ही महान् है। (४१-४२)
- अनुभवरहित शाब्दिक उपदेश का वहुत मूल्य नही है। (४२)
- दुःख सवके जीवन में आता है पर इतना अवश्य है कि सामान्य आदमी जहा दुःख से घवरा जाता है, अपना सन्तुलन खो वैठता है, वही साधक पुरुष अपने आप को सन्तुलित रखने का प्रयास करता है, हसते-हसते दुःख को लांघ जाता है। (४२)
- साधक को अपनी कमजोरी स्वीकार करने मे कोई सकोच नही होना चाहिए। साधक का अर्थ ही है कि वह अपूर्ण है। यदि अपूर्ण नही हो तो साधना की अपेक्षा ही क्या है? (४२)
- जव तक व्यक्ति सहन करना नही सीखता, उसका निर्माण नही होता। निर्माण उसी का होता है, जो चोट सहन करता है। (४२)
- जीवन-निर्माण के लिए हर व्यक्ति को कडी चोट हसते-हंसते सहन करने का अभ्यास करना चाहिए। (४२-४३)
- शव्दों का प्रयोग करना एक वहुत वड़ी कला है। इसके परिणाम वहुत गहरे होते है। जहां मधुर भाषण से व्यक्ति जन-जन के मन को जीत लेता है, वही कटु शव्दो के प्रयोग के कारण वह अपने दुश्मन या विरोधी खडे कर लेता है। (५१)
- व्यावहारिक जीवन की सफलता का एक वहुत वड़ा और महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मधुर भाषण। (५१)
- जव अमृत देने से काम चलता है, तो किसी को जहर क्यो दिया जाए? जव मधुर शव्दो से काम आसानी से चलता है, फिर कठोर शव्दों का प्रयोग क्यो किया जाए? (५१)
- विचार-भेद किसी से भी हो सकता है। पर विचार-भेद को लेकर किसी पर कटु शव्दो से प्रहार करना मेरी दृष्टि मे कदापि उचित नही है। मै इसमे एक प्रकार की हिंसा का दर्शन करता हू। (५१)

- व्यक्ति का चित्त जितना साफ और सरल होता है, धर्म उतना ही अधिक उसके जीवन में फलीभूत होता है। (६५)
- अगर प्रतिकूलता में व्यक्ति अपना सन्तुलन नही खोता है, तो मानना चाहिए कि उसके जीवन मे धर्म फलित हुआ है। (६६)
- गुस्सा करना अधार्मिकता का द्योतक है। (६६)
- बोलने से शक्ति क्षय होती है। उस क्षरित शक्ति को पुनः संगृहीत करने में मौन सर्वाधिक उपयोगी है। (७३)
- पूरे दिन मे ऐसे बहुत कम प्रसंग आते है, जब बोलना व्यक्ति के लिए आवश्यक होता है। अधिकांश तो व्यक्ति निष्प्रयोजन या बहुत सामान्य प्रयोजन के लिए ही बोलता है। इस तथ्य से अपरिचित होने के कारण लोग अपनी शक्ति का बहुत अपव्यय करते हैं।(७४)
- जिसने अपने श्वास पर नियंत्रण करना सीख लिया, उसने अपने शरीर और मन पर नियत्रण करना सीख लिया। (८१)
- क्रोध पर विजय प्राप्त करने के लिए श्वास-संयम का प्रयोग बहुत उपयोगी है। (८१)
- सभी प्रकार के आंतरिक आवेगों कों शात कनने के लिए श्वास-दर्शन व श्वास-संयम का प्रयोग रामबाण औषध है। (८२)
- जो व्यक्ति काल के प्रति जागरूक हो जाता है, वह फिर करणीय कार्य करने में एक क्षण का भी प्रमाद नही कर सकता। यानी आज करने का कार्य कल के लिए वही व्यक्ति छोड़ सकता है, जो काल के प्रति जागरूक नही है। (८९)
- जो लोग प्रतिदिन धर्मोपदेश सुनते हैं, उनका हृदय परिवर्तित क्यो नही होता! क्यों उनका मानस आर्द्र नही होता! मुझे लगता है कि ऐसे लोग केवल सुनने के लिए ही प्रवचन सुनते है, ग्राहक-बुद्धि से नही। यदि ग्राहक-बुद्धि से एक भी प्रवचन सुन लिया जाए तो उससे व्यक्ति का जीवन रूपांतरित हो सकता है। आर्द्र व वैराग्य भावना से परिपूर्ण हो सकता है। (९३)
- काल को सफल बनाने का एक मात्र मार्ग है—संयम की आराधना, धर्म का आचरण। (९५)
- दूसरी-दूसरी संस्कृतियो से अच्छे संस्कारो को ग्रहण किया जाए, इसका मैं विरोधी नही हू। पर आंख मीच कर अनुकरण की मनोवृत्ति को कदापि उचित नही मानता। (१०८)
- दूसरों की अच्छी बातो को ग्रहण करने का तात्पर्य यह नही कि आप अपने अच्छे सस्कारों को भूल जाएं। (१०८)
- सत्संस्कार जीवन की थाती है। (१०८)

- तपस्या बहुत ऊंचा तत्त्व है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका महत्त्व है ही, शारीरिक स्वास्थ्य की अपेक्षा मे भी यह कम उपयोगी नही है। महीने में यदि दो उपवास होते रहे तो शरीर के पाचन-तंत्र को विश्राम मिलता है। दीर्घ काल तक कार्य करने के लिए यह अत्यावश्यक है। (११३)
- धर्म धार्मिक के जीवन मे ही वास करता है। यदि वह धार्मिक के जीवन मे नही है तो फिर कही भी नही है। (१२०)
- जब तक धर्म धार्मिक के जीवन मे नही आता, तब तक वह मानव समाज का अपेक्षित हित कभी भी नही कर सकता। (१२०)
- जब संसार का प्रत्येक प्राणी/पदार्थ क्रिया करता है, तो मनुष्य निष्क्रिय और निठ्ठला क्यो रहता है ? (१२३)
- अभिमान करना अपूर्णता का प्रतीक है। पूर्णता की स्थिति मे कभी कोई अभिमान नही कर सकता। साप के पास कितना जहर होता है, पर वह कभी भी अपने जहर का प्रदर्शन नही करता। लेकिन बिच्छू, जिसके पास बहुत थोड़ा जहर होता है, अहं करता है। उसका प्रदर्शन करने के लिए अपनी पूंछ ऊंची करके चलता है ! (१५३)
- जिस साधक के जीवन मे यह आत्म-निर्जरा/कर्म-निर्जरा की भावना जितनी प्रबल होती है, उसकी साधना उतनी ही अधिक तेजस्वी बनती है। (१५४)
- मेरे प्रवचन करने का मूलभूत उद्देश्य लोगो को लाभान्वित करना, उनका पथ-दर्शन करना या प्रशंसा पाना नही, अपितु आत्म-निर्जरा ही है। हां, इतना अवश्य है कि मेरी इस आत्म-निर्जरा की प्रवृत्ति का ज्ञान-प्राप्ति के लिए पूरा-पूरा उपयोग होता है तो मुझे सहजरूप से अतिरिक्त प्रसन्नता की अनुभूति होती है। (१५४)
- पाप को छोड़ने का अर्थ है—धर्म का संग्रहण तथा धर्म की स्वीकृति का फलित है—पाप-मुक्ति। (१५५-१५६)
- स्वार्थ को आप बुरा ही क्यों मानते है ? स्वार्थ वही बुरा है, जो दूसरों के हितों को चोट पहुचाता हो। जो स्वार्थ दूसरों के हितों को नही रोकता, वह कभी भी बुरा नही कहा जा सकता। (१५६)
- यह मन की गुलामी ही तो कारण है कि आदमी नाना प्रकार के दुर्व्यसनों मे फंस जाता है। कषाय मे अन्धा बन जाता है। वासना उस पर हावी हो जाती है। (१५७-१५८)

- जिस दिन व्यक्ति अपनी मिल्कियत को जान लेता है, स्वयं को वह यथार्थ रूप मे पहचान लेता है, फिर सभी प्रकार की गुलामियो से मुक्त होते उसे समय नही लगता। (१५९)
- अहकार व्यक्ति के अज्ञान का सूचक है। (१५९)
- ज्ञान अनन्त है। वह दो-चार पुस्तकों के पढने से कदापि प्राप्त होने-वाला नही है। उसके लिए वहुत लम्वी साधना अपेक्षित है।(१६०)
- सवसे पहली अपेक्षा यह है कि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ वने। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ हो जाता है तो फिर उसे वुराई से मुक्त होने मे समय नही लगता। पर जव तक दृष्टिकोण ही अयथार्थ है, तव तक वह विना मजवूरी भी वुराई को पकड़े रहता है। (१६४)
- व्यभिचार पाप है। मदिरा-पान पाप है। मास खाना पाप है। शोषण और व्लेक-मार्केटिंग पाप है।...... पर इन सवसे भी वड़ा पाप है—दृष्टिकोण की अयथार्थता। (१६५)
- यथार्थ दृष्टिकोण का सवसे वडा लाभ यह है कि आज चाहे व्यक्ति मजवूरीवश या दुर्वलतावश बुराई करता है, पर ज्योही उसकी मजवूरी समाप्त हो जाएगी या दुर्वलता मिट जाएगी, वह तत्काल वुराई से मुक्त वन जाएगा। (१६५)
- सव पापों मे मिथ्या दृष्टिकोण को पाप सवसे वड़ा है (१६५)
- जहां गुणग्राही दृष्टि है, वहां सव अच्छे-ही-अच्छे हैं (१६७)
- जहा दोपग्राही दृष्टि है, वहां सव वुरे-ही-वुरे है। (१६७)
- दृष्टिकोण का मिथ्यात्व सचमुच वड़ा खतरनाक है। इस गलत दृष्टिकोण के कारण ही व्यक्ति वड़े-वड़े पाप करता है। (१७०)
- जिस व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् वन जाता है, वह फिर ग्राहको को धोखा नही दे सकता। झूठा तौल-माप नही कर सकता। शोषण व भ्रष्टाचार के सहारे धन का उपार्जन नही कर सकता।.. (१७०)
- जो व्यक्ति सम्यक् दृष्टि को प्राप्त हो जाता है, वह कभी भी दूसरे के गुणों को देखकर ईर्ष्या नही कर सकता। (१७१)
- गुणी के गुणगान करने से भी व्यक्ति वहुत कुछ लाभ प्राप्त कर सकता है। (१७१)
- सही दृष्टिकोणयुक्त ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है।(१७१)
- ग्रन्थ और मन्दिर पूजने की वस्तुएं नही, पूजने की वस्तु है—ज्ञान। पर ज्ञान की पूजा धूप, दीप और चदन से नही हो सकती। उसकी पूजा का तो एकमात्र तरीका यही है कि सच्चे दिल से उसकी आराधना की जाए। (१७९)

- यदि समाज का प्रबुद्ध व चिंतनशील वर्ग थोड़ा गंभीरता से चिंतन कर कुछ ठोस प्रयास करे तो कोई कारण नहीं कि समाज से निरक्षरता जैसी अशोभनीय चीज बहुत जल्दी समाप्त न हो सके। (१८४)
- सुनने का अर्थ यही है कि करणीय कार्य में अपने पुरुषार्थ का नियोजन किया जाए। (१८४)
- साधना की अपरिक्वता मे त्रुटियां होना अस्वाभाविक नही है। पर इसका अर्थ यह नही कि मैं प्रमाद को प्रोत्साहन दे रहा हूं। प्रमाद को मेरा कोई प्रोत्साहन नही है। मेरा प्रोत्साहन तो सदा अप्रमाद को ही है। (१९२-१९३)
- इन्द्रियां स्वयं बुरी नही हैं, बुरी है—मन की वासना/राग-द्वेष। इसलिए यदि बुराई से मुक्त होना है तो इन्द्रियो को निष्क्रिय करने से कोई उद्देश्य फलित नही होगा। उद्देश्य फलित होने का एकमात्र रास्ता है कि व्यक्ति अपने अन्तर् का शोधन करे। अन्तर्-शोधन की प्रक्रिया का नाम है—धर्म। (१९८)
- धर्म मे वह शक्ति है, जो व्यक्ति के अन्तर् को धोकर उसे बिलकुल निर्मल बना सकती है। यदि धर्म मे यह शक्ति न हो, तो फिर उसकी कोई उपयोगिता या उपादेयता भी नही है। (१९८)
- मानव जाति के लम्बे इतिहास मे धर्म को समाप्त करने के अनेकानेक प्रयत्न हुए। पर धर्म कभी समाप्त नही हुआ। हां, धर्म को समाप्त करनेवाले अवश्य धार्मिक बन गए या स्वय समाप्त हो गए।(१९८)
- जब तक धर्म अपने मूलभूत उद्देश्य की पूर्ति करता रहेगा, तब तक अनन्त काल मे भी उसके अस्तित्व को कोई खतरा नही है। (१९९)
- जब स्वय धार्मिक अपने आत्म-गुणों को छोडकर वैभाविक गुणो में चला जाता है, दुराचरण करने लगता है तो स्वय उसका धर्म समाप्त हो जाता है। पर संसार के किसी भी दूसरे व्यक्ति की यह ताकत नही कि वह किसी के धर्म को समाप्त कर सके। (१९९)
- दूसरा व्यक्ति अधिक-से-अधिक कुछ करे तो किसी को पीट सकता है। उसके हाथ-पैर तोड सकता है। उसे गोली से उड़ा सकता है। ....पर उसके आत्म गुणो को छीन सके, यह उसके सामर्थ्य से सर्वथा परे की बात है। (१९९)
- धर्म शाश्वत है, धर्म की उपयोगिता शाश्वत है। ससार की कोई भी हस्ती उसके अस्तित्व को कभी मिटा नही सकती। (१९९)

- साधु बनने का अर्थ केवल साधु वेप धारण करना नही है। यह तो साधु का ऊपरी चिह्न है। हालांकि इसका भी कई दृष्टियो से महत्त्व है। पर निश्चय दृष्टि से तो साधुत्व का सम्बन्ध अन्तर् के भावो से है। जिस दिन अन्तर् मे साधुवृत्ति आ जाती है, उस दिन निश्चय नय की दृष्टि से साधुत्व आ जाता है, भले व्यक्ति का ऊपरी वेप गृहस्थ का भी क्यों न हो। (२००)
- भय की स्थिति बड़ी विचित्र होती है। लोग कहते है, भूत खाते हैं। पर मुझे तो लगता है कि लोगो को भूत नही, उनका स्वयं का भय ही खाता है। (२०३)
- व्यक्ति सबसे पहले अपनी दृष्टि को सम्यक् बनाए। सम्यग्दृष्टि होने के बाद ही वह ज्ञान-प्राप्ति का सच्चा अधिकारी बनता है। (२०६)
- न इन्द्रियां बुरी है, न इन्द्रियो के विपय बुरे है और न इन्द्रियों के विषयो का ज्ञान ही बुरा है। बुरी है—मन की वासना या आसक्ति। (२२०-२२१)
- क्या सचमुच नारी बुरी है ? क्या वास्तव में ही वह वैतरणी, नरक की कुण्डी या राक्षसणी है ? यदि 'हां' तो फिर पुरुप नरक का कुण्ड क्यो नही ? राक्षस क्यों नही ? नारी को नरक का द्वार या राक्षसणी मानेंगे तो पुरुप को भी नरक का द्वार और राक्षस मानना होगा। (२२१)
- न स्त्री बुरी है और न पुरुप बुरा है। न स्त्री राक्षसणी है और न पुरुष राक्षस है। न स्त्री किसी को दास बनाती है, नाच नचाती है और न पुरुप किसी को दासी बनाता है, नाच नचाता है। ये सब खेल मन के हैं। मन के विकार के है। वही राक्षस है। वही राक्षसणी है। उसके कारण ही व्यक्ति, चाहे वह स्त्री हो या पुरुप, नाना प्रकार की बुराइयो एवं दुष्प्रवृत्तियो का शिकार बनता है। (२२२)
- मन की वासना का दोष स्त्रियो पर आरोपित करना स्त्री जाति का अपमान है। स्त्रियां हमारी माताए है। उनको तिरस्कृत और अपमानित करना सभ्य समाज के लिए शोभनीय नही है। (२२२)
- मन की वासना को जीतने का एकमात्र तरीका यही है कि व्यक्ति बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बने। (२२२)
- धर्म व्यक्ति को अन्तर्मुखी बनाने की प्रक्रिया है। (२२२)
- दुर्जन बुराई करना नहीं छोड़ता तो सज्जन भी अपनी सज्जनता क्यों छोड़े ? (२२५)

- हमारा काम अच्छाई का संयोजन करना है, बुराई को हम क्यों देखें ? (२२६)
- यदि हमारा मन हमारे नियंत्रण में है तो फिर वह चलता हुआ भी हमारा अहित नही कर सकता। अहित तभी होता है, जब वह हमारे नियंत्रण से बाहर होता है। (२२८-२२९)
- आप अपने श्वास की गति को नियंत्रित करना सीखें। श्वास की गति पर नियंत्रण का अर्थ है—एक भी श्वास आपकी बिना जानकारी के न अन्दर जाए और न बाहर आए। जिस दिन आपने यह कला सीख ली, मानना चाहिए, उस दिन आपने मन को नियत्रण में करने की कला सीख ली। (२२९)
- परीक्षा सदा धार्मिकों, धीरो और वीरों की होती है। अधार्मिको, अधीरो और कायर-कमजोरो की कैसी परीक्षा ! कैसी कसौटी !! क्या आपने कभी काच और कोयले को कसौटी पर चढ़ते देखा है ? कसौटी पर तो हीरा या हेम ही चढ़ सकता है। (२४१)
- अनुकूलता मे शात रहना कोई बड़ी बात नही है, बडी बात तब है, जब मन के प्रतिकूल परिस्थिति पैदा होने पर भी व्यक्ति शात बना रहे। (२४३)
- समता ही हमे अपनी मंजिल तक पहुंचाने वाला सही राजपथ है। (२४४)
- राजपथ को प्राप्त करके भी जो व्यक्ति कटकाकीर्ण और टेढी-मेढ़ी पगडडियो मे भटक जाता है, वह अपनी मजिल तक नही पहुच पाता। (२४४)
- औदयिक भाव का निरोध ही हमारी समग्र साधना-पद्धति का चरम ध्येय है। (२५१)
- अच्छी-से-अच्छी वस्तु भी गलत उपयोग से मनुष्य के लिए अहित-कारी सिद्ध होती है। विकास के जितने साधन है, वे ही ह्रास के साधन भी बन जाते हैं, जब उनका असम्यक् प्रयोग किया जाता है। (२५२)
- पुण्योदय से धन, संपत्ति, संतान आदि भौतिक सुख-सुविधाए प्राप्त हो सकती है, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि तत्त्व पुण्योदय से कभी भी प्राप्त नही हो सकते। ये सब चीजे तो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम एव क्षय से ही उपलब्ध हो सकती है। (२५३)

- व्यक्ति को आशा उतनी ही करनी चाहिए, जितनी संभव हो। अति आशा का परिणाम कभी सुखद नहीं होता। अप्रत्यक्ष रूप से वह निराशा को ही आमंत्रण है। (२५६)
- उपदेश देनेवाला उपदेश दे सकता है, रास्ता बता सकता है, पर किसी को जबरदस्ती धार्मिक नही बना सकता। (२५७)
- महापुरुष का मुख्य उद्देश्य अपने कर्त्तव्य का पालन करना होता है। संसार का सुधरना या न सुधरना उनकी सफलता और असफलता की कसौटी नही है। (२५७)
- सीढियां ऊपर चढ़ने मे तभी सहयोगी बनती हैं, जब व्यक्ति स्वय ऊपर जाने को तैयार हो। जो स्वयं ऊपर चढ़ने को तैयार नही, उसके लिए सीढिया कुछ भी नही कर सकती। (२५७)
- उत्थान और पतन दोनों का उपादान कारण व्यक्ति स्वयं ही है। दूसरे तो मात्र निमित्त बनते हैं। (२५७)